प्रेमचन्द स्मृति अंक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक 27 (भाग 2) एवं 28 (भाग 1) वर्ष 1982

प्रकाशित होगी : प्रथम अंक
के पर्व ।

हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका,

...लय के छात्रों एवं अध्यापकों के
: द्वितीय अंक के लिए 20 नवम्बर
मंडल के पास क्रम से 30 जुलाई
...ए ।

...टंकित होना चाहिए और सामान्यतः 10
...चाहिए । लेखकों को उनके लेक की रिप्रिन्ट्स
...जायेंगी ।

...shall, so far as possible, be published twice
...issue immediately after the Dipawali, the
...diately before the Holi.

...ons should be sent to the Editor, "Prajna",
B. H. U. Jo...al, Varanasi-221005.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Articles should ordinarily be type-written on foolscape paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 50 off-prints gratis.

———

प्रेमचन्द स्मृति अंक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक 27 (भाग 2) एवं 28 (भाग 1)

संयुक्तांक

वर्ष—1982

मूल्य—अठारह रुपये

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना
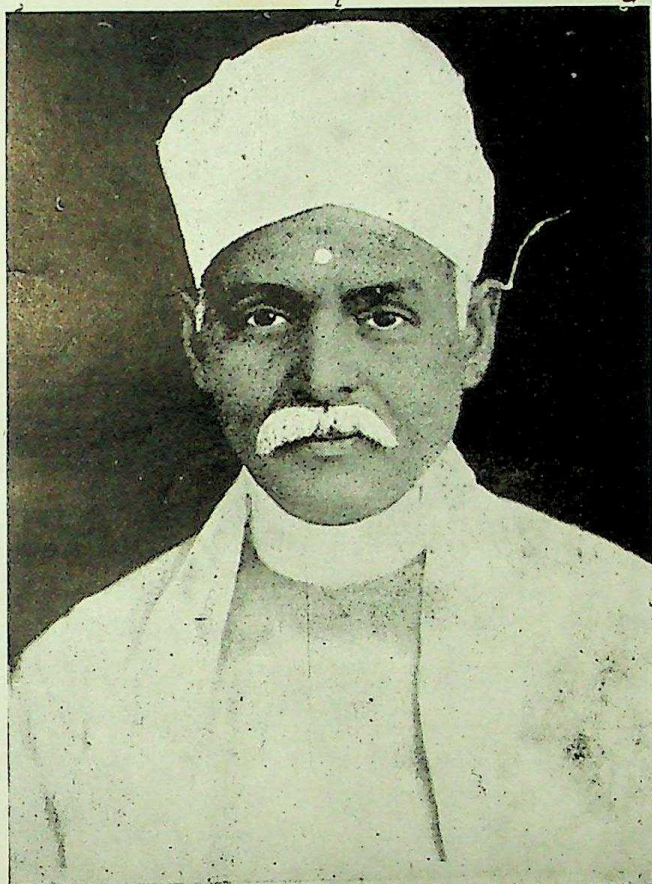
राम भक्त अब अमिय अघाहू ।
कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू ।।

आविर्भाव	तिरोधान
वि० सं० १९१८ पौष कृष्ण ८	वि० सं० २००३ मार्गशीर्ष कृष्ण ४
२५ दिसम्बर १८६१ ई०	१२ नवम्बर १९४६ ई०

—पुण्य स्मरण

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार प्रेमचन्द मूलतः ग्रामीण थे। भारतीय गाँवों की अनेकमुखी व्यथा को उन्होंने अपनी कथा के माध्यम से कृती स्पर्श दिया है। दीर्घकालीन पराधीनताजनित नाना कुरीतियों और अभिशापों से ग्रस्त गाँवों का मानस अपनी शक्ति-सम्भावना से लगभग उतना ही उदासीन हो गया था जितना सुविधाभोगी शहराती लोग गाँवों से उदासीन हो गये थे। प्रेमचन्द ने ठेठ ग्रामीण अन्दाज में गावों के चेहरे-चरित्रों के माध्यम से उन ग्रामीण समस्याओं को, पढ़े-लिखे लोगों के सामने उपस्थित किया, जिनके चलते गाँव सघन अंधकार में डूब गये थे। अपनी कथा-रचना द्वारा उन्होंने ग्रामीण लोगों में विद्या-स्पृहा जगायी, उन्हें स्वत्व-सचेत किया। अपनी लोकोन्मुख राजनीति-साधना द्वारा महात्मा गाँधी ने जो कार्य किया, सामाजिक उन्नयन के लिये प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के माध्यम से उससे कहीं ऊँचे महत्त्व का कार्य किया। गाँधीजी का महत्त्व गाँवों के लोग एक अंश तक समझ रहे थे, किन्तु उनकी अहिंसामूलक राजनीति की महत्ता सबके सामने उद्घाठित नहीं थी। प्रेमचन्द की कहानियाँ व्यापक स्तर पर पढ़ी-समझी जाती थीं और अपने संस्कार के मुताबिक उनसे लोगों को रोशनी भी मिलती थी और संस्कार-निर्माण की प्रेरणा भी। महात्मा गाँधी और प्रेमचन्द का अपने समय में ही पढ़े-लिखे लोगों द्वारा कई कोणों से विरोध भी होता रहा, तथापि दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में शीर्ष महत्त्व के व्यक्ति के रूप में सम्मानित थे।

प्रेमचन्द की विद्या-यात्रा उर्दू भाषा के माध्यम से शुरू हुई थी। कालान्तर में उर्दू को छोड़कर हिन्दी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम उन्होंने शायद इसलिये बनाया कि हिन्दी द्वारा अपेक्षाकृत बड़े वर्ग की सेवा की जा सकती है। बहुजन की हित-चिन्ता ने ही सम्भवतः उर्दू के प्रेमचन्द को हिन्दी से जोड़ा था। उक्त प्रस्थान का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी की समृद्धि का एक पुष्ट आधार तैयार हो गया। निःसन्देह प्रेमचन्द भारतीय गद्य साहित्य की असाधारण उपलब्धि हैं। प्रेमचन्द ने अपनी प्रातिभ साधना से हिन्दी को इतना समृद्ध बनाया है कि वह गर्व से माथा उठाकर चलती है। जैसे रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र ने भिन्न भाषाभाषियों को बांग्ला सीखने के लिये प्रेरित किया वैसे ही प्रेमचन्द के साहित्य ने हिन्दी के प्रति अन्यथा धारणा रखने वालों के हृदय में हिन्दी के प्रति आकर्षण पैदा किया।

प्रेमचन्द के साहित्य पर कई दृष्टियों से कई पीढ़ियों द्वारा विचार होता आ रहा है। कुछ लोगों की दृष्टि में वे आदर्शवादी कथाकार थे, कुछ की दृष्टि में यथार्थवादी। किसी को प्रेमचन्द पर गाँधी-विचार-दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है, किसी को मार्क्स-विचार-दर्शन का। मगर प्रेमचन्द को स्वयं वाद-विवाद से बहुत परहेज था। कुछेक अवसरों पर ही विवश होकर वे विचार-युद्ध में योद्धा के रूप में उतरे थे। उनकी धारणा बहुत साफ थी, जिसे समय-समय पर अपनी लिखावटों और भाषाओं में उन्होंने प्रकट किया था। उनकी धारणा के मुताबिक जीवन के यथार्थ से आँख मूद कर साहित्य रचने वाला साहित्य के नाम पर तमाशा खड़ा करता है और चूँकि साहित्य का आधुनिक पाठक जीवन-दृष्टि की अपेक्षा रखता है, इसलिए कोरे मनोरंजन तथा कल्पना के आधार पर रचित तमाशा से उसका समाधान नहीं हो सकता, साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन से बहुत ऊँचा है।

साथ ही प्रेमचन्द की यह दृढ़ मान्यता थी कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिये। विचारकों की कठिनाई यह है कि साहित्य की उदार मानवीय भूमिका को अपने संकीर्ण नजरिया से देखते-परखते हैं। परिणामतः आदर्श का गुमान लेकर चलनेवालों को यथार्थ जमीन गंदी लगती है और यथार्थ का आग्रही आदर्श से दूर होता जाता है। कथाशिल्पी प्रेमचन्द ने अपनी रचना द्वारा यथार्थ और आदर्श का सहज समन्वय किया है। यथार्थ जीवन की समस्या को नितान्त विश्वसनीय शैली में प्रस्तुत करते प्रेमचन्द ने सर्वत्र आदर्श की ओर इंगित किया है। यथार्थ की दृष्टि से उनकी सर्वाधिक चर्चित रचना "कफन" और "गोदान" में भी एक बड़े आदर्श का अपेक्षाकृत सूक्ष्म संकेत है। विज्ञप्त तथ्य है कि प्रेमचन्द के स्तर की प्रतिभा से जुड़कर हर विचार-वर्ग के लोग अपने वर्ग को समृद्ध बनाना चाहते हैं। जहाँ तक राजनीतिक विचार-दर्शन की सम्पृक्तता-प्रतिबद्धता का प्रश्न है प्रेमचन्द का विचार बहुत खुलासा है कि साहित्यकार राजनीति के पीछे नहीं चलता, उससे कंधा मिलाकर भी नहीं चलता बल्कि साहित्यकार का सत्य सबसे आगे चलता है। कहने वाले प्रेमचन्द को गाँधीवादी और मार्क्सवादी कहते रहें। प्रेमचन्द किसी की राजनीति के पिछलग्गू नहीं थे और न तो उनका साहित्य किसी राजनीति-दर्शन की प्रतिध्वनि है। प्रेमचन्द के साहित्य का सत्य जीवन का सत्य है। उनकी सारी सृष्टि मानवीय संवेदना पर आधारित है। कदाचित् यही कारण है कि वाराणसी जनपद के छोटे गाँव में जन्मे हिन्दी के कथाकार प्रेमचन्द का साहित्य आज दुनिया के कोने–कोने में पहुँच कर अपने सत्य की रोशनी विकीर्ण करने लगा है।

प्रेमचन्द की शताब्दी–जयन्ती पर सारी दुनिया उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण कर रही है। भारतीय विद्या की निकष-स्थली काशी से प्रेमचन्द का अन्तरंग सम्बन्ध रहा है। काशी जनपद के गाँव में प्रेमचन्द का जन्म हुआ था। काशी को गर्व है कि प्रेमचन्द की साहित्य पीढ़ी के तीन शीर्षस्थ हिन्दी साहित्कार—प्रेमचन्द, प्रसाद और आचार्य रामचन्द शुक्ल—की साधना भूमि काशी रही है। इसी नगर में रहते प्रेमचन्द ने अपनी विशिष्ट कहानियाँ और अनेक उपन्यास लिखे। यहीं से उन्होंने "हँस", "मर्यादा" और "जागरण" जैसी हिन्दी की विशिष्ट पत्रिकाओं का सम्पादन किया। अन्ततः यहीं उनकी-यात्रा शेष हुयी। प्रेमचन्द की शताब्दी-जयन्ती के अवसर पर औरों की अपेक्षा काशी का कर्त्तव्य सहज ही अधिक है।

कर्त्तव्य–बोध ने ही "प्रज्ञा" के इस विशेषांक–प्रकाशन की प्रेरणा दी–महान भारतीय कथाकार के उपकार के प्रति कृतज्ञता–ज्ञापन की प्रेरणा। "प्रज्ञा" के विशेषांकों की परम्परा से जुड़ा यह एक सारस्वत प्रयत्न है। हमारे साग्रह अनुरोध पर विभिन्न विचारों के विचारकों ने अपने निबन्ध द्वारा प्रेमचन्द की महत्ता को रेखांकित किया है। उनका सहयोग न मिला होता तो हमारी साध अधूरी रह जाती। हम सहयोगी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। "प्रज्ञा" के इस विशेषांक द्वारा महामना मालवीयजी के विश्व विद्यालय की ओर से प्रेमचन्द के अक्षय साहित्यिक व्यक्तित्व के प्रति हम अपनी प्रणति निवेदित करते हैं।

राममोहन पाण्डेय
सम्पादक

विषय-सूची

हमारे कुलपति

डॉ. इकबाल नारायण

कुलपति
VICE-CHANCELLOR

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००५
Banaras Hindu University
VARANASI—221005

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका 'प्रज्ञा' विश्वविद्यालयीय बौद्धिक चेतना का जीवंत दर्पण है। इस सशक्त प्रकाशन माध्यम द्वारा प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं अध्यापकों के गवेषणापूर्ण विचारों से परिचित होने का लाभ प्राप्त होता है। समय-समय पर विशिष्ट संदर्भों में विशेषांकों के प्रकाशन द्वारा भी इसने वैचारिक धरातल पर सराहनीय भूमिका निभायी है। प्रज्ञा का प्रस्तुत 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' भी इसी परम्परा की एक कड़ी है।

सम्पूर्ण देश में प्रेमचन्द जी का शताब्दी-समारोह विभिन्न रूपों में आयोजित हुआ पर प्रेमचन्द जी का जो आत्मीय सम्बन्ध काशी से रहा है, उस दृष्टि से हमारी जिम्मदारी औरों की अपेक्षा सहज हो बढ़ जाती है। इस गुरुतर दायित्व के निर्वाह का श्रीगणेश प्रेमचन्द व्याख्यानमाला के विविध आयोजन के रूप में पहले ही सम्पन्न हो चुका है। प्रज्ञा के प्रस्तुत विशेषांक द्वारा प्रेमचन्द जी के शताब्दी समारोह की मधुर स्मृति को अक्षुण्ण बनाने एवं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि निवेदित करने का प्रयास किया गया है।

प्रेमचन्द युग प्रवर्तक महामानव थे। दलित, शोषित, पीडित एवं उपेक्षित वर्ग का जितना सजीव चित्रण उनकी रचनाओं में हुआ है, वह विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। इनका कथा साहित्य मानवीय मूल्यों का अक्षय भण्डार है। अपने पात्रों के माध्यम से प्रेमचन्द ने जिस सत्य का उद्‌घाटन किया है वह साम्प्रतिक संदर्भ में भी उतना ही खरा उतरता है। ऐसे युग द्रष्टा, मनीषी-कथाकार के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत अंक में देश के जाने माने विद्या साधकों का सहयोग सम्बल प्राप्त हुआ है, जो प्रेमचन्द जी के प्रति उनकी श्रद्धा का परिचायक तो है ही, साथ ही प्रज्ञा के प्रति उनकी उदार कृपा का द्योतक भी है। विश्वास है विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं सुधी जनों के लिए भी यह सामग्री उपयोगी सिद्ध होगी।

मैं सर्वतोभावेन सतत् प्रवर्द्धनशील विश्वविद्यालयीय गौरव की प्रतीक इस पत्रिका के मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ।

इ 7/8/97

(इकबाल नारायण)

मुन्शी प्रेमचन्द

जन्म–31 जुलाई 1880 निधन–8 अक्टूबर 1936

कलाकार—अविरल श्रीवास्तव
(बी. एफ. ए., द्वितीय वर्ष)

मानसरोवर के हंस
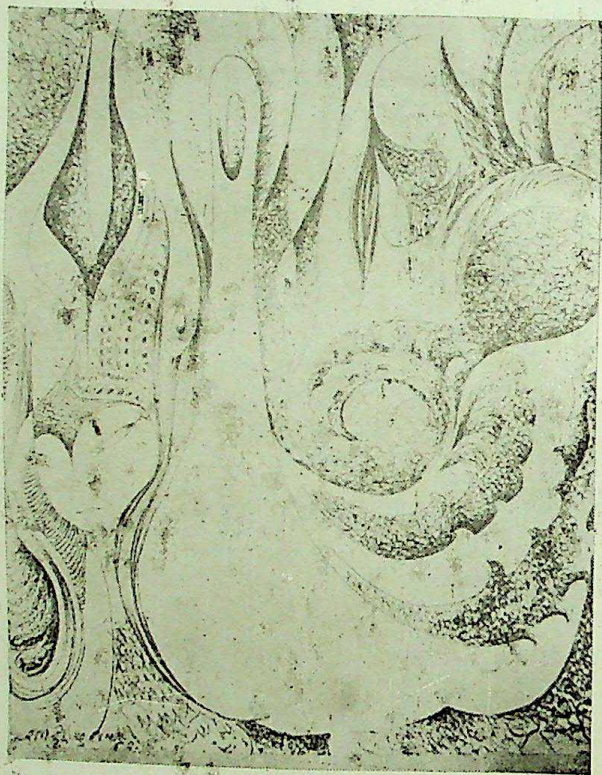
कलाकार रामचन्द्र शुक्ल

स्मृतिशेष प्रेमचन्द

·आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र •

सबसे पहले प्रेमचन्द जी को मैंने तब देखा जब उनकी कृतियों के आरम्भिक प्रकाशक श्री बैजनाथ केडिया को लेकर मैं वाराणसी के पिसनहरिया मुहल्ले में स्थित उनके निवास स्थान पर गया था। उस समय मैं कबीरचौरा मिडिल स्कूल में हिन्दी पढ़ाता था और वहाँ से उनका आवास समीप ही था। केडिया जी सर्वप्रथम उनकी रचनाओं को हिन्दी में पुस्तकाकार प्रकाशित करने का निवेदन करने और उनसे वचन लेने के लिये कलकत्ते से वाराणसी पधारे थे और नीलकण्ठ मुहल्ले के उस कक्ष में ठहरे थे जहां कभी भारत जीवन प्रेस चला करता था। मैं नीलकण्ठ के उस भवन में अपने मामा के साथ रहता था।

केडियाजी को लेकर जब मैं प्रेमचन्द जी के घर पहुँचा तब मेरे बुलाने पर वे लुङ्गी पहने बाहर निकले। मैंने जिज्ञासा की कि मुझे प्रेमचन्द जी से मिलना है। उन्होंने सहज भाव से कहा—'कहिये' मैं नहीं समझ सका कि यही प्रेमचन्द्र जी हैं। मैंने कहा कि मुझे प्रेमचन्दजी से कलकत्ते से आये केडियाजी की भेट करानी है कृपया उन्हें बुला दीजिये। तब उन्होंने स्पष्ट ही कहा—कहिये न मैं ही तो हूँ। जो हिन्दी में कहानियां–उपन्यास लिखने वाला कोई बड़ा लेखक है, वह ऐसी वेशभूषा में होगा इसकी मैंने कल्पना नहीं की थी।

कुछ वर्षों के अनन्तर मैं मिडिल पास कर हरिश्चन्द्र विद्यालय में प्रविष्ट हुआ और वहाँ से भी सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन में पड़कर सर्वश्री लालबहादुर शास्त्री त्रिभुवन नारायण सिंह आदि के साथ पढ़ना छोड़ दिया। पास ही कम्पनी बाग के बगल में चलने वाले हिन्दी साहित्य विद्यालय की प्रथमा कक्षा में नाम लिखा लिया। वहाँ मेरे साथ जो दो साथी पढ़ते थे वे प्रेमचन्द जी के सरस्वती प्रेस में आगे चलकर काम करने लगे। उस समय वह प्रेस गोरखनाथ के टीले पर हरिश्चन्द्र विद्यालय के समीप ही स्थित था। प्रेमचन्द जी उस के बाहरी छायादार बरामदे में बैठते थे और वहीं बैठे-बैठे कहानियाँ आदि लिखा करते, और साथ ही प्रेस की देख रेख भी किया करते। मेरे मित्र गुरुराम विश्वकर्मा ने मुझे उनसे एक दिन मिलाया। कुशल-प्रणाम के अनन्तर मैंने पहली भेट की चर्चा की तो उन्होंने मुझे पहचानने का प्रयास करते हुये स्वीकारात्मक उत्तर दिया कि हाँ हमें याद आ गया। कहिये अब क्या करते हैं? मैंने उन्हें बता दिया कि विश्वकर्मा जी के साथ उस सामने वाले भवन में 'रात में' प्रथमा कक्षा में हिन्दी का अध्ययन करता हूँ। फिर मैंने ही कुतूहलपूर्वक उनसे पूछा कि सामने सड़क पर गाड़ियों का कोलाहल आपको कहानियाँ लिखने में बाधा नहीं पहुँचाता। उन्होंने उत्तर दिया कि जब मैं लिखने में लग जाता हूँ तब न तो मुझे कुछ सुनायी ही पड़ता है और न मैं कुछ और देख ही पाता हूँ। मेरी समझ में आ गया कि बिना समाधि में लीन हुये कोई रचनाकार महान नहीं हो सकता।

• सामानिक आचार्य
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

तीसरी बार उनसे भेट करने का सुअवसर तब आया जब ७-८ वर्षो बाद काशी में नवयुवकों ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में शिवा बावनी के पाठ्यक्रम से निकाल देने पर काशी में समीक्षा संसद नामक संस्था की स्थापना की। उसके सभापति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मनोनीत हुये उपसभापति—सर्वश्री प्रेमचन्द और रामचन्द्रवर्मा बनाये गये तथा मैं उसका मन्त्री नियुक्त किया गया। शुक्लजी तो बैठकों में नही आ पाते थे, पर प्रेमचन्दजी निश्चय ही आते थे। उनपर पूरा भरोसा रहता था। बैठकें होती थीं—नन्दन साहु गली के श्री रामरत्न पुस्तक भवन में। एक बैठक में वे कुछ पहले ही आ गये थे। मैंने उनसे बातों-बातों में पूछा कि कहानी, उपन्यास को बहुधा लोग मनोरंजन मात्र की रचना मानते हैं। क्या आपका भी यही अभिमत है? इसपर उन्होंने विस्तार से चर्चा की। जिसका सारांश यह था कि प्रेमचन्द जी मनोरञ्जन को कथा सृष्टि में गौण मानते थे। यदि किसी कहानी के पढ़ने से केवल मनोरञ्जन ही हो तो उसे वे ऊँची साहित्य सर्जना नहीं मानते थे। उनके विचार से जो कथा मन का मैल न छाँटे उसकी गणना साहित्य में नहीं होनी चाहिये। चौथी बार उनसे भेंट तब हुयी जब वे रोग शय्या पर पड़े हुये थे और गोदान प्रकाशित हो चुका था! समीक्षा संसद का मन्त्री भी उनकी दृष्टि में बड़ा समीक्षक समझा गया था। अतः उन्होने क्षीण स्वर में मुझसे पूछा—गोदान पढ़ा कैसा लगा? मैंने मन ही मन संकल्प किया कि इसपर अवश्य कुछ लिखूंगा। दूसरे ही दिन उस पर लिखना आरम्भ कर दिया। पर हा हन्त! तीसरे दिन सुना कि उनका देहावसान हो गया।

मैंने प्रेमचन्द की कहानियों पर आलोचना पुस्तक लिखने का विचार उनकी जीवितावस्था में स्वतः किया था। पर परिस्थितियों वश कुछ भी नहीं लिख पाया। फिर इस कार्य को मैंने अपने शिष्य डा० श्रीपति शर्मा को सौंप दिया। केवल उसकी भूमिका मैंने लिख दी।

प्रेमचन्द जी मेरे विचार से आधुनिक गद्य के कथाकार के रूप में भारतीकण्ठ तुलसीदास ही सरीखे थे। भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में वैसी ही हुयी है। अन्तर मध्यकाल और आधुनिक काल का है। सम्प्रति आलोचना करते हुये आलोचक जब किसी रचनाकार को राजनीतिक या सामाजिक नवीन वादों का प्रचारक कहने लगते हैं और वे प्रेमचन्द को भी उसी श्रेणी में परिगणित कर लेते है तब सिर पीट लेना पड़ता है। प्रेमचन्द के भारतीय आदर्श अर्थात दर्पण में समसामयिक नवीन आन्दोलन केवल प्रतिबिंबित होते हैं उनकी छायाभर उनमें रहती है। वह भी चलित जीवन के स्वरूप को अङ्कित करने की ही दृष्टि से। उनकी रचना की आत्मा भारतीय है। सामयिक विचारधारायें आधुनिक गगन से पड़ने वाली बूंदे भर हैं जिन्होंने वाह्यावरण को ही आर्द किया है अन्तश्चेतना को नहीं।

———

प्रेमचंद

प्रो० हरवंशलाल शर्मा •

हिन्दी के ही नही, भारतीय भाषा के किसी भी कथाकार ने भारतीय जनता को इतनी गहराई से प्रभावित नहीं किया जितनी गहराई से मुंशी प्रेमचंद ने किया। आज प्रेमचंद के कृतित्व का विश्व की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। हिन्दी में इस कथाकार को लेकर सर्वाधिकशोधकार्य हुआ है। प्रेमचंद के जीवन और कृतित्व से सम्वन्धित लगभग १२५ ग्रन्थ हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित हैं। विदेशी आलोचक भी प्रेमचंद की ओर आकृष्ट हुए हैं इस प्रकार प्रेमचंद पर बहुत कुछ कहा जा चुका है और बहुत कुछ लिखा जा चुका है फिर भी बहुत कुछ कहने और लिखने की गुंजाइश बाकी रह जाती है।

प्रेमचंद का व्यक्तित्व और जीवन सामान्य था। प्रेमचंद एक असाधारण प्रतिभा के धनी साधारण से दिखने वाले एक ठेठ हिन्दुस्तानी का नाम है जो अपनी रचनाओं के कारण देश की जनता के दिलोदिमाग पर छा गया। उसके बाहरी व्यक्तित्व में असाधारण खोजने वालों को निराशा ही हाथ लगती थी। इस संदर्भ में जैनेन्द्र द्वारा उनका प्रथम साक्षात्कार तो बहुचर्चित है। उनसे मिलने से पहले जैनेन्द्र ने उनके बारे में जैसी कल्पना की थी, वे उससे बहुत भिन्न निकले। उनकी जिन्दगी की खासियत यही थी कि उसमें कोई खासियत न थी। बाहरी दुनिया के तकाज़ो से प्रत्येक युग के साहित्यकार को कशमकश करनी पड़ती है। अपने युग के अन्य साहित्यकारों की तरह प्रेमचंद की भी दुनियावी परेशानियां कम न थी। अनेक साहित्यकारों की तरह से उन्हें भी गरीबी के खिलाफ लड़ना पड़ा। साहित्य के माध्यम से की गई इस लड़ाई में उन्हें बहुत से त्याग भी करने पड़े। आज इस बात को लेकर एक बेकार की बहस छिड़ी हुई है कि प्रेमचंद उतने गरीब थे या नहीं जितना गरीब उन्हे समझा गया है। क्या फर्क पड़ता है इस बात से कि प्रेमचंद कम गरीब थे या ज्यादा गरीब थे। जाहिर है कि वे पूरी ईमानदारी के साथ लड़े और गरीबों के लिये लड़े। हो सकता है कि उनमें कुछ व्यक्तिगत दुर्बलतायें रही हों लेकिन इससे कथाकार के रूप में उनकी महानता कुछ कम नहीं हो जाती

प्रेमचंद के जीवन की तरह उनका जीवन-दर्शन भी विवाद का विषय बना हुआ है। उनकी विश्व-दृष्टि को लेकर आलोचको के विभिन्न गुटों में रस्साकसी हो रही है। यह तो सभी जानते हैं कि प्रेमचंद गांधी और मार्क्स दोनो से प्रभावित थे किन्तु उनकी प्रतिबद्धता को लेकर गंभीर मतभेद है। प्रेमचंद किससे और किस सीमा तक प्रतिबद्ध थे यह ज्वलन्त प्रश्न है और इसका उत्तर हमें प्रेमचंद के व्यक्तित्व और कृतित्व में ही खोजना होगा।

• कुलपति
बुन्देल खण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

जिस युग में नवाबराय मुंशी प्रेमचंद बने, उस युग को सुधारवादी कह डालना पूरे इतिहास को एक गलत दृष्टिकोण से देखना है। वह युग ऐसा था जिसमें प्रतिभाओं के पास एक समग्र दर्शन और तदनुरूप एक जीवन पद्धति थी। अपने जीवन दर्शन और जीवन पद्धति से प्रतिभाएँ गहनतया प्रतिबद्ध थी गाँधी की जीवन दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक थी। उनके द्वारा सुझाये गये आर्थिक, राजनैतिक कार्यक्रमों को उसी मूल दृष्टि के संदर्भ में समझना होगा। मार्क्स की दृष्टि भौतिकवादी थी। इसके द्वारा समाज के स्वरूप को उसकी जीवन पद्धति, उसकी नैतिकता को नारी के प्रति उसके दृष्टिकोण को उसके समूचे इतिहास दर्शन के सन्दर्भ में समझना जरूरी है। लक्ष्य गाँधी और मार्क्स का एक है–शोषण मुक्त समाज। रास्ता अलग-अलग है–एक हृदय परिवर्तन में विश्वास करता है दूसरा यह मानता है कि हिंसा का एक रूप क्रांतिकारी होता है और यह कि पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता। प्रेमचंद गाँधी से बड़ी गहराई तक प्रभावित थे। हृदय परिवर्तन का उनका विश्वास उनकी कथा–यात्रा में बड़ी दूर तक चला है किन्तु उनकी अंतिम रचनाओं में यह विश्वास लड़खड़ाता नजर आता है।

गाँधी का दर्शन रूढ़ियों से मुक्त है। प्रेमचंद भी अपने जीवन और साहित्य में रूढ़ियों के खिलाफ लड़ते रहे। उनकी कहानियों और उपन्यासों में गाँधीवाद के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्षों को प्रभावक स्वर मिला है। पंचपरमेश्वर और "नमक का दरोगा" जैसी कहानियों में हृदय परिवर्तन के प्रति विश्वास व्यक्त है। अहिंसा सत्याग्रह, सर्वधर्म-समभाव, स्वदेशी आन्दोलन, नशाबंदी आदि प्रेमचंद की कई कहानियों के केन्द्रीय विषय रहे हैं। इस तरह यह बात विवाद का विषय नही है कि प्रेमचंद गाँधी से प्रभावित थे या नहीं। विवाद का विषय यह है कि प्रेमचंद गाँधी से प्रतिबद्ध थे या नहीं।

प्रेमचंद की जीवन–दृष्टि विकासशील रही और वे अपने जीवन में अन्याय और शोषण का निरन्तर प्रतिकार करते रहे। वे पहले उपन्यासकार थे जिसने अपने उपन्यासों में आम आदमी के दुःखदर्द को आम आदमी की बेहतरी के लिये उजागर किया। उन्होंने अपने देश में चल रहे आर्थिक शोषण तत्व को पहचाना और महाजनी सभ्यता में मुखर होकर मार्क्स का पक्ष लेते हुए भी अपने युग की सीमाओं में रहे। प्रेमचंद का प्रगतिवाद भारतीय मिट्टी में पनपा प्रगतिवाद है।

मेरे विचार से प्रेमचंद का व्यक्तित्व बहिर्मुखी था। उन्होंने अपने युग के प्रचलित मूल्यों को स्वीकार किया। इसीलिये उनके साहित्य में ऐसे जीवन–मूल्यों की तलाश व्यर्थ है जो उनके युग की सामूहिक चेतना के विपरीत पड़ते हों। ऐसे जीवन मूल्य जयशंकर प्रसाद के साहित्य में मिल सकते हैं, शरतचंद्र के उपन्यासों में मिल सकते है, मुंशी प्रेमचंद के कथा साहित्य में नहीं मिल सकते। गाँधी के जमाने में जयशंकर प्रसाद नारी द्वारा तलाक और पुनर्विवाह की बात कर सकते है। ध्रुवस्वामिनी में मुंशी प्रेमचंद की रचनाओं में प्रचलित मूल्यों की स्वीकृति है, किसी विशेष जीवन दर्शन के प्रति गहरी प्रतिबद्धता नहीं है। इसीलिये उनको पूर्णतः गाँधीवादी या पूर्णतया प्रगतिवादी कहना बेमानी है। यह ठीक है कि प्रेमचद अपने जीवन के उत्तरार्ध्द में मार्क्स की ओर झुके किन्तु उनकी प्रतिबध्दता

मार्क्स के प्रति उतनी ही सीमित रही जितनी कि उनकी अधिकांश रचनाओं में गाँधी के प्रति सीमित रही। यही कारण है कि उनके कथा–साहित्य में आदर्शवादी समाधान आलोचकों का थोपे हुए से जान पड़ते है।

प्रेमचंद के साँस्कृतिक मूल्य उस समूचे युग के सांस्कृतिक मूल्य थे। उस युग के महानुभावों ने सभी धर्मों की बुनियादी एकता का हृदय की गहराइयों से स्वीकार किया। सर्वधर्मसमभाव के मूल में भी ऐक्य का संधान करने वाली दृष्टि ही है। प्रेमचंद के लिये भी धर्म का अर्थ उदात रहा। उन्होने बड़े साफ लफजो में कहा–मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान। जिस धर्म में रहकर लोग दूसरे का छुआ पानी तक नहीं पी सकते, उस धर्म में मेरे लिये गुंजाइश कहाँ। प्रेमचंद घर में : धार्मिक रूढ़ियों और अँधविश्वासों के खिलाफ़ प्रेमचन्द ने एक जेहाद छेड़ा। उन्होनें अपनी कहानियों और उपन्यासों में धर्म के उसी पक्ष को स्वर दिया जो आम आदमी की बेहतरी में सहायक हो सके और मानवता का विकास कर सके। प्रेमचंद ने पुरोहित वर्ग के मिथ्याभिमान पर भी चोट की है। "गोदान" में उन्होने दातादीन जैसे पाखन्डी और व्यभिचारी पुरोहितों के पतन का चित्रण किया है। धार्मिक वाह्याडम्बरों का निषेध तो प्रेमचंद ने कबीरपंथी अक्खड़ता के साथ किया है। इस युग में दलितों और पिछड़ी जातियों पर हो रहे अमानवीय व्यवहार के विरोध में इस महान् कथाकार ने अपनी कलम उठायी। स्पष्ट है कि उन्होनें धर्म के उस रूप का खंडन किया जो देश की प्रगति में बाधक था।

आज हमें प्रेमचंद के कथासाहित्य में व्यक्त साँस्कृतिक मूल्यों को गहराई से समझना होगा क्योकि वे वर्तमान परिस्थितियों में पूर्वपेक्षा ? अधिक मूल्यवान हैं। आज के युग में संकट अधिक गहरा हुआ है। विज्ञान के नये मूल्य हमें हमारी साँस्कृतिक आधारभूमि से दूर कर रहे है। अपने युग के महापुरुषों का अनुकरण करते हुए मुंशी प्रेमचंद ने आधुनिक जीवन मूल्यों को अपने देश की प्रवृति के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। उदाहरण के लिये "मंच" शीर्षक कहानी ली जा सकती है। इस कहानी में डा० चड्ढा भगत के बीमार लड़के को देखने से इन्कार कर देते हैं क्योंकि उसके खेलने का समय हो गया है। भगत का लड़का मर जाता है और भगत के दिल में डा० चड्ढा के प्रति घृणा और प्रतिहिंसा की भावना जड़ जमा लेती हैं। कालान्तर में डा० चड्ढा के लड़के को साँप डस लेता है और इलाज केवल भगत कर सकता है। परिस्थितियों के कारण द्रवित भगत की परोपकार वृत्ति प्रतिहिंसा का आवरण पहन भगत को डा० चड्ढा के घर की ओर ढकेलती है। भगत यह सोचकर डा० चड्ढा के घर की ओर आता है कि उसके लड़के को मरते देख अपने दिल को ठंडक पहुँचायेगा। किन्तु वहाँ पहुँचकर उसकी परोपकार की भावना विजयिनी होती है और वह डा० चड्ढा के लड़के का इलाज कर देता है साँप के काटने का असर उतर जाता है। चड्ढा भी यह महसूस करता है कि परोपकार व्यवसाय से ऊपर है। इस कहानी में प्रेमचंद ने विवेकानन्द की परम्परा का अनुसरण करते हुए बताया है कि अचेतन मन में अगर प्रवृत्तियाँ दमित रूप में रहती है तो सद्वृत्तियाँ भी दमित हो सकती है और अवसर मिलते ही दबी हुई अच्छाइयाँ उभर भी सकती हैं। प्रतिहिंसा की आग ने भगत की

परोपकार भावना को दबा दिया किन्तु वही दबी हुई भावना पूरे वेग से अवसर पाकर फूट पड़ी। इसी प्रकार उन्होने यह भी चित्रित किया कि चिकित्सा करना व्यवसाय न होकर एक धर्म है। इस कहानी में भौतिकतावादी–भोगवादी जीवन–मूल्यों के स्थान पर भारतीय मूल्यों की प्रतिष्ठा है। प्रेमचंद की लगभग सभी कहानियाँ देश की संस्कृति के विशिष्ट संदर्भो में लिखी गयी हैं। गाँधी की तरह, रवीन्द्रनाथ टैगोर की तरह प्रेमचंद ने भी उस कृत्रिमता का विरोध किया है जो औद्योगीकरण के नाम पर हमें दी जा रही है। "ईदगाह" कहानी इसका सुन्दर उदाहरण है। "ईदगाह' में सभी बच्चे सुन्दर सुन्दर खिलौने लेकर घर लौटते हैं। हामिद खिलौने के नाम पर तीन पैसे का चिमटा खरीदता है। समस्या सिर्फ इतनी नहीं कि हामिद के पास तीन पैसे ही हैं। समस्या साँस्कृतिक है। बच्चों को दिये गये खिलौनों में और उन्हें सिखाये गये खेलों में हमारी जीवन–दृष्टि झलकती है। समस्या यह है कि हम मँहगे चाबी वाले खिलौने बनाकर, घरेलू उद्योगों में लगे हुये हजारों–लाखों कारीगरों को बेरोजगार करें या नहीं। समस्या यह है कि हम अपने बच्चों को क्रिकेट जैसे महगे खेल सिखायें या भारतीय खेलों को प्रोत्साहन दें। इस समस्या की ओर टैगोर का भी ध्यान आकृष्ट हुआ था। और उनका समाधान यही था कि भारतीय खेलों को तथा दस्तकारी से बने खिलौनों को प्रोत्साहन दिया जाय। प्रेमचंद का मन भी हामिद के चिमटे में रमा है, क्रिकेट को छोड़कर गुल्ली–डंडा और पतंगबाजी में रमा है। विदेशी के स्थान पर स्वदेशी में रमा है। बच्चे कृत्रिम जीवन के अंधकार में न भटकें। उन्हें कृत्रिम शिक्षा न दी जाय। वे किताबों को पढ़ें उनका बोझा न ढोयें। ये भावनाये प्रेमचंद की "बड़े भाई साहब" नामक कहानी में व्यक्त हुयीं है। कहानी में बड़ा भाई हरवक्त छोटे को उपदेश देता रहता है लेकिन एक बार वह अपना मुखोटा उतार कर बड़े ही सहज उल्लास से पतंग लूटने के लिये दौड़ता है। आधुनिकता के बनावटीपन के विरोध में ऐसी न जाने कितनी झाँकिया प्रेमचंद की कहानियों में देखने को मिलती हैं। प्रेमचद की संस्कृति मानवता के विकास की संस्कृति है। प्रेमचंद दरिद्र को नारायण मानते थे और दरिद्रनारायण की सेवा को मानव का एक मात्र धर्म।

प्रेमचंद की कहानियाँ और उपन्यास इस युग के दस्तावेज है। प्रेमचंद अपने युग की सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्याधिक जागरूक थे। उन्होंने समाज और परिवार के जीवन के अनेक पक्षों को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। भारतीय नारी के जीवन को जितने रूपों में मुंशी प्रेमचंद ने देखा उतने रूपों में हिन्दी का कदाचित् कोई भी उपन्यासकार नहीं देख पाया। प्रेमचंद का यह वैशिष्ट्य है कि नारी की समस्याओं की जननी सामाजिक विषमताओं और उन समस्याओं से जन्में सामाजिक वैषम्य पर उनकी गहरी पकड़ है। प्रेमचंद के नारी पात्र सामाजिक यथार्थों को व्यक्त करते हैं। "सेवासदन" में उन्होंने वेश्या समस्या और उसके सामाजिक कारणों पर प्रकाश डाला है। "निर्मला" में उन्होंने दहेज की समस्या उठायी है। "मिस पद्मा" कहानी में नारी स्वातन्त्र्य की सीमाओं का ध्वनन है। "कुसुम" कहानी में दहेज की कुप्रथा के लिए युवावर्ग को जिम्मेदार ठहराया गया है। आज हम देखते हैं कि दहेज की कुप्रथा देश में बढती जा रही है और उनके लिये मध्यमवर्गीय युवक कहीं ज्यादा जिम्मेदार है। प्रेमचंद ने अपनी अनेक

रचनाओं में नारी पात्रों को राजनैतिक चेतना सम्पन्न दिखलाया है। उनके नारी पात्र नमक सत्याग्रह, स्वदेशी आन्दोलन, पिकेटिंग आदि में सक्रिय सहयोग देते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं में नारी का प्रेरणाप्रद रूप भी चित्रित हुआ है।

पारिवारिक जीवन की अनेकानेक समस्याएं प्रेमचंद की कहानियों का केन्द्रीय विषय रही है। "अलग्यौझा" कहानी में उन्होने संयुक्त परिवार के विघटन और उसके दुष्परिणामों का चित्रण किया है। विघटन के कारणों पर भी कथाकार की दृष्टि गयी है। विघटन के कारण मूलतः आर्थिक है। "रंगभूमि" उपन्यास में ताहिर अली के परिवार का चित्रण उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। ताहिर अली अपने जिस भाई की शिक्षा के लिये अपनी पत्नी के गहने बेच देता है, वह भाई श्री ताहिर अली से कोई सहानुभूति नहीं रखता। प्रेमचन्द ने यह दर्शाया है कि संयुक्त परिवार का बिखराव मूलतः आर्थिक कारणों से होता है। परिवार में अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धो का विश्लेषण प्रेमचन्द की अनेक रचनाओं में हुआ है। इन सम्बन्धों के जितने रूप प्रेमचन्द की कहानियो में चित्रित हैं उतने हिन्दी के अन्य किसी कहानीकार की रचनाओं में नहीं हैं।

भारतीय कृषक जीवन के सर्वाधिक प्रमाणिक चित्र हमें प्रेमचन्द की रचनाओं में ही प्राप्त होते हैं। "गोदान" तो कृषक जीवन का महाकाव्य है और उसका नायक होरी अपनी सारी शक्ति और सीमाओं के साथ भारतीय कृषकों का प्रतीक है। उसके जीवन की एकमात्र लालसा अपने घर में गाय की सेवा है लेकिन आर्थिक शोषण चक्र में पिसता हुआ होरी इस लालसा को लिये चल बसता है। हिन्दुस्तान के देहात का और किसान का जैसा यथार्थ चित्रण गोदान में हुआ है वैसा समूचे भारतीय उपन्यास साहित्य में दुर्लभ है। गोदान में प्रेमचन्द ने कृषक जीवन को और कृषक चरित्र को उसकी समग्रता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। होरी का दर्शन है–मजूर वन जाता है तो किसान हो जाता है, किसान विगड़ जाता है तो मजूर वन जाता है। गोदान की कहानी हिन्दुस्तान के किसानों के बिगड़ते जाने और मजूर बनते जाने की कहानी है। कृषक जीवन की अपनी नैतिकता है, अपनी मर्यादा है। जब होरी को यह महसूस होता है कि भोला भूसे के अभाव में अपनी गाय बेच रहा है तो वह कहता है "किसी भाई का नीलामी पर चढ़ा हुआ बैल लेने में जो पाप है वही इस समय तुम्हारी गाय लेने में है" यही भोला जब होरी के बैल खोल कर ले जाता है और गाँव वाले बैल छीनने दौड़ते है तो होरी यह कहकर उन्हें रोकता है—"मैंने इनके धर्म पर छोड़ दिया था" कृषक जीवन का ऐसा प्रमाणिक दस्तावेज मुंशी प्रमचन्द ही प्रस्तुत कर सकते थे।

प्रेमचन्द औद्योगीकरण के अभिशापों से सुपरिचित थे। आधुनिक युग में औद्योगीकरण का खतरा दिन व दिन बढता जा रहा है। जंगलो के तेजी से कटने के प्रतिकूल प्रभावों के बारे में हम सभी जानते हैं। प्रेमचन्द की नजर औद्योगीकरण के कारण होने वाले साँस्कृतिक विनाश पर भी थी। उन्होने "रंगभूमि" शीर्षक उपन्यास में बढ़ते हुये औद्योगीकरण के दुष्परिणामों का लेखाजोखा प्रस्तुत किया है। महात्मा गाँधी की तरह प्रेमचन्द भी यह चाहते थे कि देश का आर्थिक विकास तो हो किन्तु अंधाधुन्ध औद्योगीकरण

हमारे साँस्कृतिक पतन का कारण न बने। प्रेमचन्द इस असलियत से वाकिफ थे कि औद्योगीकरण विकास से जन्मा नवधनाढ्य वर्ग हमारे साँस्कृतिक जीवन में जहर घोलता है। रंगभूमि उपन्यास में लड़ाई पाण्डेपुर गाँव की जमीन के टुकड़े के लिये नहीं है, एक संस्कृति के विरुद्ध दूसरी संस्कृति की लड़ाई है। प्रेमचन्द इस बात को समझते थे कि शोषण केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक भी होता है। इसीलिये वह गाँवों में बेडौल शहरों के पसरने का विरोध करते थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्हें यह दृष्टि महात्मा गाँधी से मिली थी। वे कभी नहीं चाहते थे कि गुड़ का स्थान चीनी, दातुन का स्थान टूथपेस्ट और छाछ का स्थान चाय ले। गाँधी की तरह प्रेमचन्द हिन्दुस्तान के विकेन्द्रित आर्थिक विकास के पक्षकार थे। रगभूमि उपन्यास में सूरदास परम्परागत मूल्यों का प्रतीक हैं और जाँन सेवक पूंजीवादी संस्कृति की प्रतीति करता है। रंगभूमि का मूल्य संघर्ष आर्थिक संस्कृतियों का संघर्ष है। रंगभूमि का सूरदास जहाँ भारतीय जीवन में गहरे पैठे "लीलावत केवस्यम" की भावना से अनुशासित है वहाँ जाँन सेवक उपयोगितावाद के विदेशी दर्शन का पक्षधर है। हमारे देश में इस उपयोगितावाद की सीमाएँ आज बहुत स्पष्ट हो गयी हैं।

प्रेमचन्द के युग में मध्यवर्गीय संस्कृत का भी विकास हो गया था। प्रेमचन्द यह समझते थे कि पढ़े लिखे मध्यवर्गीय युवक निरन्तर सुविधाप्रिय होते जा रहे हैं। वे मध्यवर्ग के युवक की चारित्रिक दुर्बलताओं से क्षुब्ध भी थे। गबन उपन्यास के केन्द्र में रमानाथ इसी मध्यवर्ग का प्रतिनिधि चरित्र है। गबन का उद्देश्य परिवार समाज और देश के संदर्भ में मध्यमवर्गीय युवक के चरित्र की व्यवस्था है। यहाँ मैं उन आलोचकों से सहमत नहीं हूँ जो गबन का उद्देश्य नारी की आभूषणप्रियता को मानते हैं। यदि गबन की नायिका आभूषण प्रिय न होती तो भी रमानाथ के व्यापार वही दिशा ग्रहण करती जो उन्होंने इस उपन्यास में की है। गबन की मूल समस्या जालपा की आभूषणप्रियता नहीं है, मूल समस्या रमानाथ है, नायक की मध्यवर्गीय चरित्र है। प्रेमचन्द की आकाक्षा थी कि देश का मध्यवर्गीय युवक अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर देश का उत्थान करे गबन इसी आकांक्षा का प्रतिपालन है। प्रेमचन्द ने देखा कि देश का पढ़ा लिखा नौजवान अनपढ़ आम आदमी की तुलना में चरित्र की दृष्टि से हीन है। रमानाथ जैसे युवक स्वार्थों के भंवर में फँसे है और देवीदीन जैसे पात्र देश की आजादी के लिए बड़े से बड़ा बलिदान कर रहे है। गबन उपन्यास पढ़े लिखे मध्यवर्गीय नौजवानो की सुविधाप्रियता, प्रदर्शनप्रियता और विलासिता पर गहरी चोट करता है। ध्यान देने की बात है कि कथा-संगठन की दृष्टि से गबन प्रेमचन्द का सर्वाधिक सफल उपन्यास है। गोदान की तरह उसमें कथायें समानान्तर नहीं चलती।

अपने युग के सामाजिक यथार्थ के जैसे विस्तृत चित्र प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत किये हैं, अन्यथा दुर्लभ है। इस कथाकार ने हिन्दी पाठक को तिलिस्मों के भँवर में से निकालकर उसकी सही दुनिया दिखायी है। व्यक्ति की, परिषद की, समाज की और देश की समस्याओं को सांस्कृतिक परम्परा के व्यापक संदर्भों में समझा।

आलोचक कहते है कि प्रेमचन्द के समाधान कोरे आदर्शों पर आधारित हैं, अस्वाभाविक जान पड़ते हैं। इस संदर्भ में हमे प्रेमचन्द के व्यक्तित्व को और उनके युग की सीमाओं को देखना होगा। अपने वहिमुखी व्यक्तित्व के कारण वे युगीन मूल्यों के विपरीत नहीं जा सके लेकिन इसी व्यक्तित्व के कारण उनमें यथार्थ का आग्रह प्रवलतर होता गया और हम देखते हैं कि उनकी परवर्ती रचनाओं में आदर्शों का उच्चार कम, यथार्थ का प्रमाणित चित्रण अधिक है।

प्रेमचन्द जनजीवन के कथाकार थे। उनकी पात्र–सृष्टि अपूर्व है। प्रेमचन्द के पात्र न देवता है, न दानव है। वे देशकालवद्ध मानव हैं जो अपनी सहज शक्ति से परिस्थितियों का अतिक्रमण कर, उनसे ऊपर उठकर मानव गरिमा को बनाये रखते हैं प्रेमचन्द के पात्र विश्व के किसी भी महान् उपन्यासकार के पात्रों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। विश्व के औपचारिक नारी पात्रों में गोदान की धनिया और औपन्यासिक पुरुष पात्रों में गोदान के होरी का विशिष्ट स्थान संदेह से परे है। प्रेमचन्द के पात्र अपने अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही हमारी जिन्दगी की सच्चाइयों को भी उजागर करते हैं। इस महान कथाकार में मानव के व्यवहार की गहरी परख थी। पारस्परिक एवं सामाजिक व्यवहार के संदर्भ में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों की मनःस्थितियों का सूक्ष्म अंकन किया है। प्रेमचन्द के पात्र एक ओर वर्गगत है तो दूसरी ओर वे भारतीय जनजीवन में मानवीय सम्बन्धों के यथार्थ के व्यंजक भी है। प्रेमचन्द ने प्रायः सभी मानवीय सम्बन्धों पर समान अधिकार से लिखा है उनकी पात्र–सृष्टि को अपूर्व विशेषता यही है कि ये सहज लगते हैं।

प्रेमचन्द की भाषा हिन्दुस्तानी है। इस संदर्भ में उन्होने स्पष्टतया गाँधी का अनुसरण किया। वे ऐसी भाषा के प्रयोग के हिमायती थे जिसे सब कोई समझ सके। उन्होंने जननीवन का चित्रण जनभाषा में किया। शब्द चाहे संस्कृत के हो, अरवी–फारसी के हो, अंग्रजी के हो या किसी अन्य भाषा के उनकी रचनाओं में इस तरह घुलमिल जाते हैं कि देशी–विदेशी का सवाल ही नहीं उठता। प्रेमचन्द के वाद हिन्दी कथा साहित्य में वैसो मुहावरेदार भाषा नहीं मिलती। प्रेमचन्द की भाषा में अपने देश की मिट्टी की गंध है। अगर हम यह कहें तो गलत नहीं होगा कि प्रेमचन्द जनभाषा के सबसे वड़े पक्षकार थे। वे मानते थे कि संस्कृत के बोझ से दवी हुई हिन्दी और अरवी–फारसी के वोझ से लदी हुई उर्दू हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा नहीं वन सकती है। प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में जनजीवन और जनभाषा को ही स्वीकार किया।

मुंशीं प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद की तुलना, प्रायः की जाती है। प्रेमचन्द और प्रसाद के जीवन में, व्यक्तित्व में, जीवन दर्शन में और भाषा नीति में बहुत अंतर है ? मूल अंतर दोनो के व्यक्तित्वों का है। प्रेमचन्द जितने वहिमुखी थे, प्रसाद उतने ही अधिक अर्न्तमुखी थे। यही कारण है कि प्रेमचन्द नें प्रचलित मूल्यों को स्वीकार किया, प्रसाद ने मूल्य दिये। प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ को स्वीकार किया, प्रसाद ने सामाजिक यथार्थों को अपनी मूल्य चेतना के संदर्भ में परखा। प्रेमचन्द इतिहास के गड़े मुर्दों को

उखाड़ने में यकीन नहीं रखते थे, प्रसाद वर्तमान की समस्या को परम्परा से मुह मोड़कर नहीं देख सकते। प्रेमचन्द के लिये भाषा का अर्थ लोकभाषा है, प्रसाद के लिये भाषा समूची सांस्कृतिक परम्परा की वाटिका है। दोनों की अपनी-अपनी दृष्टि है, अपने अपने तर्क है। इतना जरूर है कि आम आदमी की आवाज जितनी बुलंदी के साथ प्रेमचन्द के कथा साहित्य में सुनाई देती है, उतनी प्रसाद के कथा–साहित्य में नहीं।

प्रेमचन्द और शरतचन्द को भी पास–पास रखकर देखा जा सकता है। शरतचन्द की रोमानियत और तरलता प्रेमचन्द में दूर दूर तक नहीं है, प्रेमचन्द की अनगढता और तीखापन शरत में दुर्लभ है। प्रेमचन्द के लिये जिसका प्राथमिक महत्व है, शरत के लिये वह महत्वहीन है। प्रेमचन्द के पात्र बाहरी दुनिया में जीते है, शरत के पात्रों की अपनी दुनियाँ है। प्रेमचन्द के पात्र सामाजिक समस्याओं से जूझते है, शरत के पात्र उस समाज को ही नकार देते हैं जो उनके लिये समस्याये पैदा करता है। शरत का कथा संसार समाज के प्रति उदासीन है पात्रों का संसार है और इसीलिये, शरद के पत्र ज्यादा विद्रोही प्रकृति के है। प्रेमचन्द के पात्र समाज में अपना हक ढूढते प्रतीत होते है, शरद के पात्र जीवन की रागात्मकता तलाशते हैं। प्रेमचन्द और शरतचंद जीवन के दो अलग अलग प्रतीत होने वाले रूपों के चितेरे हैं। यह नही कहा जा सकता कि दोनो में कौन अधिक महान् हैं। महानता इस तरह नापी जा सकने वाली चोज नहीं है।

हिन्दी के उपन्यास साहित्य को मुंशी प्रेमचन्द ने सही दिशा दी। प्रेमचन्द कई दृष्टियों से अद्वितीय हैं। उन्होने पहली वार हिन्दी उपन्यास को समाज से सम्बद्ध किया। यह बहुत वड़ी बात है कि उन्होंने इस तिलस्म को तोड़ दिया जिसमें हिन्दी का पाठक बुरी तरह फंसा हुआ था। उन्होनें किस्से बयान करने की जगह जीवन जीवन्त पात्रों की सर्जना की। प्रेमचन्द से पहले हिन्दी उपन्यासों की भाषा जड़ भाषा थी। प्रेमचन्द ने भाषा को रवानी दी। प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से अपने देश की साँस्कृतिक समग्रता को स्वर दिया, मानवीय गरिमा की और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की। उनके कथा–साहित्य से आदमी को अपने विकास के लिये संघर्ष की प्रेरणा मिलती है जो समस्याएं प्रेमचन्द के युग में थीं, उनमे से अधिकांश आज भी हमारे सामने हैं। इसीलिए प्रेमचान्द का कथा–साहित्य आज अधिक प्रासंगिक है मानव के मूलभूत स्वभाव के चित्रण के कारण उनका कथा–साहित्य कालजयी है।

———

प्रेमचन्द की विचारधारा और रचना-दृष्टि

--परमानन्द श्रीवास्तव

विचारधारा और रचनात्मक लेखन के सम्बन्ध को लेकर बहसें बराबर होती रही हैं। अक्सर माना जाता है कि विचारधारा का अर्थ राजनीतिक मताग्रह जैसी कोई चीज़ है। इसलिए अक्सर लेखन की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठाने वाले विचारधारा को स्वतन्त्र दृष्टि में बाधक बताते आये हैं। स्वतन्त्र चिन्तन की भी आखिर विचारधारा होती है चाहे वह विचारों के अमूर्तन तक ही सीमित क्यों न हो। प्रेमचन्द के लिए विचारधारा का अर्थ केवल राजनीतिक दर्शन नहीं है, बल्कि जीवन की अनेक रूपता या समग्रता के साथ एक जीवित सम्पर्क है। प्रेमचन्द के रचनात्मक लेखन के पीछे एक लम्बी तैयारी है, जो विचारों के जीवन्त सम्पर्क में लेखक को उसके लक्ष्य के निकट ले जाती हैं।

प्रेमचन्द जीवन को दार्शनिक गम्भीरता से देखने वाले लेखक नहीं हैं। वे सहज मनुष्य के रूप में जीवन की समग्रता का साक्षात् करते आये हैं। समाज रचना के प्रति उनकी प्रतिक्रिया सहज के रूप में भी स्पष्ट होती रही है। प्रेमचन्द अपना पक्ष चुनते हैं वे अपने दृष्टिकोण के लिए अपेक्षित मूल्य देना जानते हैं। उन्होंने केवल प्रिय सत्य नहीं कहा है, अप्रिय सत्य भी कहा है। वे विवादास्पद रहे हैं। उन्हें विरोध करना और सहना पड़ा है। इसलिए उनकी प्रतिबद्धता के लिए तर्कजुटाने की आवश्वयकता नहीं है जब प्रेमचन्द कहते हैं--हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है, तो 'जनता' शब्द का उनके लिए विशेष अर्थ होता है। जनता उनके लिए कोई अमूर्त शब्द नहीं है—उसमें किसान, मजदूर, अध्यापक, छात्र युवक स्त्रियाँ सभी आते हैं, जो कहीं शोषण के दुष्चक्र से प्रभावित हैं। प्रेमचन्द ने स्वार्थों के उस टकराव पर सीधे चोट की है, जिसके एक ओर जमीदार और पूँजीपति हैं, दूसरी ओर किसान मजदूर। कांग्रेस में मध्यवर्गीय सस्कार पूँजीवादी हितों के साथ जाते हैं, इस पर उनकी दृष्टि बिल्कुल साफ रही है। प्रेमचन्द के मन में हिन्दुस्तानी संस्कृति की अपनी पहचान रही है, जो संकीर्ण आग्रह इस पहचान में बाधक रहें हैं उनकी आलोचना प्रेमचन्द के वैचारिक और रचनात्मक साहित्य में एक ही तरह स्पष्ट है। जो सांप्रदायिक समस्या आज तक हल नहीं हो पाई है, उसको जड़ों तक पहचानते हुए प्रेमचन्द ने सांस्कृतिक आवाजाही को जरूरी समझा था और अब से लगभग सत्तर वर्ष पहले उन्होंने लिखा था—

"मगर यह अभियोग कुछ मुसलमानों के ही सर नहीं है कि उन्होंने हिन्दी ज्ञान विज्ञान और साहित्य से लाभ नहीं उठाया। हिन्दुओं पर भी यही इल्ज़ाम पूरी तरह लागू होता है। मुसलमानों के ज़माने में तो खैर, संस्कृत की धार्मिक और साहित्यिक पुस्तकों के अनुवाद भी हुए मगर हिन्दुओं ने तो शायद फारसी और अरबी साहित्य की किसी एक कृति को भी भाषा या संस्कृति का जामा नहीं पहनाया।······ इस तरह दोनों कौमें सदियों से एक जगह रहने के बावजूद एक दूसरे के ज्ञान-विज्ञान और साहित्यों से अपरिचित है।"

—'ज़माना' 1908"

बी 70, आवास-विकास कालोनी
सूरज कुण्ड, गोरखपुर

इस सिलसिले में यह भी साफ है, कि वे हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति जैसे विभाजन को व्यर्थ बताते हुए असली समस्या आर्थिक संस्कृति को बताते हैं और उसके नैतिक राजनीतिक आधारों की अनदेखी नहीं करते।

यह तो एक उदाहरण है। वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द के विचार साहित्य, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, समाज, भाषा जैसे अनेक क्षेत्रों तक फैले हुए हैं। सम-सामयिक दबाव से लिखी गई उनकी टिप्पणियाँ भी भारतीय समाज को दूर तक रास्ता दिखाने वाली हैं। प्रेमचन्द ने बच्चों और स्त्रियों की मानसिक बनावट को लक्ष्य कर बहुत सी बातें कहीं हैं-- जिनसे उनकी समझ का पता लगता है। 'बच्चों को स्वाधीन बनाओं' शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचन्द के विचार कुछ इस प्रकार हैं--

"बच्चों में स्वाधीनता के भाव पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि जितनी जल्दी हो सके उन्हें कुछ काम करने का अवसर दिया जाय। लड़कों की स्वाभाविक रचनाशीलता को जगाना चाहिए।" मानसिक पराधीनता के विरुद्ध प्रेमचन्द ने अनेक टिप्पणियाँ लिखी हैं। स्त्रियों की समस्याओं पर लिखते समय प्रेमचन्द ने बराबर उनके अधिकारों का पक्ष लिया है। हिन्दू समाज द्वारा स्त्री के शोषण के विरूद्ध प्रेमचन्द ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। "हिन्दू समाज ने अपनी देवियों के साथ बहुत दिनों तक जुल्म किया है, और अब उसे इस जुल्म की जड़ खोदने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।" × × "भारतीय महिलाओं ने अपने कार्यक्रम से सिद्ध कर दिया है कि वे समाज के क्षेत्र में पुरुषों से कितनी आगे निकल गई हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपने परिवृत्त सुविचार का परिचय दिया है। वे सार्वजनिक निर्वाचनाधिकार चाहती हैं, जायदाद या शिक्षा की कोई कैद उन्हे पसन्द नहीं और राष्ट्रीय एकता का तो जितने जोरों से स्त्रियों ने हरेक अवसर पर समर्थन किया है, उस पर बहुमत से हिन्दू और मुसलमान पुरुषों को लज्जित होना पड़ेगा।" इन विचारों से अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचन्द स्त्रियों की मुक्ति की कल्पना करके संतोष अनुभव करते हैं और रूढ़ियों के विरूद्ध अपना स्पष्ट निर्णय देना चाहते हैं। अधिकार की समानता का प्रश्न उठाते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं--

"अब तक समस्त संसार में यह कायदा था कि नारी को एक ही काम के लिए पुरुषों से कम मजूरी मिलती थी। पुरुष चार आने पाता है, तो नारी को तीन आने ही दिये हैं। शायद यह धारण थी कि नारी पुरुष के बराबर काम नहीं कर सकती। यह कि पुरुष को एक परिवार का पालन करना पड़ता है और नारी जो कुछ पाती है, सब अपने ऊपर ही खर्च करती है। लेकिन समय बदल रहा है या बदल गया है और अब नारियों ने सिद्ध कर दिया है कि बहुत से कामों में वह पुरुषों के बराबर ही नहीं पुरुषों से ज्यादा काम करती है।"

शिक्षा की निरर्थकता प्रेमचन्द की दृष्टि में रही। उनके विचारों से स्पष्ट है कि वे एक प्रकार की स्वदेशी शिक्षा के पक्ष में रहे हैं जो उपयोगिता से विमुख न हो। स्वदेशी चिंतन को शिक्षा की रूपरेखाओं पर घटित करते हुए प्रेमचन्द ने 1909 में ही लिखा था— "जरुरी और बहुत जरुरी है कि हमारी शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा स्थिर किया जाय कि

चार वर्ष तक पढ़ने के बाद लड़का अपनी जरूरतों के लिए काफी तौर पर शिक्षा पा जाय। हमारा ख्याल है कि अपर प्राइमरी दर्जे की पढ़ाई अगर जरा और व्यापक कर दी जाय तो किसानों की जरूरत के लिए काफी है। "जन-साधारण में शिक्षा के लोकप्रिय न होने का एक बड़ा कारण यह है कि लड़के बरसों पढ़ते हैं और कुछ नतीजा नहीं निकलता।"

मानसिक पराधीनता बहुत कुछ अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के वर्चस्व के कारण है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द को कोई भ्रम नहीं। बड़े परिप्रेक्ष्य में स्वराज्य का प्रश्न उठाते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—"जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व छोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे।"

प्रेमचन्द ने रचनात्मक लेख में आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर प्रस्थान किया इसमें संदेह नहीं पर उन सरीखे विकासशील लेखक के बारे में गाँधीवाद बनाम मार्क्सवाद जैसा प्रश्न उठाना वाग्विलास से अधिक अर्थ नहीं रखता। अब तो इस तरह के निर्णयों में और भी संकीर्णता आती जा रही है। कुछ लोग प्रेमचन्द को केवल गाँधीवादी, कुछ केवल मार्क्सवादी और दुःखद आश्चर्य यह कि कुछ लोग केवल हिन्दू राष्ट्रवादी कह रहे हैं। यह सही है कि प्रेमचन्द की कुछ आरंभिक कहानियाँ हिन्दू पुनरुत्थानवाद का असर देती हैं पर वहाँ भी उनकी कोशिश कुछ उच्चतर भारतीय मूल्यों को प्रतिष्ठा देने की है हिन्दू राष्ट्रवाद का पक्ष लेने की नहीं। गाँधीवाद से मार्क्सवाद की ओर प्रस्थान प्रेमचन्द के पूरे वैचारिक विकास से सम्बन्ध रखता है। उनकी रचनाएँ सचेत रूप में दृष्टि कोण के इस परिवर्तन को दिखाती हैं। आर्थिक शोषण की सूक्ष्म स्थितियों बल्कि सोपानों को प्रेमचन्द बखूबी पहचानते हैं और क्रमशः उन्होंने अनुभव किया है कि मार्क्सवाद ही जड़ों तक सामाजिक विषमताओं की पहचान करा सकता है। उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द का मार्क्सवाद उनकी अपनी देशी समस्याओं के अध्ययन विश्लेषण से पुष्ट हुआ है। उनकी जड़ें भारतीय देशकाल में है। प्रेमचन्द में यह परिवर्तन राजनीतिक समझ के कारण भी आया था। उनका झुकाव गरम दल की ओर हुआ था यद्यपि वे एक ओर विवेकानन्द के प्रति भी आकर्षण अनुभव करते थे। प्रेमचन्द ने लगान बन्दी को स्वाधीनता आन्दोलन की रीढ़ बताते हुए उग्र राजनीति का समर्थन किया था।

प्रेमचन्द के साहित्य सम्बन्धी विचार, उनकी विचारधारा के अनुरूप हैं। साहित्य प्रेमचन्द के लिए सोद्देश्य कर्म है। वे स्पष्ट कहते हैं—"मेरे विचार से साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।" साहित्य को अपने काल का प्रतिबिम्ब बताते हुए प्रेमचन्द ने स्पष्ट कहा था—"जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं वहीं साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।" अपनी विचारधारा के अनुरूप मध्यकालीन सामन्ती सौंदर्य, बोध को चुनौती देते हुए प्रेमचन्द सुन्दरता की कसौटी बदलने की माँग करते हैं—"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अभावों की दुनियाँ को मनुष्यता की परिधि के बाहर था।" घटनाओं की तालिका को प्रेमचन्द इतिहास नहीं मानते थे। जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति ही उनके लिए इतिहास की वास्तविक संज्ञा है। प्रेमचन्द यथार्थ

को जड़ों तक देखने वाले लेखक हैं। वे कवल साहित्यिक यथार्थ के लेखक नहीं हैं। वे यथार्थ को विभिन्न आयामों में देखने वाले लेखक हैं। उसकी जटिलताओं में देखने और जाँचने वाले लेखक है। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के विचार इतिहास और समकालीनता के दवाव के परिणाम हैं। वे उत्तरोत्तर प्रेमचन्द के जीवन-संघर्ष के भीतर से विकसित हुए हैं। भारतीय समाज और राजनीति के प्रति प्रेमचन्द का रवैया प्रतिद्धध विचारक का है। पर ये विचार किताबी नहीं हैं, जीवन के भीतर से ही विकसित और पुष्ट हुए हैं।

प्रेमचन्द को रचनात्मक दृष्टि विचारों के संघर्ष के क्रम में ही मिली। जैसे-जैसे पूँजीवादी सामन्तवादी ढाँचे के समाज के अन्तर्विरोध उनकी दृष्टि में स्पष्ट हुए हैं, शोषण के क्रम की उनकी पहचान साफ हुई है, वैसे वैसे ही उनकी रचनाओं का कलात्मक संगठन भी निखरता गया है। प्रेमचन्द में जिन्हें गहराई और बारीकी नहीं दिखाई देती उन्हें जिन्दगी भी नहीं दिखाई देती होगी। साधारण का चित्रण करने के लिए जो कला प्रेमचन्द ने विकसित की है, वह एक लम्बे संघर्ष का परिणाम है—यह संघर्ष ही प्रेमचन्द का साधन है। इतिवृत्त के वहाने वे दुनिया की तमाम चीजों को पर्त-दरपर्त देखते जाते हैं और उसकी भी अपनी कला विकसित करने में समर्थ होते हैं। हास्य-व्यंग्य को गम्भीरता से मिलाने का उनका तर्क साहित्यिक कौशल ही नहीं है, जिन्दगी में घटित होने वाले विरुद्धों के संगठन की सामंजस्य की पहचान भी है। प्रेमचन्द का साहित्य सिर्फ रोचक नहीं है, उलझन और बेचैनी पैदा करने वाला है। वह किन्हीं अर्थों में खतरनाक समझा गया तो इसलिए कि वह सामन्ती ढाँचे की कुछ नंगी सच्चाइयों को प्रत्यक्ष करता है। प्रेमचन्द का मानवतावाद उनके यथार्थवाद को धुंधला नहीं करता, उनकी पक्षधरता को उलझाता नहीं है—वह उसके साथ अपनी अर्थपूर्ण संगति ढूँढ़ता है।

पत्रकार प्रेमचन्द

—डा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

प्रेमचन्द अपने जीवन भर एक 'विशुद्ध कलाकार' कभी नहीं रहे--ऐसा कलाकार जो अपने चारों ओर की दुनिया से उदासीन रहकर कला की एकान्त साधना करता है। वे साहित्य और कला को बराबर लोक से जोड़ कर देखते रहे। इसीलिए उनमें किताबें पढ़ने और अखबार पढ़ने का ही व्यसन नहीं था बल्कि अखबारों में कालम लिखने और अखबार नवीस बनने की गहरी इच्छा भी थी। लिखने और छपने की तड़प तो प्रायः हर लेखक में होती है पर अखबारनवीस बनने और अखबार या पत्रिका निकालने की तड़प जितनी प्रेमचन्द में है उतनी शायद ही किसी दूसरे लेखक में हो। पिंजड़े में बन्द शेर जैसे चक्कर लगाता है बेचैनी में वैसी ही बेचैनी होती है प्रेमचन्द के भीतर नौकरी करते हुए। वे पन्छी की तरह पंख फड़फड़ाते रहते हैं मुक्त आकाश में उड़ने के लिए। उनकी यह छटपटाहट मुंशी दयानारायण निगम को लिखे गये उनके सैकड़ों पत्रों में देखी जा सकती है। लड़ाई के जमाने में सूबे की सरकार ने जब 'वार जर्नल' जारी किया तो निगम साहब ने उनसे यह प्रस्ताव किया कि वे उसके उर्दू संस्करण निकलने की जिमेदारी लेने को तैयार हों। इस प्रस्ताव के जवाब में 6 जुलाई 1918 को प्रेमचन्द ने लिखा "अब मैं सरकारी अखबारनवीस क्या बनूँगा। अगर अखबारनवीस बनना तकदीर में है तो गैर सरकारी, आजाद अखबार नवीस होऊँगा। जङ्ग के मुताल्लिक मज़ामीन लिखने की भी इस वक्त मुझे फुर्सत नहीं है। बस इसी अपनी रफ्तारे-कदीम (पुरानी रफ्तार) पर चलूँगा। बी० ए० कर के किसी प्राइवेट स्कूल को हेड मास्टरी और एक अच्छे अखबार की एडिटरी और कुछ पब्लिक काम। यही मेराजे जिन्दगी (जीवन-शिखर) है। अखबार मजदूरों-किसानों का हामी और मुआविन (सहयोगी) होगा।"[1] तो यह है प्रेमचन्द की जिन्दगी का लक्ष्य। अर्थात् किसी प्राइवेट स्कूल की हेडमास्टरी, एक अच्छे अखबार की एडिटरी और कुछ पब्लिक काम। अच्छा अखबार उनकी दृष्टि में वह जो आजाद हो और मजदूरों-किसानों का समर्थक तथा सहयोगी।

प्रेमचन्द ने 'मर्यादा' 'माधुरी', 'हँस' और 'जागरण' नामक पत्रों का सम्पादन किया। 'हँस' के प्रवेशांक (मार्च 1930) में उसकी नीति स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, "कहते हैं जब श्रीरामचन्द्र जी समुद्र पर पुल बाँध रहे थे उस वक्त छोटे-छोटे पशु पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद दी थी। इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत ने शक्तिमय समर की भेरी बजा दी है। हंस भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर, अपनी नन्हीं सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिये हुए समुद्र पाटने—आजादी की जङ्ग में योग देने चला है।"[2] 22 अगस्त 1932 को प्रेमचन्द की सम्पादकी में 'जागरण' का प्रकाशन हुआ। उसके नये रूप का परिचय देते

---

1. कलम का सिपाही, पृ० 1987
2. वही, पृष्ट 428

हुए प्रेमचन्द ने लिखा, "हमारी यही चेष्टा होगी कि वह किसी की खुशामद न करे लेकिन विनय को हाथ से न जाने दे। वह कभी कभी कड़वी बातें भी कहेगा, पर सेवा भाव से उसमें आस्था और श्रद्धा अवश्य होगी, पर अन्धविश्वास नहीं। उसका ध्येय होगा सत्य की खोज। वह वितंडावादी नहीं, सत्य का पुजारी होगा, चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न चूकेगा। वह केवल दूसरों के दोष न देखेगा, बल्कि अपने दोषों को स्वीकार करेगा। ...... वह जिस दृढ़ता से न्याय का पक्ष लेगा, उतनी ही दृढ़ता से अन्याय का विरोध करेगा, चाहे वह राजा की ओर से हो, समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से।"[1] यह है प्रेमचन्द की पत्रकारिता का आदर्श। बहुत ही कठिन और खतरनाक। जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है प्रेमचन्द कला की एकान्त साधना करने वाले विशुद्धकलाकार नहीं थे। उनकी अंतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों ही प्रवृत्तियाँ निरन्तर सजग-सक्रिय रहीं। कला का उत्कर्ष उनके उपन्यासों कहानियों में देखा जा सकता है और उनकी वैचारिक सजगता उनके लेखों-टिप्पणियों उनकी और अखबारी टिप्पणियों में उसकाल की छोटी-बड़ी सभी समस्याओं पर जागरूक सम्पादक की निर्भीक, सुलझी हुई दृष्टि मिलेगी।

प्रेमचन्द का समय (1880–1936) भारतीय आजादी के लिए संघर्ष का शिखर-काल था। जब वे पाँच वर्ष के थे तभी (1825) में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कीस्थापना हो चुकी थी। इस सङ्गठन के माध्यम से स्वतन्त्रता की गूंज पूरे देश में ध्वनित हो रही थी। 1893 में अमेरिका के सर्वधर्म सम्मेलन में विवेकानन्द का ऐतिहासिक भाषण हुआ था। उस भाषण में अपने आत्मगौरव की पहचान का आग्रह सबसे प्रबल था। विवेकानन्द के भाषणों में हीन ग्रंथियों को तोड़ने और स्वाधीन चेतना भरने की अद्भुत शक्ति थी। 1889 में तिलक और गोखले का राजनीति में प्रवेश हुआ। 1896 से महाराष्ट्र बङ्गाल और उत्तर प्रदेश में क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ तेज हो गयी थी 1908 में खुदीराम बोस की फाँसी हुई। 15 साल के इस वीर बालक के बलिदान ने सभी स्वतन्त्रता प्रेमियों को भीतर से हिला दिया। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को तोड़ने के लिए 1905 में लार्ड कर्जन ने बङ्ग भङ्ग का प्रस्ताव रखा। इसी समय भारतीय राजनीति में गाँधी जी के सक्रिय प्रवेश ने भारतीय मुक्ति संग्राम को एक नया मोड़ दिया। गाँधी जी ने अपने सत्याग्रह के द्वारा इस आन्दोलन को जन आन्दोलन में बदल दिया। 1920 के असहयोग आन्दोलन, स्वदेशी के आग्रह तथा विदेशी बहिष्कार ने भारतीय जनता में उत्साह की एक नयी चेतना भर दी। 1927–28 में काँग्रेस के आह्वान पर साइमन कमीशन का सारे देश में बहिष्कार हुआ। 1921 में रावी के तट पर "पूर्ण स्वराज्य" की माँग की गयी। 25 मार्च, 1930 को गाँधी की डांडी यात्रा शुरू हुई और नमक सत्याग्रह आरम्भ हुआ। 23 मार्च 1932 को लाहौर षडयन्त्र केश में भगतसिंह वगैरह को फाँसी पर लटका दिया। ये कुछ प्रमुख घटनाएँ हैं जो प्रेमचन्द के सामने घट रही थीं। स्वतन्त्रता की आग कभी मन्द होती थी, कभी तेज, पर वह सुलग रही थी। विदेशी सत्ता गुस्से में बड़े पैमाने

1. विविध प्रसंग (खण्ड दो) पृ० 537–538

पर गिरफ्तारियाँ कर रही थी। प्रेमचन्द ने सक्रिय राजनीति में कभी कोई हिस्सा नहीं लिया। लेकिन स्वतन्त्रता आन्दोलन में उनका योगदान किसी राजनेता से कम नहीं है। उनकी अधिकांश कथाकृतियों में राजनीतिक हलचलों का चित्रण देखा जा सकता है प्रेमचन्द के तो लेखन की शुरूआत ही इसी से हुई थी। उनकी पहली कहानी है "दुनिया का सबसे अनमोल रतन" जो 1907 में प्रकाशित हुई थी और जिसमें प्रेमचन्द ने खून की उस आखिरी बूँद को जो देश की आजादी के लिए गिरता है, दुनिया का सबसे अनमोल रतन माना है। उनकी कहानियों का प्रथम संग्रह "सोजे वतन" नाम से 1909 में प्रकाशित हुआ था जो सरकार द्वारा खतरनाक समझकर जब्त कर लिया गया था। तब से लेकर अन्त तक प्रेमचन्द के भीतर आजादी की आग ठण्ढी नहीं हुई। अपने समय की राजनीतिक घटनाओं पर प्रेमचन्द की जागरूक निगाह बराबर लगी रहती थी और उन पर वे अत्यन्त निर्भीक और संतुलित सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखते थे। 1921 में प्रेमचन्द ने स्वराज्य के फायदे" नाम से एक पेम्फलेट प्रकाशित किया। बीस पन्नों के इस पेम्फलेट में स्वराज्य के स्वरूप, उसके साधन और उसके वायदों को सरल ढङ्ग से समझाया गया है। इससे प्रेमचन्द के स्वराज्य की अवधारणा स्पष्ट होती है। वे लिखते हैं," अपने देश का पूरा पूरा इन्तजाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज्य कहते हैं।·····स्वराज का मुख्य साधन "स्वावलम्बन"है, अर्थात् अपने देश की सब जरूरतों को आप पूरा कर लेना है। जो प्राणी अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े बखेड़े अपनी पञ्चायत में चुका लेता है उसे हम स्वाधीन कह सकते हैं।··· ··· स्वराज्य प्राप्ति का दूसरा साधन उन व्यवस्थाओं का त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती हैं और उसे पराधीन, परावलम्बी बनाती हैं। अदालतें, सरकारी नौकरियाँ सरकारी शिक्षा आदि हमारी आत्मा को कुचलनेवाली, हमारे मन के पवित्र भावों को दमन करने वाली, हमें कौड़ी का गुलाम बनाने वाली, हमारी वासनाओं को भड़काने वाली संस्थाएँ हैं।·······पराधीनता ने हमारी बुद्धि को मन्द कर दिया है। हमारा मानसिक बल लुप्त हो गया है। ······· स्वराज्य हमारी बुद्धि को, हमारी विचारशक्ति को मुक्त कर देगा'·····[1]

अप्रैल 1930 के "हंस" में स्वराज से किसका अहित होगा" शीर्षक अपनी टिप्पणी में प्रेमचन्द लिखते हैं, "गरीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है यह कठोर सत्य है। हरेक आन्दोलन में गरीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है। इस आन्दोलन में गरीब ही आगे हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए, क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हीं को होगा। लेकिन जैसा हमने ऊपर दिखाने की चेष्टा की है, स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अङ्ग को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ होगा।"[2] जब महात्मागांधी ने नमक आन्दोलन शुरू किया तो प्रेमचन्द ने "आजादी की लड़ाई" शीर्षक

1. विविध प्रसंग, खण्ड दो, पृ० 270–277
2. वही, पृ० 45

टिप्पणी लिखी। इसमें वे लिखते हैं, "जो चीज जीवन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी हवा और पानी, उस पर कर लगाना नीति के विरुद्ध है। अंग्रेजी राज्य के पहले, भारत में यह कर कभी न लगाया गया था आज दुनिया भर में भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ नमक पर कर लगाया जाता है।"[१] "स्वदेशी" शीर्षक अपनी टिप्पणी में 12 जून, 1933 के जागरण में प्रेमचन्द लिखते हैं, दासता तथा दरिद्रता से—दोनों ही महान कष्ट-दायक तथा अपमानजनक रोगों से, रक्षा का एकमात्र उपाय स्वदेशी को अपनाना है : मन से, वचन से, कर्म से "स्वदेशी" हो जाना, एक कच्चा धागा भी विलायती न खरीदना……"[२] "मानसिक पराधीनता" शीर्षक जनवरी 1931 की अपनी टिप्पणी में प्रेमचन्द लिखते हैं, 'हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं पर मानसिक पराधीनता में अपने आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं।……हमें हरेक पश्चिमी चीज के पीछे आँख बन्द करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण। हमारी सभ्यता में भी रोग थे; मगर उसकी दवा योरोपीय सभ्यता की अन्धभक्ति नहीं है। उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति में खोजनी थी।….[३] "राष्ट्रभाषा का राष्ट्र" शीर्षक अपनी टिप्पणी में[४] अप्रैल 1934 (जागरण) को प्रेमचन्द लिखते हैं, "अगर उर्दू को भी हिन्दी में मिला लिया जाय—क्योंकि जहाँ तक बोली का सम्बन्ध है इन दोनों भाषाओं में कोई अन्तर नहीं—तो हिन्दी बोलने वालों की संख्या पन्द्रह करोड़ से कम नहीं है और समझने की संख्या तो इससे कहीं ज्यादा है। आश्चर्य है कि अभी तक वह क्यों कौमी जबान नहीं बन गयी।…. शायद संसार में भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी अपनी कौमी जबान नहीं है। …. नवम्बर 1935 (हंस) की अपनी टिप्पणी (राष्ट्रभाषा कैसे समृद्ध हो) में वे लिखते हैं, "हिन्दी का क्षेत्र भारत की अन्य भाषाओं से बड़ा है; लेकिन जब वह राष्ट्रभाषा बन रही है, तो उसे सभी प्रान्तीय भाषाओं से मदद लेनी पड़ेगी। हाँ, इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि अपना कोश बढ़ाने की धुन में वह अपना रूप ही न खो बैठे।"[५] प्रेमचन्द हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों को प्रान्त से उठाकर राष्ट्र तक पहुँचाने के लिए बराबर बेचैन रहे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कई लेख और टिप्पणियां लिखी : फरवरी 1935 की अपनी टिप्पणी (एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता) में वे लिखते हैं "हरेक प्रान्त के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यह आवश्यक है कि हमारी राष्ट्रभाषा में उन सारी विशेषताओं का सामन्यजस्य हो जाय और हमारा साहित्य प्रान्तीयता के दायरे से निकल कर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पहुँच जाय।"[६]

---

1. वही, पृ० 46
2. विविध प्रसंग खण्ड तीन, पृ०–169
3. वही, पृ० 188, 193
4. वही, पृ० 189–290
5. वही, पृ० 109
6. वही, पृ० 130

प्रेमचन्द के भीतर आजादी की तड़प है, स्वदेशी का आग्रह है। वे भारत की एक राष्ट्रभाषा की चिन्ता करते हैं, भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि की चिन्ता करते हैं। वे एक राष्ट्रीय पत्र की योजनाएँ बनाते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेमचन्द संकीर्ण राष्ट्रवादी हैं। बल्कि इसके विपरीत संकीर्ण राष्ट्रीयता के वे घोर विरोधी हैं। "राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता" शीर्षक अपनी टिप्पणी में वे लिखते हैं—"राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, इसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। साम्प्रदायिकता अपने घेरे के अन्दर पूर्ण शांति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने—खसोटने में उसे जरा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अन्दर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बँटा हुआ है और सभी एक-दूसरे को हिंसात्मक संदेह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अन्त न होगा, संसार में शांति का होना असम्भव है।"[1]

भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या आज भी अत्यन्त जटिल और घातक बनी हुई है। प्रेमचन्द के समय में यह समस्या और भी उलझी हुई थी। अंग्रेज शासक हिन्दुओं-मुसलमानों में साम्प्रदायिक तनाव पैदा करके अपना शासन जमाने की कुचेष्टा में लगे थे। एक जागरूक लेखक होने के नाते प्रेमचन्द की सजग दृष्टि इस महत्वपूर्ण समस्या पर थी और उन्होंने अपनी अनेक सम्पादकीय टिप्पणियों में इस समस्या पर अपने विचार प्रकट किए हैं। "हिन्दू-मुस्लिम एकता" शीर्षक अपनी टिप्पणी में वे लिखते हैं,—हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का कोई यथार्थ कारण नहीं नजर आता। फिर भी वैमनस्य है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि इसमें बहुत कम ऐसे महानुभाव हैं जो इस वैमनस्य से ऊपर उठ सकें। खेद तो यह है कि हमारे राष्ट्रीय नेता भी इस प्रवृत्ति से खाली नहीं हैं। और यही कारण है कि हम एकता-एकता चिल्लाने पर भी, उस एकता से उतने ही दूर हैं।[2] "साम्प्रदायिकता और संस्कृति" शीर्षक अपनी 15 जनवरी 1934 (जागरण, की टिप्पणी में प्रेमचन्द लिखते हैं, "साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है।········ हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुस्लिम संस्कृति है, न कहीं हिन्दू-संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति······।[3]

हिन्दू-मुस्लिम समस्या की ही तरह अछूतों की समस्या को भी लेकर प्रेमचन्द ने कड़ी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी हैं। "मंदिर प्रवेश और हरिजन" शीर्षक अपनी टिप्पणी में वे लिखते हैं, "हम स्वयं किसी भी तर्क द्वारा यह बात समझ नहीं सकते कि हाड़,

1. वही, खण्ड (दो), पृ० 333
2. विविध प्रसंग खण्डदो, पृ० 278
3. विविध प्रसंग खण्ड-तीन, पृ० 232

माँस की देहवाला, हिन्दू धर्म पर अभिमान करने वाला कोई हरिजन काशी विश्वनाथ या किसी वैसे ही पवित्र मंदिर में क्यों नहीं प्रवेश पा सकता, जबकि स्थान-स्थान पर मल-मूत्र विसर्जन करने वाला साड़ मंदिर में दर्शनार्थियों पर सींग चलाता हुआ स्वच्छंदतापूर्वक घूम सकता है। इसप्रकार की हठधर्मी का अब युग नहीं है और उच्च वर्णवालों को ईश्वर को भी अपनी "स्त्री के समान अपनी ही वस्तु" समझने की मूर्खता का परित्याग करना चाहिए।"[1] प्रेमचन्द हिन्दू समाज में व्याप्त अंधविश्वास के प्रवल विरोधी थे। 26 मार्च, 1934 के जागरण में जोरदार टिप्पणी करते हुए वे लिखते है, "हिन्दू समाज में पूजा के लिए केवल एक लंगोटी बाँध लेने और देह में राख मल लेने की जरूरत है। अगर गांजा और चरस उड़ाने का अभ्यास भी हो जाय तो और भी उत्तम। यह स्वाग भर लेने के बाद फिर बाबा जी देवता बन जाते हैं।.... हम इतने अकर्मण्य हो गये हैं, इतने पुरुषार्थ हीन कि हमें अपने पुरुषार्थ से ज्यादा भरोसा आशीर्वाद पर है, एक प्रकार से हमारी विचार शक्ति लुप्त हो गई है तीर्थस्थान क्या है? ठगों के अड्डे और पाखण्डियों के अखाड़े।.... शिक्षित समाज के सामने जितनी समस्याएँ हैं उनमें शायद सबसे कठिन यही समस्या है। यहाँ उसे अन्ध-विश्वास की पोषक प्रवल शक्तियों का सामना करना पड़ेगा जो अनन्तकाल से जनता की विचारशक्ति पर कब्जा जमाए हुए हैं।...[2]

प्रेमचन्द सच्चे अर्थों में एक मानववादी लेखक थे। मनुष्य पर मनुष्य द्वारा किया जाने वाला अत्याचार उन्हें बेचैन करता था। समाज का हर कमजोर वर्ग जो शोषित और उत्पीड़ित होता है प्रेमचन्द की सहानुभूति और उनकी लेखनी का विषय बना है। कहना न होगा कि भारतीय समाज में किसान, मजदूर, अछूत, नारी और बालक—ये सब आज भी उपेक्षित हैं और प्रेमचन्द ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में इन सब की वकालत की है। "हतभागे किसान" शीर्षक अपनी टिप्पणी में वे लिखते हैं, "भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते हैं। कई फीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियों सब उन्हीं की कमायी के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भर पेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं।"[3]

'नारी जाति के अधिकार"—शीर्षक अपनी टिप्पणी में फरवरी 1931 को प्रेमचन्द लिखते हैं, "हमारे विचार में निम्नलिखित विषयों पर नारियां को असन्तोष है और इस असन्तोष को देवियों के इच्छानुसार ही शमन करना पड़ेगा—

1—एक विवाह का नियम स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान रूप से लागू हो। कोई पुरुष पत्नी के जीवनकाल में दूसरा विवाह न कर सके।

---

1. विविध प्रसंग खण्ड दो पृ० 466
2. विविध प्रसंग खण्ड तीन पृ० 157–159
3. विविध प्रसंग खण्ड दो, पृ० 466

2—पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। वह उसे रेहन-व्यय जो कुछ चाहे कर सके।

3—पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों और पुत्रियों का समान अधिकार हो।

4—तलाक का कानून जारी किया जाय और वह स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान हो।

5—तलाक के समय स्त्री-पुरुष की आधी सम्पत्ति पाये और यदि मौरूसी जायदाद हो तो उसका एक अंग।[1]

"बच्चों को स्वाधीन बनाओ"—शीर्षक अपनी टिप्पणी में अप्रैल, 1939 में प्रेमचन्द लिखते हैं "चतुर माता-पिता बालकों के प्रति अपने व्यवहार को जितना स्वाभाविक बना सकें, उतना बनाना चाहिए, क्योंकि बालक के जीवन का उद्देश्य कार्यक्षेत्र में आना है, केवल आज्ञा मानना नहीं। वास्तव में जो बालक इस तरह की शिक्षा पाते हैं, उनमें से आत्मविश्वास का लोप हो जाता है। वे हमेशा किसी की आज्ञा का इन्तजार करते हैं।....[2]

डा० रामविलास शर्मा ने अपने एक इण्टरव्यू में कहा है कि भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक यह परम्परा रही है कि बड़े लेखक आधे सम्पादक या पत्रकार भी रहे हैं: कहना न होगा कि वह समय भारतीय इतिहास का संघर्ष काल था। उस जमाने की समस्याओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए सजग और जागरूक लेखकों ने एक रचनात्मक लेखक के साथ ही एक निष्पक्ष सम्पादक और पत्रकार का दायित्व भी निभाया। प्रेमचन्द ऐसे ही लेखक थे। भाषा, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, धर्म, समाज, राजनीति, किसान, मजदूर, साम्प्रदायिकता, छुआछूत, नागरिक शासन-सब पर प्रेमचन्द ने अपने निष्पक्ष और निर्भीक विचार व्यक्त किए हैं। पत्रकार समाज की आँख होता है। निष्पक्षता और निर्भीकता ही उसकी दृष्टि है और यही है उस दृष्टि की विश्वसनीयता। प्रेमचन्द जिस काल खण्ड में जी रहे थे वह अपने पूरे शरीर और प्राण के साथ उनके लेखन में उपस्थित है—पूरे प्रमाणिकता और विश्वसनीयता के साथ पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सही लिखा है, "अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।[3]

———

1. विविध प्रसंग खण्ड तीन, पृ० 250
2. वही, पृ० 186
3. हिन्दी साहित्य : पृ० 435

प्रेमचन्द की पात्र-परिकल्पना

—डा० त्रिलोचन पाण्डेय

प्रेमचन्द की पात्र-कल्पना को दो आधारों पर समझा जा सकता है। एक तो उनके साहित्यिक उद्देश्य के आधार पर और दूसरे उनके द्वारा निर्दिष्ट साहित्य की विशेष विधाओं के आधार पर। जहाँ तक साहित्य के उद्देश्य का प्रश्न है. प्रेमचन्द की यह स्पष्ट मान्यता थी कि साहित्य विध्वंस नहीं करता बल्कि निर्माण करता है। वह मानव चरित्र को कालिमाएँ नहीं दिखाता, उनको उज्ज्वलताएँ दिखाता है। इस दृष्टि से उनके सभी पात्र किसी न किसी आदर्श की स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं।

उपन्यासों और कहानियों के ऐसे पात्र चूंकि विशेष रूप से लेखक की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं अतः उनके अपने व्यक्तित्व का मानवी पक्ष उतना नहीं उभर पाया है। उपन्यासों में 'गोदान' के प्रोफेसर मेहता, 'कर्मभूमि' के डाक्टर शान्तिकुमार, 'प्रतिज्ञा' के अमृतराय, 'सेवा सदन' के विठ्ठलदास इसी तरह के पात्र हैं, जिनके द्वारा लेखक अपनी बात कहना चाहता है। कहानियों में 'पंच परमेश्वर' तथा 'बड़े घर की बेटी' के पात्र भी इसी श्रेणी के हैं जिनका व्यक्तित्व कुछ नैतिक आदर्शों के प्रति समर्पित हो गया है।

इसके विपरीत प्रेमचन्द की पात्र-परिकल्पना को साहित्यिक विधाओं के आधार पर देखने से यह स्पष्ट होगा कि उपन्यास की अपेक्षा उनकी कहानियों में पात्रों का चरित्र चित्रण कुछ दूसरे प्रकार का है। मनोविज्ञान की दृष्टि से कहानियों की पात्र-रचना जितनी सूक्ष्म और चरित्रमूलक है, उपन्यासों की पात्र-रचना उतनी ही स्थूल और वर्ग-मूलक है। कारण यह है कि उनके मतानुसार उपन्यास एवं कहानी-लेखन का प्रयोजन अलग-अलग था। उपन्यास को तो वे सम्पूर्ण मानव चरित्र का चित्र मानते थे। इसलिये उसकी कथावस्तु जटिल हो सकती थी। उसमें वर्ग सङ्घर्ष का चित्रण विस्तारपूर्वक किया जा सकता था।

किन्तु कहानी में इतने बाहुल्य की गुंजायश नहीं होता। यहाँ तो एक ही घटना का या चरित्र का उल्लेख होना चाहिये जिसके द्वारा व्यक्ति का आन्तरिक सङ्घर्ष ही दिखाया जा सकता है। वे उपन्यास को समाज के उस वर्ग के लिये अधिक उपयुक्त समझते थे जिसके पास धन है और जिसके पास पर्याप्त अवकाश है। कहानी जन-साधारण के लिये लिखी जाती है जिसके पास समय की कमी है। कारण चाहे जो हो इतना स्पष्ट है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेमचन्द अपनी कहानियों की पात्र-

आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग जबलपुर, विश्वविद्यालय
जबलपुर (म० प्र०)

नोट :—प्रेमचन्द सङ्गोष्ठी तिरूपति विश्व विद्यालय में पढ़ा गया।

परिकल्पना में अधिक सफल हुए है। इसलिये आलोचकों ने उन्हें कहानीकार के नाते अधिक महान माना है पर कहानियों के आकार पर ही उनकी पात्र-कल्पना पर कुछ विचार करना समीचीन होगा।

इसके पूर्व कि प्रेमचन्द के चरित्र चित्रण की गहराई में पहुँचा जाये, यह ध्यान रखना होगा कि कहानी-लेखन के विषय में उनकी निश्चित धारणायें थीं। कोई लेखक अपनी धारणाओं के आधार पर ही पात्रों का चरित्र खड़ा करता है। यह आवश्यक तो नहीं है कि वह अपनी सारी मान्यताओं का आद्योपांत निर्वाह करें। फिर भी उनका निर्वाह न करने की स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने पर उसके रचना-विधान को समझना सरल हो जाता है। आगे चलकर यह स्पष्ट होगा कि मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेमचन्द की सभी कहानियाँ एक समान स्तर की नहीं हैं। उद्देश्य के आधार पर उनका स्वरूप भिन्न है। इसके लिये लेखक का दृष्टिकोण समझना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपनी कहानी-कला पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझता है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं वल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी वन जाती हैं।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह विचार स्पष्ट किया था कि सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। वे घटना प्रधान कहानियों की अपेक्षा चरित्र प्रधान कहानियों को ऊँचा समझते थे क्योंकि चरित्र प्रधान कहानियों में लेखक का उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं होता। वह उसके एक अङ्ग को प्रदर्शित करता है। कहानी में व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। वह पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिये एक माध्यम मात्र होती है।

कहानी का आधार घटना न होकर अनुभूति है—इसी बात को स्पष्ट करने के लिये प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक सत्य पर जोर दिया था। सन् 1935 में डा० इन्द्रनाथ मदान को उन्होंने लिखा था कि मानव चरित्र में जो कुछ भी सुन्दर और मानवोचित तत्व है उसी के उद्घाटन की दृष्टि से मैं अपनी कथावस्तु का निर्माण करता हूँ। यह कार्य अत्यन्त रहस्यमय है क्योंकि कभी इसकी प्रेरणा मुझे किसी व्यक्ति से मिलती है, कभी किसी घटना से, और कभी किसी स्वप्न से। लेकिन मैं अपनी कहानी का आधार मनोवैज्ञान ही रखता हूँ।

कहानी-कला के सम्बन्ध में उपर्युक्त धारणाओं को समझ लेने पर यह देखना सरल होगा कि प्रेमचन्द ने पात्रों द्वारा किन तथ्यों का उद्घाटन किया। कहीं पर तो उन्होंने पात्रों के द्वारा मानव चरित्र की ऐसी सूक्ष्म परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है जहाँ हानि हो जाने पर भी वह प्रसन्नता का अनुभव करता है। कहीं पात्रों की मनोदशा

ही नयी घटनाओं की सृष्टि करती है। कहीं समस्याओं के घात-प्रतिघात से चरित्र निखरता है तो कहीं दुष्टता के भीतर सज्जनता झांकती हैं। उन्होंने व्यसनी पिता और युवा पुत्र के द्वन्द्वात्मक चित्ररण द्वारा विरोधी भावों का सङ्घर्ष भी दिखाया है। द्रष्टव्य यह है कि बुराई और भलाई के सङ्घर्ष में वे भलाई को पराजित होते हुए नहीं दिखाते। कारण यही है कि वे पात्रों के मनोवत उतार-चढ़ाव पर एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं, बल्कि एक समाजिक लेखक की दष्टि से विचार करना चाहते हैं।

अपने जीवन में प्रेमचन्द ने लगभग 250 कहानियाँ लिखी है जो 'मानसरोवर' के 8 भागों और 'गुप्त धन' के दो भागों में संग्रहीत हैं। इनमें से 25-30 उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ हैं जिन्हें मनोविज्ञान की दृष्टि से ८ प्रकार का माना जा सकता है। ये हैं—

1—सूक्ष्म मनस्थिति का चित्रण करने वाली कहानियाँ—जैसे 'कफन' 'पूस की रात,' 'ईदगाह', 'गुल्ली-डण्डा', सभ्यता का रहस्य', बड़े भाई साहब', आदि इन कहानियों की संख्या सर्वाधिक है।

2—पात्रों की मनोगति से घटनाओं की सृष्टि करने वाली कहानियाँ—जैसे 'बूढ़ी काकी', निमन्त्रण', नया विवाह' शतरन्ज के खिलाड़ी' आदि।

3—समस्याओं से अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करने वाली कहानियाँ—जैसे 'पञ्चपरमेश्वर' 'बड़े घर की बेटी' आदि।

4—बुराई में भलाई का चित्रण करने वाली कहानियाँ—जैसे 'अलग्यौझा' 'गिला', नमक का दरोगा', आदि।

5—हृदय परिवर्तन की कहानियाँ—जैसे-'मन्त्र' मुक्ति मार्ग', सुजान भगत' आदि।

6—विपत्ति में चारित्रिक दृढ़ता प्रदर्शित करने वाली कहानियाँ—जैसे-रानी सारन्धा,' आदि।

7—एक ही घटना का भिन्न प्रभाव दिखाने वाली कहानियाँ—जैसे 'मुक्त का यश 'दुर्गा का मन्दिर'; आदि।

8—पशु-पक्षियों से सम्बन्धित कहानियाँ—जैसे 'दूध का दाम' 'पूर्व संस्कार' 'दो बैलों की कथा', पूस की रात', स्वत्वरक्षा', आदि।

पात्र परिकल्पना और मनोविज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण करते समय उक्त वर्गों में से किसी एक कहानी अथवा एकाधिक कहानियों पर विचार किया जा सकता है। यदि प्रथम वर्ग की 'कफन' शीर्षक कहानी को ही लें तो मनोविश्लेषण की दृष्टि से यह अनुपम रचना सिद्ध होती है। घीसू और उसका बेटा माधव दोनो ही आलसी और कामचोर हैं। वे जानते हैं कि अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करने का कोई मूल्य नहीं है। उन्होंने देख लिया है कि कड़ी से कड़ी मेहनत करने के बाद भी किसान को कुछ

नहीं मिलता। बेकार बैठे रहने वाला अमीर आदमी सभी कुछ पा लेता है। वे सोचते है कि जब उन्हें भूखा ही मरना है तो मेहनत क्यों करें? प्रेमचन्द यह कहना चाहते हैं कि वे मानव प्रकृति से अकर्मण्य लापरवाह तथा चेतना-शून्य नहीं हैं किन्तु समाज की परिस्थितियों के कारण वैसे बन गये हैं। वे दूसरों के खेतों से आलू मटर चुराकर खाते हैं, गन्ना उखाड़कर चूसते हैं। घीसू ने इसी प्रकार 60 साल की उम्र काट दी और माधव उससे भी बढ़कर था।

माधव की पत्नी बुधिया ने दोनों को जीवन भर सुखी बनाया। फिर भी उसकी प्रसव वेदना पर वे उसके पास नहीं जाते। एक समझता है कि कोठरी के भीतर जाने पर दूसरा अलाव में रक्खे आलू खा जाएगा। माधव डर लगने का बहाना करके घीसू के प्रस्ताव को टाल देता है। यह एक तथ्य है कि जब हम कोई काम नहीं करना चाहते तो उसे टालने के लिये बहाने खोजने लगते हैं। इस बीच बुधिया प्रसव वेदना से छटपटाकर मर गयी। शव को जलाने के लिये लकड़ी तो थी पर कफन नहीं था। कफन के लिये रुपये इकठ्ठा कर दोनों बाजार चले। घीसू हल्का सा कफन लेना चाहता था। किन्तु माधव का विचार था कि लाश उठते उठते रात हो जायगी। अन्धेरे में कफन कौन देखता है? वे एक दूसरे की थाह लेते हुए बजाजों की दूकानों पर घूमते रहे।

शाम होते ही वे ताड़ीखाने के सामने पहुँचकर शराब पीने लगे। नशे में पूरी, मछली, कलेजी, चटनी, आचार, सभी कुछ खा गये। घीसू दार्शनिक भाव से बोला—'हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है तो क्या उसे पुन्न न होगा? माधव ने उसका समर्थन किया—"जरूर से जरूर होगा भगवान तुम अन्तर्यामी हो। उसे वैकुण्ठ ले जाना।" फिर नाच-कूद कर दोनों नशे में चूर वहीं गिर पडे। प्रेमचन्द ने इस कहानी द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण ने ही इन पात्रों को चेतना हीन बना दिया था। उत्तरदायित्व और बदनामी की भावना पर तो वे पहले ही विजय प्राप्त कर चुके थे। परलोक की बात सोचकर अपने आनन्द में बाधा नहीं डालना चाहते थे। दोनों पात्रों का चित्रण एक कुशल चित्रकार की भांति किया गया हैं इसलिये कहानी अमर हो गयी है

दूसरे वर्ग की 'निमन्त्रण शीर्षक कहानी पात्रों की मनस्थिति से घटनाओं की सृष्टि करती है, इसलिए विशेष उल्लेखनीय है। इसमें हास्य और व्यंग्य का पुट पात्रों की मनःस्थिति को और उजागर करता है। पं० मोटेराम शास्त्री ने मुरादपुर की रानी का भोज सम्बन्धी निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। उन्हें चिन्ता हुई कि सात ब्राह्मणों में किस किस व्यक्ति को सम्मिलित किया जाए। अत्यन्त लालची होने के कारण वे गाँव के अन्य ब्राह्मणों को यह सौभाग्य नहीं प्रदान करना चाहते थे। इसलिये अपने बच्चों तथा पत्नी को ही ब्राह्मण बनाकर वहां ले जाने की योजना बनाने लगे। अपने पुत्र अलगू को उन्होंने अलगूराम शास्त्री बनाया तो पत्नी सोना देवी को सोनाराम शास्त्री। प्रत्येक को सिखा दिया कि पता—ठिकाना पूंछने पर वे क्या-क्या उत्तर देगें।

जब वे बच्चों की परीक्षा ले रहे थे कि तो इसी बीच उनके परम मित्र पं० चिन्तामणि आ पहुँचे। पं० चिन्तामणि यह समारोह देखकर ताड़ गए कि आज शास्त्री जी ने कहीं गहरा हाथ मारा है। वे बच्चों से वस्तुस्थिति का पता लगाना चाहते थे किन्तु पं० मोटेराम की घबराहट देखकर समझ गए कि कोई न कोई रहस्य है। उन्हें इस बात का दुख हुआ कि उनके परम मित्र अत्यन्त स्वार्थी हैं, और वे उनसे भी बात छिपाना चाहते हैं। किन्तु कहानी यहीं पर समाप्त नहीं होती। पं० मोटेराम शास्त्री चाहते थे कि भोजन के समय कोई बराबर का आदमी होना चाहिये जिसे वे ललकार सकें। तब उन्हे पं० चिन्तामणि का स्मरण हुआ। उन्होंने सोचा कि उनके आने पर लड़के भी पत्तलें साफ करने लगेंगे। रानी से अनुमति लेकर वे उन्हें बुला लाये। अब दोनों एक दूसरे को शङ्का की दृष्टि से देखने लगे। पं० मोटेराम को भय हुआ कि कहीं ये मेरे प्रतिद्वन्दी बनकर रानी साहिबा पर अपना रंग न जमा लें दोनों के क्रियाकलाप इसी शङ्का से परिचालित होने लगे।

रानी साहिबा के सामने दोनों ने एक दूसरे की प्रशंसा की किन्तु रानी को सारा रहस्य समझते देर नहीं लगी। कुत्ते द्वारा रसोई भ्रष्ट कर दिये जाने पर पं० चिन्तामणि तो आनन्द से भोजन करते रहे, और पं० मोटेराम शास्त्री अपने बालक वृन्द सहित भूखे प्यासे घर लौट आये। वे पश्चाताप कर रहे थे कि चिन्तामणि को क्यों बुलाया। सारी कहानी लोभवृत्ति और ईर्ष्याभाव के चतुर्दिक केन्द्रित है। दोनों भावों का बड़ी सूक्ष्मता से लेखक ने प्रदर्शन किया है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द के अन्य पात्रों में भी मानव मन की अनेक झाकियाँ देखी जा सकती हैं। उनके भीतर मनोवृत्तियों के अनन्त उतार-चढ़ाव हैं जिनका विस्तार यहाँ अनावश्यक होगा। सामाजिक समस्याओं के भीतर वे किस प्रकार अन्तर्द्वन्द को उभारते थे इसके लिये उनकी 'पञ्च परमेश्वर' कहानी ही पर्याप्त होंगी। इसमें दो प्रमुख पात्र हैं—जुम्मन शेख और अलगू चौधरी। आरम्भ में ही दोनों की व्यक्तिगत और सामाजिक विशेषताओं को उभारा गया है। जुम्मन शेख कठोर स्वभाव के, स्वार्थी और ईर्ष्यालु व्यक्ति थे किन्तु आसपास के लोगों पर उनका बड़ा प्रभाव था। अपनी खालाजान की जायदाद हड़पने का उन्हें दुख नहीं था क्योंकि वह उनके विरूद्ध कुछ नहीं कर सकती थी। जब खाला ने पञ्चायत बैठाने की धमकी दी तो वे निश्चिन्त बने रहे। उनके विपरीत अलगू चौधरी का मान सम्मान धन सम्पत्ति के कारण था। दोनों परम मित्र थे। लेनदेन में साझा था। दोनों एक दूसरे पर विश्वास करते थे।

जुम्मन की खालाजान ने जब शिकायत के लिये अलगू चौधरी को सरपञ्च बनाया तो जुम्मन शेख आनन्द से फूल उठे। उन्हें पूरा विश्वास था कि वहीं जीतेगें। उन्होंने पहले से ही दर्शकों के लिये फर्श बिछाकर पान, इलायची का प्रबन्ध कर दिया। किन्तु जब अलगू चौधरी ने सरपञ्च के आसन से उनके विरूद्ध फैसला किया तो वे सन्नाटे

में आ गए। इस घटना ने उनकी मैत्री की जड़ हिला दी। अब दोनों परस्पर शिष्टाचार निभाने लगे और जुम्मन शेख बदला लेने का अवसर खोजने लगे। यह अवसर भी उन्हें शीघ्र मिल गया।

बैल के मूल्य पर जब अलगू चौधरी का समझू साहू से झगड़ा हुआ तो जुम्मन शेख सरपञ्च चुने गये अलगू चौधरी का कलेजा धकधक करने लगा क्योंकि ऐसे ही अवसर पर उन्होंने उनके विरूद्ध फैसला किया था। किन्तु जुम्मन शेख का फैसला सुनकर उन्हें इस बात पर विश्वास हो गया कि पञ्च में परमेश्वर निवास करते हैं। पञ्च को न्याय के सिवा और कुछ नहीं सूझता। उसके सामने शत्रु मित्र का भेद मिट जाता है। फिर दोनों पूर्ववत मैत्री का व्यवहार करने लगे। यहाँ प्रेमचन्द ने इन दोनों पात्रों की कल्पना एक सामाजिक और नैतिक आदर्श को स्थापित करने के लिये की है।

प्रेमचन्द की कहानियों में पशु पात्रों का एक अलग स्थान है जिनसे ज्ञात होगा कि उनकी संवेदना मानवीय पात्रों तक ही सीमित नहीं थी। अपना भला-बुरा समझने की एक सहजात वृत्ति पशुओं के भीतर भी होती है जिसे लेखक ने 'पूस की रात' दूध का दाम' 'दो बैलों की कथा' जैसी कहानियों में दिखाया है। इन कहानियों में पशु ही पात्र बनकर मनुष्य के प्रति अपने मनोभाव प्रकट करते हैं अथवा उसके स्वभाव पर टीका टिप्पणी करते हैं।

'दो बैलों की कथा' में दोनों बैल कांजी हाऊस में बन्द कर दिये जाने पर मनुष्य के अन्याय, उसकी स्वार्थ लिप्सा आदि पर प्रकाश डालते हैं। 'पूस की रात' का कुत्ता जबरा हल्कू की गोद में सोते समय अपने को स्वर्ग में समझता है। इस आत्मीयता से वह नयी स्फूर्ति ग्रहण कर खेत में दौड़ दौड़ कर भूंकता है जैसे अपने कर्तव्य पालन का प्रमाण दे रहा हो। अलाव के सामने हल्कू के आग तापते सयय वह कूं कूं करके मानो कहता है अब ठण्ड नहीं लग रही। दोनों एक दूसरे की भाषा समझ कर अलाव के आर पार कूदने का खेल करते हैं।

'दूध का दाम' कहानी में अनाथ मङ्गल के सुखदुख का एक मात्र साथी टामी कुत्ता है। दोनों एक ही खाना खाते एक ही टाट पर सोते। दोनों एक दूसरे का स्वभाव जान गये थे। आपस में कभी नहीं झगड़ते। मङ्गल कहता, "देखों भाई टामी, जरा और खिसक कर सोओ आखिर मैं कहाँ लेटूं? सारा टाट तो तुमने घेर लिया। टामी कूं कूं करता. दुम हिलाता और खिसक जाने के बदले और ऊपर चढ़ आता एवं मङ्गल का मुंह चाटने लगता। इस प्रकार के वर्णन प्राणी मात्र की भावगत एकरूपता के अनुपम उदाहरण है। इनसे लेखकी कला-कुशलता ही नहीं, मानव भावों की उसकी सूक्ष्म पकड़ भी सिद्ध होती है।

पात्रों का चरित्र चित्रण करते समय कभी प्रेमचन्द मानव जीवन सम्बन्धी ऐसी उक्तियाँ कह जाते हैं कि जिनसे उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिले बिना नहीं रहता। जैसे निम्नलिखित वाक्य हैं—

1—बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है।

2—विद्वान आदमी अवसर को अपना सेवक बना लेता है, मूर्ख अपने भाग्य को रोता है।

3—"सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है।"

4—"बहुएं सलाह और सहानुभूति के लिये अपने दल में जाती हैं, सासें अपने दल में।"

5—संसार एक रण क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है।"

6—"देवता होना गर्व की बात है, लेकिन मनुष्य होना भी अपराध नहीं।"

7—अच्छे कामों की सिद्धि में बड़ी देर लगती है, पर बुरेकामों की सिद्धि में यह बात नहीं होती।"

8—"अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है।"

9—जाने हुए रास्ते से हम निःशंक आखें बन्द किए चले जाते हैं—अनजान रास्ते पर चलना कितना कष्ट प्रद होता है।

10—"एक चुप सौ बाधाओं को हराती है।"

इन वाक्यों से स्पष्ट हो जाएगा कि प्रेमचन्द मानव मन की गहराइयों के कितने पारखी थे। ये वाक्य जीवन के एक एक मनोवैज्ञानिक सत्य की व्यञ्जना करते हैं और उनकी कहानियों में इस प्रकार की सूक्तियाँ कम नहीं हैं।

यहां एक प्रश्न किया जा सकता है कि प्रेमचन्द की अपनी परिकल्पना के लिए मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रेरणा कहाँ से मिली? उन्होंने डा० इन्द्रनाथ मदान के एक पत्र का उत्तर देते हुए लिखा था—"हाँ मैं टालस्टाय, विक्टर ह्यूगो और रोमां रोला से प्रभावित हूँ। जहाँ तक कहानियों का सम्बन्ध है, मैंने मूलतः डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रेरणा पाई है शैली का विकास स्वयं मैंने किया है। "उन्होंने स्थान स्थान पर यूरोपीय कथाकारों में अंग्रेजी के डिकेन्स, वेल्स, हार्डी, शार्लेट ब्राउनिंग, फ्रांस के मोपासां, बालजक, अनातोले फ्रांस का, और रूस के टालस्टाय, चेखव आदि का उल्लेख किया है जिससे अनुमान होता है कि उनके प्रेरणास्रोत वे कहानीकार अवश्य रहे होगें। यह दूसरी बात है कि वे उनमें किसी कथाकार से कम या अधिक प्रभावित हुए हों।

उन्होंने यथास्थान उन कथाकारों के सम्बन्ध में अपनी सम्मत्ति भी प्रकट की है। वे फ्रांस और रूस के कथा साहित्य को उच्च कोटि का मानते थे। उनकी धारण थी कि फ्रांसीसी कहानियों में सरसता अधिक रहती है और मोपासां, बालजक ने कहानी के आदर्श की उपेक्षा नहीं की है। रूस में सर्वोत्तम कहानियाँ टालस्टाय की है। चेखव की

कहानियों में रूस के विलास प्रिय जीवन चित्रों के अलावा और कोई विशेषता नहीं है। दासतावेस्की ने भी मनोभावों की दुर्बलता दिखाने की ही चेष्टा की है। फांसीसी और रूसी कहानियों की विशेषताएँ बताते हुए उन्होंने लिखा कि मोपासां, टालस्टाय आदि की कहानियाँ पढ़कर हमने उन देशों से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हम वहाँ भी अपनी आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान, मजदूर, विद्यार्थी ऐसे लगते हैं मानो उनसे हमारा घनिष्ठ परिचय हो।

प्रेमचन्द के उपर्युक्त दृष्टिकोण से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि वे यूरोपीय लेखकों की कहानियों का अत्यन्त मनोयोगपूर्वक पढ़ते थे, यद्यपि उनके विषय में वे स्वतन्त्र रूप से ही विचार करते थे। इतना अवश्य है कि वे कहानियों में मनोभाव की मात्रा दुर्बलता दिखाने के पक्ष में नहीं थे जैसा कि उनके कथा पात्रों एवं तत्सम्बन्धी विचारों से ज्ञात होता है। ऐसी स्थिति में यह जानना आवश्यक है कि उनकी चरित्र-सृष्टि के मूल में कौन से तत्व क्रियाशील थे और कौन से प्रेरणास्रोत विद्यमान थे इन विभिन्न स्रोतों तथा तत्वों की छानबीन करना तभी सम्भव है जब प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर समग्र रूप से विचार कर लिया जाय। उसके वाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप का सम्यक विश्लेषण हो जाने पर ही यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किया जा सकता है।

जहाँ तक उनकी पात्र-परिकल्पना और मनोविज्ञान का प्रश्न है, सबसे पहले उनकी सभी कहानियों की अलग अलग सूक्ष्म परीक्षा (क्लोज रीडिंग) करनी होगी। देश के भीतर बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों से उनकी तुलना करनी होगी देश के वाहर मोपासां, टालस्टाय आदि लेखकों की कहानियों की पृष्ठभूमि में भी उन्हें परखना होगा तभी पाठ-समीक्षा के द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ निश्चिय किया जा सकता है। प्रेमचन्द जन्मशती समारोह के इस महत्वपूर्ण अवसर पर साहित्य के सभी विद्वानों को इस विषय पर गम्भीरता से सोच विचार करना चाहिये।

———

प्रेमचन्द की राजनैतिक विचारधारा

राममूर्ति त्रिपाठी

मानव स्तर पर व्यक्त चेतना अपरिमेय संभावनाओं का आगार है–पर कुबुद्धि और सुबुद्धि का साचिव्य पाकर उनकी दिशा अधोमुखी भी हो सकती है और ऊर्ध्वमुखी भी। पहली दिशा जिस अशोसन स्तर तक ले जाती है हिंस से हिंस पशु भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता और दूसरी दिशा जिस शोसन स्तर तक ले जाती है–देवता भी उसकी बरावरी में कहीं नहीं ठहर सकता। प्रेमचन्द मनुष्य की ऊर्ध्वमुखी सम्भावनाओं में विश्वास रखते हैं उनकी दृष्टि में मानवता चेतना की उस विशेषता में है जो समष्टि–हित में व्यष्टिहित की समझ पैदा करती है। प्रेमचन्द व्यष्टिहित के विरोधी नहीं है, विरोधी हैं समष्टिहित के विरुद्ध पड़ने वाले व्यष्टिहित के। वे परिवार के परिवेश में ही उन बीजों का आधार मानते हैं जहां व्यक्तिगत प्रेम, उत्सर्ग, सहिष्णुता और समष्टिहित में कर्तव्य भावना, स्वाभाविक प्रेरणा का पाठ पढ़ता है। प्रेमचन्द उन लोगों का विरोध करते हैं जो मानते हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में कर्म की प्रेरणा कहां से आयेगी ? विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी ? उनकी दृष्टि मे समष्टि कल्पना के उदित होते ही स्वार्थचेतना संस्कृत हो जाती है। उनका तर्क है कि क्या तुलसी ने रायल्टी–प्रप्ति की सम्भावना से मानस लिखने की प्रेरणा ली थी ? समष्टिहित में उन्हें स्वान्तः सुख का अनुभव हुआ था और वही प्रेरणा का स्रोत बना था। यही मानव चेतना की ऊर्ध्वमुखी सम्भावना है–मानवता की दीप्ति है। यही रेखा मनुष्य की पहचान कराती है। इसी की प्रतिष्ठा उनका लक्ष्य है – जहाँ यह होगी, वहाँ उत्पीड़न की नहीं – समष्टिहित की भावना होगी। प्रेमचन्द धरती मे अमानवीय उत्पीड़न के निःशेष कर देने में ही समाज की निजात मानते हैं – व्यक्ति की मुक्ति का स्पप्न देखते हैं। वे चाहते हैं कि इस धरती पर गरीवी – अमीरी का भेद मिट जाय, सबल दुर्वल का खून चूसना बन्द कर दें – आत्मविकास का समान अवसर हो, आर्थिक विषमता दूर हो – भेदभाव निःशेष हो जाय – लोग परस्पर प्रेम की भूमि पर प्रतिष्ठित हों – हिंसा स्वयम् निःशेष हो जायगी। जहाँ प्रेम है, जिंदगी की चहक है – वही ईश्वर है, वही स्वर्ग है, वही मुक्ति है – वहीं मानवता की ऊर्ध्वमुखी सम्भावना चरितार्थ है।

प्रेमचन्द का जन्म परतंत्र भारत में हुआ – परतंत्रता में ही उनकी संस्थिति रही और परतंत्रता की ही काली चादर के तहत उन्होंने चिरनिद्रा भी ग्रहण की। परतंत्रता का दर्द, गरीबी का दर्द, वेसहारा जीने का दर्द पारिवारिक विपत्तियों का दर्द, देश की जकड़न की दर्द – अर्थात् कुल मिला कर उन्होंने दर्द और व्यथा का ही जीवन जिया था – उनका जीवन दर्द का पर्याय था – व्यष्टि दर्द, परिवार दर्द तथा देश दर्द का।

कोठी रोड
उज्जैन

यह उनका यथार्थ था और अमानवीय उत्पीड़न से समष्टि की मुक्ति तथा मानवता की ऊर्ध्वमुखी सम्भावनाओं की चरितार्थता उनका अनुध्यात स्वप्न था। दोनों के बीच दुर्निवार और दुर्लंध्व व्यवधान उनके दर्द को और तीव्र तथा बेचैन कर देता था – साहित्य की सृष्टि इस दर्द को निकालने का माध्यम था – परिवर्तन की अदम्य आकांक्षा का अस्त्र था।

अनुध्यात स्वप्न को इसी धरा पर आकार देने के लिए अपेक्षित संघर्ष की उन्होंने अप्रतिम तैयारी की थी। वे समझते थे कि संभावना को विकसित करने के लिए स्वतंत्रता चाहिए और समष्टि में व्यक्ति की स्वतंत्रता कहीं अराजक न हो जाय – टकराने न लगे – इसलिए शासन चाहिए – नियम चाहिये, उसका पालन चाहिए और चाहिए न पालन करने पर दंड का विधान। इस दिशा में धर्म, समाज और राज्य तीनों ने नियम बनाए – पर तीनों उद्दिष्ट पक्ष से हटे हुए थे। स्वस्थ परम्परा या निरन्तरता की जगह रूढ़ियों और स्वार्थ – साधना की भावना से ये प्रचंड रूप में ग्रस्त थे। उन्हें तीनों से लड़ना था। विदेशी 'सत्ता' की रोटी खाकर इसी 'सत्ता' से लड़ने में पूरी चेतना का सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में ठीक – ठीक उपयोग नहीं हो पाता था – फलतः असहयोग आन्दोलन में शरीक होकर 'सत्ता' से सम्बन्ध तोड़ लिया – नौकरी छोड़ दी – स्वराज्य आंदोलन से पूर्णतः जुड़ गए। वाइसराय को सम्बोधित करके लिखे गए गान्धी के उस पत्र में उन्हें अपने हृदय की आवाज सुनाई पड़ी जिसमें उन्होंने कहा था "हम पद के लिए नहीं, अधिकार के लिए स्वराज्य नहीं चाहते, हम स्वराज्य चाहते हैं – उन गूँगे – बेजबान आदमियों के लिए जो दिन – दिन दरिद्र होते जा रहे हैं"। इसके पूर्व वे 'धर्म की रूढ़ियों से लड़ने के लिए' परलोक' 'ईश्वर' तथा 'प्रारब्धवाद' से अपना सम्बन्ध – विच्छेद कर चुके थे। 'मंगलवार सूत्र' का सन्दर्भ है – ', इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है? कर्म और संस्कार लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिंदगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत कर के भी (बुधिया की भाँति अपनी समस्त संभावनाओं के साथ निःशेष हो जाता है) भूखों मरता हैं और दूसरा आदमी हाथ – पांव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर अनात्म? "यदि वह करुणा वरूणालय है तो उसकी लीला ऐसी दुःखद क्यों? उन्हें समाज की रूढ़ियों से भी लड़ना था – अतः 'विधवा विवाह' कर लिया। सुधारवादी संस्था आर्यसमाज के प्रभाव में। पूंजीवाद की अमानवीय संभावनाओं से जूझना था – इसीलिए अलवर रियासत के नरेश की प्रार्थना ठुकरा दी और लात मार दिया सिनेमा जैसी लक्ष्य विरोधी दिशा में ले जाने वाली – आत्मा की आवाज दबाने वाली कमाई को। उनका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया कि ईश्वर हो या न हो पर समाज में व्याप्त विषमता और अमानवीय उत्पीड़न में उसका कोई हाथ नहीं हैं – यह सब हमारी कुबुद्धि और उसकी उपजाई दुव्यर्वस्था का परिणाम है – हमें इनसे समाज को मुक्ति दिलाने के लिए लड़ना है – क्योंकि अन्ततः स्थायी आत्महित भी उसी में है।

'महाजनी सभ्यता' में उन्होंने इस सभ्यता को निरावरण कर नंगा कर दिया है और स्वीकार कर लिया कि समाज दो भागों में बंट गया है।

इस प्रकार तथाकथित क्रमागत तीनों प्रकार के शासनों की रूढ़ियों से आजीवन लड़ने की तैयारी की। एक बिंदु तो ऐसा भी आ गया जो उनके मूलरूप को औंधाकर गया। 'धर्म' और 'कुप्रथाओं' के विरोध करते करते धनी और कुप्रथाकारियों तक के विरुद्ध हो गए। बात यहाँ तक बढ़ गई कि अपने भीतर के उस देवता को भी फटकार गए – जो मनुष्य के बीच उन्हें 'देव' बनाए रहता था। झोंक में वे कह गए – "यहां देवता बनने की जरूरत नहीं हैं। देवताओं ने ही भाग्य, ईश्वर और भक्ति कि मिथ्याएं फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्यों के बीच मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा – उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं – जड़ता है"। उसकी दृष्टि में आर्थिक आधार पर खड़ी हुई इस व्यवस्था में सबको आत्मविकास का समान अवसर कहाँ है ? पूँजीपतियों से यह आशा करनी कि ये किसानों की दीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देगें – कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करनी है। इस खूखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयम् सशस्त्र होना पड़ेगा। इस तरह इन बाधक तत्वों से संघर्ष करने की पूरी मन: स्थितिमें निरन्तर सक्रिय रहे।

उनकी 'स्वराज्य' संबंधी जो धारणा थी – उसमें ये सभी बाधक थे – फलत: इन सबके प्रति उन्होंने अपनी नीति बनाई थी। उनके लिए 'स्वराज्य' का अर्थ है – इस अन्याए पूर्ण व्यवस्था में आमूल परिवर्तन – जिससे समाज में न केवल अमानवीय उत्पीडन बंद हो जाय, अपितु व्यक्ति और समाज में निहित मानवीय संभावनाओं के पूर्ण विकास का समान अवसर भी आये। अंग्रेजी अमलकारी से मुक्तिं – विदेशी दासता से मुक्ति तो उसकी पहली सीढ़ी है। स्वराज्य आन्दोलन से अनुध्यात शोभनता – अपने सुनहरे स्वप्न पाने की सम्भावना करने वाले प्रेमचन्द डोमिनियन स्टेटस् का विरोध करते थे और पूर्ण स्वराज्य के नारे को मान्यता देते थे। उनकी दृष्टि में डोमिनियन स्टेटस् का स्वराज्य एक स्वराज्य एक तो निरवार्ध किस्तों में अधिकार देने की बात करता है, दूसरे गोल मेज कान्फ्रेंस का छलावा देता है, तीसरे उस तन्त्र को बने रहने का अवसर देता है जो शोषण का यथास्थितिवाद है। उनका ख्याल था कि पूर्ण स्वराज्य गरीबों की आवाज है और डोमिनियन स्टेटस गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की। उन्हे लगता था कि अभी तो अंग्रेजी पराधीनता से ही सम्पूर्णं मुक्ति की बात सोचने वाले भी कम हैं – उसके आगे की समाज रचना की बात तो दूर है। सम्पूर्ण मुक्ति से उनका आशय था – भौतिक और मानसिक परतंत्रता से मुक्ति। ब्रिटिश सत्ता का शासन देश से तो हट ही जाय, ब्रिटिश सस्कृति या सभ्यता के घटक तत्वों अंग्रेजी भाषा और वेशभूषा आदि के प्रति समर्पण भावना – का भी भारतीय मानस से उच्छेद हो जाय। मुझे तो लगता है कि 'रंगभूमि' का सूरदास 'जमीन' के लिए नहीं, 'अपनी जमीन' के लिए संघर्ष करता है 'अपनी' जमीन ही चली जायगी – तो विकास किसका होगा ? वह मरते – मरते भी भौतिक रूप से तो

अपनी जमीन को आक्रान्त होते देखता हैं किन्तु मर कर भी अपनी नैतिक भूमि के बचे रहने का एहसास लोगों में भर जाता है और समग्रता में मुक्ति आन्दोलन को सक्रिय रखने की प्रेरणा दे जाता है।

उनका यह भी विचार है कि हम अभी 'डेमोक्रेसी' के योग्य नहीं है। जिन देशों में यह पद्धति चल रही है वहाँ अब भी अधिकार शोषक व्यवस्था का ही है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था ही इतनी दूषित है कि हम चाहे जिसे चुने, सत्ता शोषकों की ही मुट्ठी में चली जाती है —— आदर्श व्यवस्था वह है जहाँ सबके अधिकार बराबर हों – जहाँ यह ऊँच-नीच का घृणित भेद उठ जाय। उनकी कृतियों के डाकू पात्र अपनी सफाई देते हुए कहते हैं कि वे ही डाका नहीं मार रहे हैं – सारा संसार प्रस्थान भेद से एक ही गंतव्य की ओर जा रहा है सब तो वही कर रहे हैं – चाहे सेठ हों या अमले, वकील हो या डाक्टर, अध्यापक हो या नेता – आदि।

प्रेमचन्द इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'सुधारवाद' से आगे बढ़कर 'गान्धीवाद की ओर मुड़ते हैं और उनके द्वारा दिए गए तमाम कार्य क्रमों से राजनीति के व्यावहारिक स्तर पर जुड़ते हैं। अपनी आत्मा की आवाज के अनुरूप उन्हें वहाँ बहुत कुछ मिलता है। गांधीवाद सत्य की साधना का विज्ञान है। वैसे गांधी जी ने किसी वाद की स्थापना नहीं की, वे तो सत्य तक पहुँचने के लिए निरन्तर प्रयोग करते रहे इसीलिए उनकी आत्मकथा 'सत्य का प्रयोग' हैं। एक ही तत्व साध्य की दृष्टि से 'सत्य' और साधन की दृष्टि से 'अहिंसा' कहा जाता है। उनका आग्रह था कि अहिंसा के द्वारा सत्य को पाना चाहिए। सत्याग्रही सत्याग्रह के द्वारा अपने प्रतिपक्षी में नैतिक संघर्ष पैदा करता है और उसकी अधर्मवृत्तियों को कमजोर कर देता है अहिंसा अपने भावात्मक रूप में 'प्रेम' का ही नामान्तर है। इससे प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तित हो जाता है – दबाकर किया गया परिवर्तन समय पाकर विद्रोह भी कर सकता हैं। हृदय परिवर्तन (Change of heart) के गांधीवाद सिद्धान्त में प्रेमचन्द को दृढ़ आस्था थी। 'रंगभूमि' गान्धीवाद का बाइविल माना जाता है। 'गोदान' तक इस सिद्धान्त का प्रयोग पाया जाता है। मैंने ऊपर कहा है कि प्रेमचन्द को मानव की ऊर्ध्वगामी सम्भावना में विश्वास है – अतः वे पाप से घृणा कर के भी गांधीजी की भाँति पापी से घृणा नहीं करते। 'सूरदास' की सबसे बड़ी जीवनी यही थी कि वह अपने शत्रुओं का भी उपकार करता था। हाँ, सतीत्व की रक्षा हिंसा से भी हो तो गाँधी की भांति प्रेमचन्द उसके पक्षधर थे। इन्होंने वर्ग–भेद की समस्या जमीदारों एवम् कृषकों (प्रेमाश्रम) तथा मिलमालिकों और मजदूरों (गोदान) के बीच उठाकर भी उसका समाधान वर्ग संघर्ष के द्वारा नहीं, हृदय परिवर्तन के द्वारा ही दिया है। कहीं संघर्ष हुआ भी है – तो समझौते और समन्वय के लिए। प्रेमचन्दजी ने गान्धीजी के ट्रस्टीशिप में भी विश्वास व्यक्त किया है 'प्रेमाश्रम' के मायाशंकर से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया है। 'रंगभूमि' के राजा महेन्द्र कुमार की पत्नी इन्दु अपनी रियासत के प्रवन्ध के लिए ट्रस्ट बनाने का निश्चय करती है। 'प्रेमाश्रम' में सहकारिता सिद्धांत का भी अस्तित्व दिखाया गया है उन्होंने असहयोग आन्दोलन के विभिन्न रूप अपने पात्रों से

सम्पन्न कराए हैं। औद्योगिकीकरण एवम् उत्पादन के साधनों के विकेन्द्रीकरण में भी उनका विश्वास 'रंगभूमि' में व्यक्त हुआ है। कहां तक कहा जाय – स्वावलम्बन का सिद्धान्त, ग्रामोद्योग का प्रचार, चर्खें को आत्मशुद्धि का साधन, स्वदेशी आंदोलन, नमक आंदोलन, हाउसिंग स्कीम, कौंसिल बहिष्कार, नारीमान, अस्पृश्यता निवारण, साम्प्रदायिक सौमनस्य, मद्य निषेध, मांसभक्षण निषेध – आदि तमाम बातें हैं -- जो उन्हें गान्धी निर्दिष्ट विचार धारा के समीप ले जाती हैं और उनमे आस्था व्यक्त कराती हैं। इतना सब होते हुए भी एकान्ततः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेमचन्द की राजनैतिक विचारधारा अविकल गान्धीवादी है। प्रेमचन्द स्वयम् कहते हैं -- "मैं गान्धीवादी नहीं हूँ, केवल गांधीजी के चेंज आफ हार्ट में विश्वास करता हूं।" इतना ही नहीं, कहीं-- कहीं वे गान्धीवाद की मान्यताओं से असहमति भी व्यक्त करते हैं। और सर्जक 'वाद' की सीमा में यदि बंधा, तो वह आवृत्त होने लगता है – अतः होना भी नहीं चाहिए उसे 'वादी'। दूसरे, प्रेमचन्द संवेदनशील सर्जक हैं – बदलते युग और वातावरण के उभरते हुए विचारों से प्रभावित होते हैं। गान्धी जी के अनुसार पवित्र साधन और साध्य परक सिद्धान्त अध्यात्म की भूमि पर खड़े व्यक्ति साधक के लिये तो अपने विश्वास और श्रद्धा के अनुरूप फलप्रद हो सकता है– परन्तु समाज के स्तर पर उस मानवतावादीं एहिक साधक के लिये अंततः ग्राह्य नहीं हो सकता जिसे "सर्वात्म और" आत्म" का द्वन्द्व ग्रस्त किये हुए है। गान्धी जी आत्मवाद पर गहरी आस्था रख कर आत्मा की आवाज पर निर्णय लेते हैं – और प्रेमचन्द समाज की कुव्यवस्था में उसे कहीं नहीं देखते। वे इसे मनुष्य की कु–बुद्धि की उपज मानते हैं और सु–बुद्धि से ठीक रखने में विश्वास करते हैं। गान्धी जी किसी बड़ी शक्ति के आह्वान पर अपना अभियान चलाना चाहते हैं – प्रेमचन्द अपने मानवीय तथा एहिक चिंतन के दायरे में चलते हैं – इसलिए दोनों का मेल सम्भव नहीं है। गान्धी जी का पंथ ,कश्विक धीरा' का पथ है और प्रेमचन्द बैचेन हैं और यथासम्भव शीघ्र समाधान चाहते हैं। आत्मा और उसकी लोकमंगलोनुमुखता में गहन आस्था रखने वाले फलतः आत्मपीड़ा के रास्ते पर पीड़ा का शमन चाहने वाले गाँधी से प्रेमचंन्द की एकान्ततः एकरुपता असम्भव है। गांधी जी किसी भी स्थिति में अन्य असमाधान सम्भव होने पर हिंसा का रास्ता नहीं पकड़ते, प्रेमचन्द उग्र हो जाते हैं और अन्यायी के प्रति देवतापन दिखाना जड़ता समझते हैं। न तो गान्धी का प्रस्थान बिंदु प्रेमचन्द का प्रस्थान बिंदु है और न ही गन्तव्य बिंदु – मध्य में लोकमंगल की भूमिका पर दोनों मिलते है – या दोनों के विचार मिलते हैं या उतनी दूर तक उन्हें गांधी अनुकूल लगते हैं। वैसे व्यक्ति रूप में वे फिर भी गाँधी जी की स्तुति करते हैं – "महात्मा जी सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्युनिज्म से भी। वह अपरिग्रहवादी है" यह उद्‌गार सन' 1933 का है। यह उनके संस्कार और विचार का अन्तराल है। 'कांग्रेस और सोशलिज्म पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है – "महात्मा जी महात्मा हैं और जवाहर लाल जी महात्मा नहीं, हम आप जैसें मनुष्य हैं।

कांग्रेस का बहुत बड़ा बहुमत अभी तक महात्मागाँधी के साथ हृदय परिवर्तन का समर्थक है, रक्तमय क्रांति का नहीं (सन् 1933)

यह तो स्पष्ट है कि अपने विचारक रूप के एक दायरे में वे गाँधीवादी थे – स्वराज्य आंदोलन से जुड़े रहने के क.रण कांग्रेसी थे – कांग्रेस से उनका सम्बन्ध था। सन् 1926 में उत्तर प्रदेश की कांग्रेस कमेटी का झुकाव समाजवादी सिद्धांतों की ओर हो गया था। धीरे – धीरे कांग्रेस पार्टी में ही समाजवादी विचारधारा के लोगों का प्रवेश होने लगा और 1931 में कांग्रेस के भीतर ही एक समाजवादी पार्टी उभर आई। सन 1933 में विधिवत् उसकी स्थापना हो गई और उसने अपने अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किए। इस नए संगठन से कांग्रेस को एक नई शक्ति मिली और देश ने एक नया मोड़ लिया – गान्धी जी इससे असन्तुष्ट हो गए और कांग्रेस से अपने को अलग कर लिया यहीं से वामपंथी विचारधारा का प्रभाव कांग्रेस में बढ़ने लगा और दक्षिणपंथी गान्धीवादी विचारधारा मिटती गई। इस पर आंशिक रूप से मार्क्सवाद का भी प्रभाव था। वैसे तो प्रेमचन्द रूसी राज्यक्रांति के बाद से ही साम्यवादी बोल 'शैविज्म के प्रति काफी आकृष्ट हो गए थे – पर सीमाएँ उन्हें खुलकर उधर जाने नहीं देती थीं -- अन्यथा वे प्रेमशंकर को अमरीका से आया हुआ न मानकर रूस से आया मानते। किन्तु जब कांग्रेस में ही उनकी बढ़ती हुई अधीरता और उग्रता के अनुरूप समाजवादी पार्टी आ गई – तब वे उसके साथ हो लिए। सन् 1934 में इसीलिए 'जागरण' को समाजवादियों को सौंप दिया। विविध प्रसंग' में उन्होंने स्वीकार किया – 'भारत जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है, जिनमें पढ़े–अनपढ़े सब तरह के मजदूर हैं, सोशलिज्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है? अगर आज कांग्रेस पार्टी का रेफरेंडम हो, तो ख्याल है बहुमत सोशलिज्म का होगा – पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज्म भी नजर आयेगा"। भारतीय डेमाक्रेटिक सोशलिज्म एकदलीय तन्त्र नहीं है – जब कि रूसी सोशलिज्म एकदलीय है। इसी प्रकार वह गान्धीवाद से भी भिन्न है। गान्धीजी कहते हैं – "समाजवादी और मुझमें यह बड़ा भारी भेद है। उसका सिद्धान्त यह है कि पहले सारी दुनियां को अपने ख्याल का बना लें और फिर सब लोग वह करें। एक – एक के आचरण करने की कोई बात उनकी योजना से नहीं हैं। अहिंसा का मार्ग यह नहीं है -- उसका प्रारंभ व्यक्तिगत आचार से होता है।"

प्रेमचन्दजी को गान्धीजी के 'हृदय परिवर्तन' से आस्था नहीं उठी – आस्था उन लोगों से उठी – जो महात्मा गान्धी की तरह महात्मा नहीं, मनुष्य थे। उन्होंने साफ – साफ कहा है – "अगर महात्मा गान्धी की भांति सभी कांग्रेस मैन या कम से कम उसके नेता ही सच्चे सत्याग्रही होते और मन में बिना हिंसा या प्रतिकार का भाव आये, शत्रु से प्रेम करते हुए उसकी नीति का विरोध कर सकते, तो उसकी अवश्य विजय होती, क्योंकि गवर्नमैण्ट के अधिकारियों पर उनकी तपस्या का असर पड़ता और आत्महीन गवर्नमैण्ट में भी कहीं से चेतना उत्पन्न हो जाती पर कांग्रेस मैन मनुष्य हैं, तपस्वी नहीं और उनकी अहिंसा अपनी असमर्थता के ज्ञान से पैदा हुई है – इसलिए उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है"

"अब तो फैसला सम्पूर्णतः भौतिक क्षेत्र में होगा। अगर हम कोई ऐसी व्यवस्था निकाल सकें जिससे नौकरशाही को ठेस लगे, तो हमारी विजय है अन्यथा रस्सा खींचने

वालों की भांति जहां हारने वाला लक्ष्य से दूर होता जाता है – हम भी लक्ष्य से दूर होते जायेगें।"

समस्या कठिन है। असहयोग आन्दोलन के विभिन्न रूपों की निःसारता निरूपित करते हुए प्रेमचन्द ने कहा कि महात्माजी की तरह चलना आध्यात्मिक बल के अभाव में सम्भव नहीं। राजनैतिक क्षेत्र वालों को मिलने वालों पुरस्कारों में भी-कुछ की आशा नहीं, आज तो मिशनरियों की जरूरत है – बल्कि वह मिशनरी जो मुट्ठी भर चने पर दिन काट सकती है। प्रेमचन्द जी आरम्भ से ही महात्माजी और नेहरुजी को राजनीतिक आदर्शों, नीति और मनोभावों की भिन्न भूमि पर खड़ा देखा है और नेहरुजी का समर्थन करते हुए वे कहते है – "आपकी नीति वही है जिससे भारत के गरीब से गरीब आदमी को भी दैहिक और मानसिक योजना और समान अवसर मिले" नेहरुजी (प्रेमचन्द जी के शद्बों में) अपने व्याख्यान में कहते रहे" दुःखजनक स्थिति दूर करने का एकमात्र उपाय साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार समाज का संगठन करना है। अन्य पद्धतियों के द्वारा अब तक हल नहीं हुई और उनसे हल होने की सम्भावना भी नहीं है। श्री नेहरू ने अपने व्याख्यानों में 'साइंण्टफिक सोशलिज्म' शब्द का व्यवहार किया"। प्रेमचन्द की दृष्टि में में क्या हिन्दू क्या मुसलमान, क्या स्वदेशी क्या विदेशी – सभी पूंजीपति एक जाति के हैं। स्वराज्य मिलने से भी क्या होगा नागनाथ की जगह सांपनाथ के बैठने से क्या फर्क पड़ता है।

सन् 1933 में प्रेमचन्द यह भी कहते हैं कि समाजवाद पश्चिम में अपने कार्यक्रम और दृष्टिकोण दोनों ही में विध्वंसात्मक है। पश्चिम में समाजवाद की प्रगति देखकर ही यह नतीजा निकालना ठीक नहीं। क्या यह जरूरी है कि योरोप के समाजवाद ने जिस नीति को अपनाया उसे भारत भी अपनाए? योरोप में जैसी परिस्थिति है वैसी भारत में नहीं है। यहां तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही से समाजवाद के लिए मैदान साफ कर दिया – हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है – तो छोटे – बड़े, अमीर गरीब का भेद क्यों – फिर उसी 33 में विरुद्ध बोलते हुए भी नजर आते हैं -- "वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुँचने की चेष्ठा की। उसनें समझा समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायगा -- लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया -- जिसका परिणाम असफलता के सिवा क्या हो सकता था। हजरत ईसा, महात्मा बुद्ध – आदि सभी प्रवर्त्तकों ने मानसिक और आध्यात्मिक सस्कार से समाज का संगठन बदलना चाहा। हम यह नहीं कहते कि उनका रास्ता गलत था। नहीं, शायद वही रास्ता ठीक था, लेकिन उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। अन्तर्राष्ट्रीयता, एकात्मवाद या समता तीनों मूलतः एक ही हैं। उनकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं – एक आध्यात्मिक दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली जब तक सम्पत्ति व्यक्तिवाद का अन्त न होगा। संसार को शान्ति नहीं मिलेगी।

इस प्रकार प्रेमचन्द ने रचनाओं के माध्यम से या साक्षात् जितना जो कुछ कहा, सोचा और विचारा है – उससे उनके विचारों पर गतिशीलता का स्पष्ट आभास मिलता है। इन अभिव्यक्तियों में उनके संस्कार और बुद्धि का संघर्ष अन्त तक लक्षित होता है। उनका संस्कार अभीष्ट 'समता' की स्थापना के लिए 'हृदय परिवर्तन' के आध्यात्मिक और व्यक्तिवादी समाधान का तहे दिल से खण्डन करने में हिचकता था और मानता था कि यह रास्ता गलत नहीं है, पर उसके लिए जिस आध्यात्मिक बल की अपेक्षा है – वह गान्धी जी को छोड़कर और है किसमें ? कितने लोग हैं जो सामने खड़ी साम्राज्यवादी ताकत के मानस को यह एहसास दिला सकें कि सत्याग्रही उससे प्रेम करता है और उसकी दुर्नीतियों का विरोध करता है। विदेशी ताकत आध्यात्मिक बल के अभाव में उसे असमर्थ अहिंसा समझती है – फलतः न वह प्रभावित होती है और न उस अस्त्र का कोई प्रभाव हो सकता है। अर्थात् हृदय परिवर्तन हो सकता है। या तो इस अस्त्र का प्रयोग आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति कर सकता है या उसके प्रति सर्वात्मना समर्पित समष्टि कर सकती है – जो बुद्धिगत स्वाभाविक विषमता के कारण सम्भव नहीं है। स्वयम् उसके भक्त नेहरू ही विचारों में विभक्त थे और समाजवादी विचारधारा की ओर उन्मुख थे – मार्क्सवाद से प्रभावित समाजवादी समाधान इस्तेमाल करना चाहते थे। इसीलिए उनके निर्देशन में चलने वाली कांग्रेसी ताकत ने समाजवादी समाधान का नारा दिया – तब गान्धी ने अपना सम्बन्ध कांग्रेस से तोड़ लिया। अन्ततः उन्हें भौतिक समाधान का ही रास्ता पकड़ना पड़ा। उन्होंने देखा कि सृष्टि में सुदूर परम्परा से चलती चली आ रही आध्यात्मिक पद्धतियों से देश की विषमता नहीं गई – हो सकता है इससे व्यष्टि का कल्याण हुआ हो, पर समष्टि का कल्याण नहीं हुआ। विचारधारा वास्तव में उतनी दोषी नहीं है – जितना उसका वाहक मनुष्य का स्वभाव – निम्नगामी स्वभाव दोषी है। कौन सी ऐसी आध्यात्मिक विचारधारा है जो 'आसक्ति' या व्यक्तिगत परिग्रह का निषेध नहीं करती और दुनियां की ऐसी कौन सी विचारधारा है जो 'आसक्ति' या सम्पत्ति के प्रति व्यक्तिगत राग का समर्थन करती है और फिर भी विषमता का विरोध करती है – पर इससे मानवता का हुआ क्या ? आध्यात्मिक विचारधारा हो या साम्यवादी धारा हो – इस बिन्दु पर दोनों सहमत हैं कि 'समता' होनी चाहिए और इसका मूल रोग है – सम्पत्ति के प्रति व्यक्तिगत राग। समस्या कार्यान्वयन के माध्यम का है और माध्यम है तीन– रक्त क्रांति से व्यक्ति सम्पत्ति वाद को – 'आसक्ति' को दबा देना – या समाप्त कर देना, दूसरा एक तरह का विचार फैलाकर सबको एक विचार का बना लेना और फिर उसे कार्यान्वित करना या तीसरा व्यक्तिशः जितना सम्भव हो सुधरते जाना। एक दलीय शासन दबाता है और विषमता विरोधी व्यवस्था कायम करता है। दबाने से सम्भव है कभी स्वभाव विरोध करें सभी दलों को विचार स्वातंत्र्य का मौलिक अधिकार देकर यह आशा करना कि सभी एक विचार के हो जायेगें – दुराशाही है। यही स्थिति 'हृदय परिवर्तन' की पद्धति का भी है। प्रेमचन्द जी कहते हैं कि जिस प्रकार तुलसीदास जी की मानस निर्माण में प्रवृत्ति हुई थी – उसी प्रकार समष्टि हित की भावना से चित्त संस्कृत हो जाता है और व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्जन में व्यक्तिगत राग जैसे प्रेरणा देता है – वैसे ही समष्टिगत राग भी प्रेरक हो सकता है।

बात तो बहुत ही उत्तम है – पर प्रकृति मनुष्य को जितना जैसा रागांध पैदा करती है – पर वे सभी तुलसीदास बन जाय तो क्या बात है ? तुलसीदास बन जाने के बाद कौन सी समस्या हैं ? सारी समस्या तो उस तरह बनने की है । अहिंसा समर्थ की शक्ति है – असमर्थ की नहीं और यह सामर्थ्य आध्यात्म बल में है । हिंसा असमर्थ लोगों का भौतिक बल हैं– हम सब अधिकांश इसी भूमि के हैं – समष्टि के स्तर पर यही होता आया है – प्रेमचन्द आध्यात्मिक बल के अभाव में इसी दशा की बात सोचते हैं और महाजनी सभ्यता' को निःशेष करने वाली बोलशेविक पद्धति की ओर मुड़ते हैं – लेकिन जैसे आध्यात्मवादी आचार – विचार तथा आस्था की तह तक जाने मे उनकी बुद्धि असमर्थ रह जाती है वैसे ही यथार्थवाद की तह में पहुँच हृदय से सर्वात्मना अनुमोदन करने में भी वे असमर्थ हैं । इस तरह न वे पूर्णतः गान्धीवादी हैं और न पूर्णतः साम्यवादी । उनका गान्धीवाद है "चेंज आफ हार्ट' तक और साम्यवाद 'शोषण की समाप्ति' तक । संस्कार उनके परम्परागत है अतः 'हिंसा' का मुक्त समर्थन नहीं है और बुद्धि अन्य उपायों को अव्यावहारिक समझकर 'हिंसा' के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं देखती – बीच का रास्ता 'समाजवादी है जो एक दलीय शासन में विश्वास नहीं रखकर सर्वदलीय स्वातंत्र्य का पक्षधर है – रास्ता वैचारिक क्रान्ति का पकड़ना है । नेहरू जी शक्ति सम्पन्न समूह के हृदय परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते थे – वे व्यक्तिगत ही मानते थे और वह भी कभी कभी । उन्होंने भी हृदय परिवर्तन वाद से हटकर समाजवादी समाधान को महत्व दिया । प्रेमचन्द की विचार धारा इसी के इर्द – गिर्द चक्कर मार रही थी ।

यह सही है कि गान्धी का मार्ग व्यक्ति – साध्य है, समष्टि अथवा शासन द्वारा उसकी व्यावहारिकता सम्भव नहीं हैं । यह भी सही हैं कि उनका मार्ग देवताओं का है और प्रेमचन्द मनुष्य हैं, जवाहर लाल मनुष्य हैं – पर इससे क्या यह निष्कर्ष निकाला जाय कि आत्मवाद पर आधारित 'हृदय परिपर्तन' का आदर्श निरर्थक, निराधार असंगत और अग्राह्य है ? पूंजीपतियों के विषय में यह कहना कि उनसे शोषितों के रक्षण और सम्बन्ध की प्रत्याशा खाल की कुत्ते से रखवाली करने की प्रत्याशा है–मनुष्यता से विश्वास का उठ जाना नहीं हैं ? मनुष्य कुत्ते से भी बदतर है पर कुत्ते से ऊपर उठने की भी सम्भावना है । क्या इस सम्भावना को शत–प्रतिशत नि.शेष मान लिया जाय ? क्या प्रेमचन्द का यही पक्ष है ?

मैं यह नहीं मानता कि संसार जब तक है तब तक कोई ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब केवल अच्छाई ही अच्छाई हो – बुराई हो ही नहीं । विश्व का चिन्तन और अपना अनुभव बताता है कि संसार सत् और असत् के ताने–बाने से बना हुआ हैं । यहाँ एकान्ततः 'सत्' या 'एकान्तेतः' असत्' का अस्तित्व संसार के रहते असम्भव है – इसीलिए यह मानना कि केवल करुणा और प्रेम से ही संसार चल सकेगा अथवा एक ऐसी स्थिति आ जायगी – जब सारी समष्टि अपरिग्रही हो जायगी और तृप्त भी । कहीं किसी तरह का संघर्ष न होगा । राज्य की आवश्यकता न होगी – शासन निष्प्रयोजन होकर नि;शेष हो जायगा । सही नहीं है । महर्षि अरविन्द का 'अतिमानव' परक सिद्धन्त सही भी हो, तो भी हम 'मानव के सन्दर्भ की बात कह रहे हैं – यह ज्ञातव्य हैं । यहाँ कुछ भी निरपेक्ष नहीं हैं – संसार द्वन्द्वमय हैं । यहाँ काँटे भी हैं और फूल भी हैं, सुख भी हैं दुःख भी है – हास भी है रुदन भी है, करुणा

भी है क्रोध भी है। प्रकृति ने हमारे अन्तस् में दोनों भाव दिए हैं—फलतः उन दोनों की सार्थकता है, उन दोनों की उपयोगिता है – दोनों का विधान प्रकृति ने लोकमंगल के लिए किया हैं – अतः टालस्टाय या गान्धी का एकांगी सिद्धान्त व्यक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी समष्टि की दृष्टि से अव्यवहार्य है – परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह बात सर्वथा अस्वीकार्य है कि हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त गलत है – ऐसा मानना 'मनुष्यता' पर से विश्वास का उठ जाना है। कुत्ता और मनुष्य एक नहीं है। जो लोग गान्धी जी के इस सिद्धान्त को सर्वथा गलत मानते हैं – वैज्ञानिक विकासवाद भी उनका साथ किस तरह दे सकता है? विकास की इस महायात्रा में मानव स्तर पर विकसित चेतना की लोकमांगलिक संभावनाएँ किस प्रकार अमान्य हो सकती हैं?

प्रेमचन्द का यह मानना कि सौंदर्य सामन्जस्य में है और साहित्य इसी सामन्जस्य का प्रकाशन करता है। प्रेमचन्द ने कहा है कि चिड़ियों का चहचहाना, नदियों का कलकल निनाद, प्रातःकालीन प्राची पटल की अरुणप्रभा – ये सब हमें इसीलिए सुन्दर लगते हैं कि इनमें एक हारमनी है – एक सामन्जस्य है। हमारा निर्माण भी अनेक तत्वों को सामन्जस्य में निहित है – अतः जहाँ सामन्जस्य या अनुरूप्य लक्षित होता है – वहाँ सौंदर्य दिखाई पड़ता है। सामन्जस्य विरोधी तत्वों के समन्वय में ही लक्षित होता है – अतः विरोधी तत्व करूणा के साथ क्रोध का भी उपयोग सामन्जस्य की भूमिका पर किया जाय तो अपेक्षित लोकमांगलिक सौंदर्य शतमुख प्रस्फुटित होगा। हाँ, विरोधी भावों में अविरोध या सामन्जस्य को उजागर करने में व्यापक रागतत्व का अस्तित्व होना चाहिए। यह 'स्नेह' ही है जो परस्पर विरोधी अग्नि और वर्तिका के विरोध को शान्त कर लोकमांगलिक प्रकाश – विकीर्णन का माध्यम बना देता है। वैसे ही व्यापक रागतत्व का विधान तो आवश्यक है – पर उसके वक्षस् पर विरोधी भावों का भी विधान व्यवहार की दृष्टि से समुचित हैं। गान्धी जी की हिंसा और टालस्यापक्षी क्रिश्चियन हिंसा में अन्तर भी है। गान्धी जी ने कश्मीर पर हुए आक्रमण का उत्तर हिंसात्मक प्रत्याक्रमण से देने में अपनी सहमति दी थी। वास्तव में मारना या न मारना हिंसा का वास्तविक स्वरूप नहीं है – वास्तविक स्वरूप है – अनासक्ति पूर्वक लोकमंगलोपयोगी कार्य सम्पादन। अनासक्ति ही अहिंसा है और आसक्ति हिंसा। मानवता को क्लेश या उसका शोषण 'आसक्ति' के कारण होता है – यदि मानव की क्रिया लोकमंगल में व्यष्टिमंगल को डुबोकर कार्य सम्पादन करें – तो वास्तविक अहिंसा है। यह अहिंसा अपने विध्यात्मक रूप में व्यापक प्रेम ही है। अतः 'आसक्ति' को हटाना मुख्य है – यही 'हृदय परिवर्तन' हैं। आत्यंतिक रूप में क्लेश का समुच्छेद इसी से सम्भव है। इसलिए यह कहना कि गान्धी जी पूँजीपति वर्ग के हितों के प्रच्छन्न रक्षक और बुर्जुवा वर्गीय चिन्तन के प्रतिनिधि थे – कृषकों और मजदूरों के विरोधी थे – विचारणीय है। यह सही है कि कांग्रेस के अन्तर्गत या उससे बाहर जब वे कृषकों या मजदूरों के हिंसक संगठन को देखते थे – तो उसका विरोध करते थे और उससे अपने को पृथक् कर लेते थे। इसका यह मतलब नहीं कि वे संगठन के विरोधी थे, नहीं हिंसक संगठन के विरोधी थे। हिंसा को वे पशुवत मानते थे। अहिंसा उनकी दृष्टि में सर्वथा अपराजेय आत्मबल था। लोकमंगल या राष्ट्रमंगल के लिए की जाने वाली हिंसा अहिंसा है – क्योंकि वहाँ प्रेरक वैयक्तिक

अनासक्ति है – जो अहिंसा की अन्तरात्मा है। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि फिर तो रक्त क्रान्ति में विश्वास रखने वाले मार्क्सवादियों का वही सिद्धान्त अहिंसा सिद्धान्त हुआ, जिसमें कहा जाता है यह उद्देश्य की सात्विकता है जो साधन की सात्विकता निर्धारित करती है। साधन साध्य – निरपेक्ष होकर पवित्र या अपवित्र नहीं होता। नहीं, दोनों में अन्तर है–पहला आत्मवाद में आस्था रखकर सब में एकता देखता है और साथ ही मनुष्यता में भी विश्वास रखता है – जबकि दूसरा न आत्मवाद में विश्वास रखता है और न ही मनुष्यता में। उसकी सारी आस्था समाज के एक विशेष प्रकार के शोषणहीन व्यवस्था में हैं – सर्वहारा वर्ग के हाथ में सत्ता दिलाकर एक दलीय तन्त्र के द्वारा उत्पादन और वितरण के एकाधिकार को हाथ में ले लेने में है – व्यक्ति—संमत्तिवाद के हिंसक क्रान्ति पर आधारित समुच्छेद में है, विरोधी स्वर के दवा देने में हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि पूंजीपति वर्ग का हृदय किसी भी स्तर पर किसी भी परिस्थिति में परिवर्तितित हो ही नहीं सकता। अतः राष्ट्र के कल्याण के लिए उचित अनुचित सब कुछ किया जा सकता है और चूंकि कल्याण राष्ट्र का है अतः साधन के अनुचित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

गान्धी जी मानवीय सम्भावना पर विश्वास रखते हैं अतः लोकमंगलविरोधी तत्वों को राह पर लाने के लिए नैतिक—वैचारिक प्रक्रिया अपनाने का सन्देश देते हैं – आत्मबल से हीन समष्टि या शासन हिंसा का मार्ग अनिवार्यता की स्थिति में या परिस्थिति विशेष में अपना सकता है – पर तदर्थ एकमात्र हिंसक क्रान्ति का ही विकल्प हैं – वे यह नहीं स्वीकार करते। हिंसा से पूंजीपति शोषकों को संरक्षण देना और ट्रस्टीशिप का लुभावना सिद्धान्त बताना अप्रत्यक्ष रूप से पहले शोषण और बाद में दया दिखाने का नाटक है – क्यों न ऐसी प्रक्रिया अपनाई जाय कि राष्ट्र में अमीर और गरीब का भेद ही समाप्त हो जाय ? – यह तर्क भी दिया जाता है। सही तर्क लगता है, पर यह भेद क्या अमीरों की एक साथ हत्या करके ही मिटाया जा सकता है ? और कोई रास्ता सम्भव हीं नहीं है ? तमाम रियासतों का विलयन हुआ – क्या वह रक्त क्रान्ति के माध्यम से हुआ ? क्या ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारत को रक्त कान्ति के भय से छोड़ा या रक्तक्रान्ति से छोड़ा ? लोकमत से सब सम्भव है यदि एक व्यापक वैचारिक क्रान्ति से धीरे—धीरे विरोधी लोकमत और माहौल बन जाय और राष्ट्र की बड़ी जनशक्ति एक तरफ हो जाय – तो यह भेद समाप्त नहीं हो सकता ? एक बड़ी जनशक्ति के चाहने पर क्या नहीं हो सकता ? क्यों आज विश्व की शक्तियाँ अपनी मैंजारिटी —बहुमत—चाहती हैं ? हिंसक अस्त्रों की वर्तमान प्रगति इतनी है कि उसके बल पर अमीर—गरीब का भेद तो समाप्त नहीं होगा – हाँ, यह हो सकता है कि कोई पृथ्वी पर रह ही न जाय ? फलतः इस भेद—समाप्ति का मार्ग वैचारिक क्रान्ति का ही होना चाहिए और उसका समर्थन देने वाली एक बृहद् जनशक्ति होनी चाहिए। वैसे गान्धी जी व्यक्ति के ही स्तर से मानव हित की दिशा में अग्रसर होने के पक्षधर हैं – जो समाज और शासन के स्तर पर एक ऐसी तपस्या है – जिसके लिए हर व्यक्ति और समूचे शासनतन्त्र से गान्धी होने की अपेक्षा करती है और यह एक अव्यावहारिक स्वप्न है। इसीलिए गान्धी–व्यक्ति के प्रति आस्थावान् होते हुए भी वे मध्यमार्ग के पक्षधर ही रहे थे।

———

प्रेमचन्द : समीक्षा के प्रश्न

डा० प्रभाकर माचवे ★

1979 के 31 जुलाई से प्रेमचन्द शताब्दी वर्ष शुरू हुआ। तब से अबतक अनेक संगोष्ठियों में भाग लेना पड़ा। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे हिन्दी, अंग्रेजी मराठी में भी। रेडियों और दूरदर्शन पर भी प्रेमचन्द सम्बन्धी चर्चाओं में भाग लिया कई पुस्तकें इधर प्रेमचन्द पर संकलन्तरात्मक, छपी हैं। उनमें भी मेरे लेख हैं। इन सबके बाद और क्या मेरे पास लिखने को बहुत कम है। सुधी और शोध-वृत्ति के पाठक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में मेरे लेखादि पढ़ ही चुके होंगें। पर डा० कृष्णबिहारी मिश्र का आग्रह है और वाराणसी के विख्यात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पत्रिका है इसलिए पुनः सबको भाने वाली कुछ बाते लिख रहा हूँ; जो प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और साहित्य को लेकर इस वर्ष जो बहुत समीक्षा, इहापोह हुआ है, उसी को लक्ष्य करके लिख रहा हूँ।

इधर कलकत्ते में एक डेढ मास में दो ऐसी सभाओं में जाने को मिला जिसमें वाङ्गला लेखक भी उपस्थित थे और वहाँ सुनी दो परस्पर-विरोधी बातों से अपनी बात शुरू करता हूँ। जादवपुर युनिवर्सिटी कलकत्ते में बड़ी प्रगतिशील शिक्षा संस्था है। वहाँ के छात्रों ने प्रेमचन्द जयन्ती मनाई और मुझे एक वक्ता के रूप में बुलाया। 10'30 बजे का समय था, कलकत्ते में कोई भी सांस्कृतिक साहित्यिक आयोजन समय पर कभी नहीं शुरू होता विद्यार्थी हमें लेने ही 10'15 बजे आये। जब हाल में पहुँचे तो हाल बेहाल कञ्चन कुमार और श्री महादेव साहा और हम एक घण्टा बतियाते रहे। जब बारह बज गये और छिटपुट दो-चार लड़का-लड़की के अलावा कोई श्रोता नजर नहीं आया तो धैर्य का बाँध छूटा। त्योंहि युनिवर्सिटी में इस कार्य के लिए छुट्टी घोषित कर दी गई। और हाल चिड़ियाघर की तरह आबाद हो गया। चिड़िया इसलिए कह रहा हूँ कि अधिकांश श्रोतृमण्डली लड़कियों से भरी थी। कुछ तुलनात्मक साहित्य विभाग के प्रोफेसर जी भी पधारे। कार्यवाही शुरू हुई। एक लड़की ने बाँगला में पेपर पढ़ा। शुरू ही यों किया गया था—प्रेमचन्द की गाँधीवाद पर बिलकुल आस्था नहीं थी—बाद में महाजनी सभ्यता, 'कफन' आदि से उद्धारण। दूसरे युवक खड़े हुए। उन्होंने बहुत लम्बी चौड़ी भूमिका लेखकवाद, मानवाद आदि पर बाँधकर प्रेमचन्द को एकदम विप्लवी सिद्ध कर दिया। कञ्चन कुमार और साहा साहब ने भी प्रेमचन्द को साम्यवादी नही तो समाजवादी अवश्य सिद्ध किया। साहा जी ने तो उनकी रचनाओं से कई उदाहरण भी पढ़ कर सुनाये। मेरी बारी जब बोलने की आयी, तो मैंने प्रेमचन्द के ऊपर डिकैन्स, गाल्सवर्दी के साथ ही साथ तालस्तोय गाँधी के प्रभाव की भी चर्चा की। और कहा कि अन्तिम वर्ष में

★ निदेशक भारतीय भाषा परिषद, 36. ए. शेक्सपीअर सरणी,
कलकत्ता—700017

प्रेमचन्द 'हिल गये थे। और गाँधीवाद पर उनकी वैसी श्रद्धा नहीं रह गई थी, जैसाकि उनकी 'हंस' की टिप्पणियों जागरण के सम्पादकीयों; और जैनेन्द्र कुमार के साथ हुई बातचीत से स्पष्ट होता है।

दूसरा उदाहरण परसों यानी 10 जनवरी को बिड़ला प्लैनेटोरियम में प्रेमचन्द और गाँधीवाद (श्रीलक्ष्मीशङ्कर व्यास सम्पादक 'आज') के अवसर पर बङ्गला के मूर्धन्य उपन्यासकार और समीक्षक श्री अन्नदाशंकर राय के बाङ्गला भाषण का है। अन्नदाबाबू ने कहा कि प्रेमचन्द ने जिस युग में लिखना आरम्भ किया, वह गाँधी के विचारों का युग था अहिंसा पर भी उनके अनुयायियों की पूरी श्रद्धा थी ऐसी बात नहीं है। कुछ लोगों ने उसे राजनैतिक अस्त्र की तरह सुविधापूर्वक लिया था। हम तब युवक थे और गाँधीजी से बहुत आकृष्ट हुए थे। (अन्नदाशंकर राय की आयु 76 वर्ष की है) परन्तु धीरे धीरे गत महायुद्ध के समय केवल अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त होगा या नहीं इसके बारे में शंका पैदा होने लगी थी। नेताजी का मार्ग दूसरा था। 1947-48 में क्या हुआ? स्वराज्य आया, पर हिंसा भी बड़े पैमाने पर हुई। उसमें गाँधी की बलि हो गई। स्वराज्य के बाद जो हालात हैं उनसे लगता है कि गाँधी ही सही थे। समस्याओं का अन्तिम समाधान अहिंसा से ही होगा। प्रेमचन्द का मन भी उसी तरह अहिंसा और हिंसा के बीच में झूलता था। वे गाँधीयुग के बाद नेहरू–युग से प्रभावित थे। पर हर बड़े लेखक का ऐसा ही होता है। वह किसी 'वाद' से बधा नहीं होता उसकी शताब्दी पर, या समकालीन लोग सन्दर्भ से काटकर, अपने मतलब की बात, उसमें खोज लेते हैं। आज बंगाल में दो विचार-धराएँ है; एक कहती है प्राइमरी से बाँग्ला भाषा में ही शिक्षा होनी चाहिए; दूसरी कहती है कि प्राथमिक शिक्षा से ही अंग्रेजी भी होनी चाहिए। दोनों पक्ष अपने समर्थन में रवीन्द्रनाथ के वाक्य उद्घृत करते हैं। इसी तरह से आज गाँधीवादी और मार्क्सवादी दोनों प्रेमचन्द को अपना लेखक मानते हैं। यह लेखक की महानता का लक्षण है कि उसके अनेक अर्थ निकालने वाले पैदा होते हैं। कबीर की मृत्यु के बाद हिन्दू और मुसलमान दोनों उन्हें अपना कहते थे। पर हम लोग, जो सर्व-साधारण पाठक हैं, उन्हें मूल स्रोत की ओर जाना चाहिए। समीक्षकों के कहने से, उनके उधार लिये हुए चश्मे से, प्रेमचन्द हों या अन्य कोई महान लेखक, उन्हें नहीं देखना चाहिए।

इसीलिए हम शताब्दी वर्ष में हिन्दी में मैंने प्रेमचन्द पर परस्पर विरोधी बातें लिखी हुई, पढ़ी। किसी ने कहा वे प्रासंगिक है; किसी ने कहा नहीं है। किसी ने कहा बहुत दरिद्र थे; किसी ने कहा नहीं, उन्होंने बेटी की शादी में दहेज दिया था, उनका बैंक एकाउन्ट था। किसीने कहा वे व्यवहार कुशल नहीं थे; किसी ने कहा वे बहुत अधिक व्यावहारिक थे। किसी ने कहा, वे मूलतः उर्दू के लेखक थे; किसी ने कहा, वे आर्यसमाजी विचारों के थे। किसी ने कहा, उन्हें अच्छी चीजें खाने का शौक था, पेट की बीमारी थी; किसी ने कहा उनका जीवन घोर आर्थिक संघर्ष में बीता। हर शताब्दी के अवसर पर ऐसा ही होता है। गालिब की शताब्दी पर किसी ने' गालिब–बे-नकाब' किताब लिखी। तो रवीन्द्रनाथ की शताब्दी पर' रवीन्द्रनाथेर मानसी'। शरतचन्द्र की शताब्दी पर

तो उन्हें देवता से लगाकर' चरित्रहीन' तक सिद्ध करने वाली अनेक रचनाएँ छपी। जा की रही भावना जैसी, प्रभुमूरत देखी तिन तैसी।'

इसमें प्रेमचन्द या उनके साहित्य का दोष नहीं है हमारे समीक्षकों की दृष्टि एकांगी, पक्षपातपूर्ण, दूषित और पक्ष-सत्य को ही पूर्ण-सत्य मानने वाली हो गई है। समीक्षा हमारे यहाँ सभी गुण-दोष दोनों का सम्यक् विचार करके सन्तुलित दृष्टि को कहा जाता था। इसीलिए पहले चलता था शब्द सम+आलोचना =समालोचना इति 'समता' का आग्रह 'साम्य' वादिओं में है, पर केवल 'आलोचना' बची रह गई है यहाँ तक कि समकालीनों को भी समग्र दृष्टि के देखने का कष्ट हमारे मित्र लोग नहीं करते। मुक्तिबोध का उदाहरण लीजिये कोई उन्हें क्रांतिकारी कहता है, कोई 'आत्म निर्वासित' खंडित व्यक्तित्व ! प्रेमचन्द भी आखिर एक इन्सान थे। उनमें भी कमजोरियाँ रही होंगी। सभी लेखन उन्होंने कोई 'मिशन' या 'क्रूसेड' की भावना से नहीं लिखा। वे 'कलम के मजदूर' अधिक थे, 'कलम के सिपाही' भी कभी कभी हो जाते थे। उन्होंने स्वयम् दयानरायण निगम आदि को लिखे पत्रों में स्वीकार किया है कि आर्थिक मजबूरी में उन्होंने बहुत सा अनुवाद और लेखन भी किया। पर इन सब से उनकी लेखक के नाते महानता कम नहीं हो जाती। बल्कि उनके ये सहज उद्‌गार उन्हें हमारे जैसे जनसाधारण के अधिक निकट का लेखक बना देते हैं।

आलोचकों की बातें छोड़कर, हम प्रेमचन्द की लेखक के नाते महानता को निम्न दृष्टियों से विशिष्ट मानते हैं:

(1) प्रेमचन्द लमही, मिर्जापुर, कानपुर, गोरखपुर, और वाराणसी में रहे। उत्तर प्रदेश के जनजीवन का उन्हें अत्यन्त निकट परिचय था। प्रेमचन्द से पहले की हिन्दी कहानी या उपन्यासों में उत्तर प्रदेश के समाज जीवन का इतना जीता जागता, यथार्थवादी चित्र बहुत कम देखने को मिलता है।

(2) वे इस जन जीवन को भावुकता से नहीं देखते न अपने पूर्वाग्रह इसपर थोपते हैं। वे इस जीवन से आँख बचाकर या आँख मूदकर ऐतिहासिक, पौराणिक, सपनों की दुनिया में खोजाना नहीं चाहते। वे तथ्य को तथ्य कहते हैं। बिना किसी लाग-लपेट के। और उसमें वे बड़े नैतिक साहस का परिचय देते हैं।

(3) उनके मूल्य या आदर्श मानव-मात्र की बेहतरी और बराबरी के हैं। वे कहीं भी एक जाति को दूसरी जाति से अधिक, या एक धर्म को दूसरे धर्म से अधिक, एक भाषा को दूसरी भाषा से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए अपने प्रिय की प्रशंसा और अपने आलोच्य की निन्दा के साँचों में नहीं पड़ते। इसलिए प्रत्येक चरित्र उनके लिए एक नई दुनिया है। जिसे वे खोजते हैं। उनके चरित्र 'टाइप' नहीं हैं। वे हर अमीर को राक्षस और हर गरीब को देवता नहीं चित्रित करते हैं।

(4) इस मूल्य के प्रति निष्ठा के कारण वे जीवन में कथनी-करनी में एकरूपता पर, प्रामाणिकता पर अधिक बल देते हैं। 1921 में गोरखपुर में गांधी जी का भाषण सुना

21 साल की सरकारी नौकरी छोड़ दी । विधवा विवाह अच्छा है, यह आदर्श अपनाया, तो स्वयम् बिना किसी विज्ञापन या समाज सुधारकों से वाहवाही की प्रत्याशाके, बाल विधवा से शादी कर डाली । ऐसे अनेक उदाहरण उनके जीवन में हैं ।

(5) अपने लेखन कर्म के प्रति उनकी निष्ठा अटूट थी । उसके लिए उन्होंने कभी समझौता नहीं किया । 'वार जनरल' में लिखने से इनकार किया । 'हंस 'पर सरकारी रोक हुयी—जमानतें भरनी पड़ी । 'सोजे वतन जब्त हुआ सिनेमा की दुनिया में गये तो वहाँ अपनी कलम रूपहले पर्दे की मर्जी पर नचाई नही, न वैसे 'कलमेश्वर' बनना उन्हें आया । आम आदमी का दर्द उन्होंने झेला, सहा, अपनी कलम से सार्थक बनाया । सत्ता संपत्ति या संस्था कोई उन्हें डिगा नहीं सकी ।

(6) उनकी दृष्टि उदार थी । वे केवल उर्दू में ही लिखते रह सकते थे । पर उन्होंने उर्दू पाठकों से बड़ी दुनिया हिन्दी पाठकों की देखी । उन्हें किसी भाषा से कोई लड़ाई नहीं थी । उपन्यासों के प्रारूप अंग्रेजी में लिखे पाण्डुलिपियों में मिलते हैं । अंग्रेजी से अनुवाद भी किये हैं । फारसी से भी । कालिदास के बारे में उर्दू में लिखते हैं । अनातोल फ्रांस हो या गोर्की, शॉ हों या बंकिमचन्द्र, वे सबको पढते हैं—अपनी निगाह वे 'वसी' रखते हैं । तंगदिली उन्हें आर्ट की दुश्मन मालूम पड़ती है ।

(7) वे स्वयम् बदलते जा रहे थे । और उनकी रचनाएँ न केवल शैली में पर विचारों में भी उनके नित्य परिवर्तन के अनेक उदाहरण स्पष्ट हैं । एक ओर उनकी मृत्यु पर गांधी और टैगोर ने जो कहा है वह महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही 'निराला' और राहुल-सांकृत्यायन की उन पर श्रद्धांजलियाँ और संरक्षण, विचारणीय हैं ।

(8) वे आलोचना से घबड़ाते नहीं थे । न उनकी बहुत अधिक परवाह ही करते थे । घृणा के 'प्रचारक' और 'नास्तिक' और 'ब्राह्मणों के द्वेषी' क्या-क्या नहीं कहा गया, उनके जीवित रहते ही मुकद्दमे भी दायर किये गये । पर वे अविचलित भाव से लिखते चले जाते थे । न निन्दा से चिन्तित, न स्तुति से बहुत अधिक गर्वित । वे ऐसी भावुकता को व्यर्थ मानते थे । वे लेखन को एक यज्ञ-कार्य की तरह, नित्य अनुष्ठान की तरह बराबर अपनाते थे । उनके जीते जी उन्हें कम यश मिला । पर बिरलों को ही लखटकिया पुरस्कार मिलते हैं । अधिकतर हिन्दी लेखक तो उन 'बिरलों' में नहीं ।

(9) वे चाहते थे कि हिन्दी भाषा, सभी भाषाओं के साहित्य की संवाहिका बने । इसीं विचार से उन्होंने 'हंस' को क०मा० मुन्शी के साथ अखिल भारतीय पत्रिका बनाया । वे तरुण लेखकों को अनुवाद के लिए प्रोत्साहित करते थे । वे हिन्दीं को केवल हिन्दी प्रदेशों की भाषा बनाये रखना नहीं चाहते थे ।

(10) सबसे बड़ी बात यह थी कि अपने परिवेश, देश-काल-परिस्थिति से जुड़े होकर भा उन्होंने अपनी देश-भक्ति, अपनी दरिद्रनाराण के प्रति सहानुभूति की दृष्टि, अपने समाज को बेहतर समाज बनाने की आशावादी आस्था कभी नहीं छोड़ी ।

इन सब गुणों से आज भी प्रेमचन्द हमारे लिए, सर्व साधारण पाठक से लगाकर विशिष्ट विद्वानों के लिए इतने महत्त्वपूर्ण और पुनः पठनीय लेखक बने हुए हैं। हर भारतीय भाषा में ऐसा एक उपन्यासकार हुआ है जिसने राष्ट्र के और समाज के परिवर्तनशील स्वरूप को अपनी लेखनी का विषय बनाया। इसी कारण से प्रेमचन्द की तुलना ऐसे अन्य कथाकारों उपन्यासकारों से की गई है और उनपर शोधप्रबन्ध लिखे गये हैं। मेरी जानकारी में प्रेमचन्द और खाण्डेकर, प्रेमचन्द और हरि नारायण आपटे (मराठी); प्रेमचन्द और रमणलाल देसाई (गुजराती); प्रेमचन्द और शरतचन्द्र, प्रेमचद्र और ताराशंकर बैनर्जी (बंगाली) प्रेमचन्द और टी० गोपीचन्द (तेलुगु) प्रेमचन्द और लक्खी शिवशंकर पिल्लई (मलयालम); प्रेमचन्द और कल्हि (तमिल); प्रेमचन्द और फकीर मोहन सेनापति (ओड़िया); प्रेमचन्द और शिवाराम श्रान्त (कन्नड़) आदि कुछ विषयों पर काम हुआ है। कुछ होना शेष है। अभी तो प्रेमचन्द ने जब से लिखना शुरु किया--1910 से उनके अन्तिम श्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' 1934 तक की बीस वर्षों की पूरी साहित्यिक ऐतिहासिक गाथा लिखी जाती है।

अन्तमें मैं उन कुछ विदेशी विद्वानों का जिक्र करना चाहता हूँ, जिनमें से दो अब नहीं रहे, जिनके साथ मैंने प्रेमचन्द सम्बन्धी बाते की हैं। सबसे पहले सोरबों (फ्रांस) विश्वविद्यालय के[1] पियरे मेल, जिनसे 1961 में मैं पैरिस में मिला था। फिर मेरे बर्कले में हिन्दी कक्षाओं में विद्यार्थी, अब स्वर्गीय[2] गार्डन राडरमल, जिन्होंने युनेस्को के लिए 'गिफ्ट आफ दि काउ' (गोदान का अनुवाद) लिखा। और बाद में रूस के[3] प्रो० एदर्गनी चेलीशेव जिनके साथ अनेक बार भारत और रूस में मिलना हुआ। हम दोनों की सम्पादित की हुई पुस्तकें रूस में भी छपी हैं। अमेरिका के प्रेमचन्द आफ लमही के लेखक[4] राबर्ट स्वान जिन्होंने 1960 में मिशीगन युनिवर्सिटी में मेरे भारतीय साहित्य पर व्याख्यनों की अध्यक्षता की थी। और अभी हाल में नवम्बर 1979 में टोकियो में जापानी भाषा में गोदान के अनुवादक[5] प्रो० के० दोई। और अन्तमें श्री लंका में 1963 में मिले[6] मार्टिन विक्रमासिंह नामक समीक्षक। इन छः व्यक्तियों ने प्रेमचन्द को किस दृष्टि से देखा और मुझसे व्यक्तिगत बातचीत में कैसे प्रश्न उठे, वे मैं यहाँ इसलिए दे रहा हूँ कि हमारे प्राध्यापक जनोंको भी उससे कुछ प्रेरणा और विचार-खाद्य मिले।

(1) उनके घर पर ही पैरिस में मैं गया था। प्रो० पियरे मेले बहुत वृद्ध थे। गाँधी की आत्मकथा और नेहरू की आत्मकथा का फ्रेंचमें अनुवाद कर चुके थे। हिन्दी उर्दू बहुत अच्छी जानते थे। कहने लगे कि 'हिन्दुस्तानी' भाषा का आदर्श नमूना प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। हिन्दी और उर्दू में लिखावट का सिर्फ फर्क है। बहुत कम फर्क इबारत में करना पड़ता है। यह यू० पी० की आदर्श भाषा है। पता नहीं उर्दू छोड़कर वे हिन्दी में क्यों लिखने लगे। मैंने शायद सुझाया—पाठक अधिक थे।

प्रो० मेल—इतना ही नहीं। सन् 30 के बाद भारत की राजधानी में द्विराष्ट्रवाद बढ़ने लगा था। गांधीजी को मुसलमान हिन्दू मानते थे; हिन्दू मुस्लिम परस्त जो भी दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में समन्वय करने जायेगा, जरूर गलत समझा जायेगा। दोनों उसे शक व शुबहा से देखेंगे। क्या प्रेमचन्द के साथ ऐसा तो नहीं हुआ ?

मैंने 'कर्बला' पर आलोचना की बात कही। 'हिन्दुस्तानी' के मामले म मौलाना अब्दुल हक की शंकाएँ थीं यह भी बताया।

मेले बड़े उदास होकर बोले—यह जरूर है—हिन्दी उर्दू का मामला। बेचारे प्रेमचन्द ! फिर विषयान्तर हुआ। और कई बातें चलती रहीं।

(2) गार्डन के साथ अमेरिका में, इलाहाबाद में जब वे शोध के लिए आये तब बीमार थे, वहाँ और दिल्ली में आखिरी दिनों वे 'एलियन नेशन' पर काम कर रहे थे, तब अनेक बार बातें हुई हैं।

'गोदान' के दो अनुवाद अंग्रेजी में छप चुके थे। पी० लाल का एक संक्षिप्त। और सुना था एक और अनुवाद युनेस्को के पास पड़ा था। पर गार्डन को दोनों से संतोष नहीं था। वे चाहते थे कि प्रेमचन्द कीं मूल आत्मा का निर्वाह अंग्रेजी अनुवाद में इस तरह किया जाये कि अंग्रेजी के पाठकों को भी वह अपने निकटतम जान पड़े। अब गाँव हैं कि वे भारत में, और अंग्रेजी भाषी समाजों में बहुत भिन्न हैं—वहाँ के समाज और संस्कार, परस्पर-सम्बध और बातचीत के ढंग सब भिन्न हैं। ऐसे समय मन-माना पुनःनिर्माण (ट्रैन्स क्रिएशन) भी काम का नहीं होता; न केवल शब्दशः अनुवाद फुटनोटों के साथ। गार्डन ने यह काम बखूबी निभाया है।

पर गार्डन का अपना एक नजरिया था। वह वियतनाम के युद्ध से दुखी था। उसने 'अपने-अपने अजनबी' का अंग्रेजी अनुवाद किया। उसने "ए डेथ इन दिल्ली" में कमलेश्वर की कहानी लीं। और कहानियाँ चुनी। पर प्रेमचन्द में भीं अस्तित्ववादी 'एलियनेशन' के बीज देखता था। मेरी उसकी इसपर जमकर बहस हुई थी। भारतीय दर्शनमें 'पृथकात्मता' के बीज हैं, जो पश्चिमी 'अस्तित्ववाद' के बहुत करीब हैं—बौद्धदार्शनिक नागार्जुनपर हाइडेग्गर ने लिखा है। यह स्थान उस सारी चर्चा को देनेका नहीं है। पर इस दृष्टि से प्रेमचन्द पर अपने यहाँ किसी ने बहुत कम सोचा है। गाँव से शहर, कृषि प्रधान समाज से यंत्र-प्रधान औद्योगिक समाज की ओर संक्रमण 'अलगाव' कई स्थान पर पैदा करता है। कलकत्ते में एक सज्जन के भाषण में मैंने कुछ अच्छे मुद्दे सुने।

(3) प्रो० चेलीशेव ने एक बहुत मनोरंजक, पर हास्यास्पद बात सुनाई। रूसी भाषा में 'गाय' पवित्र नहीं, बल्कि भारतीय गधे की तरह बुद्धूपन और मूर्खता का प्रतीक है। हास्यरसका आलम्बन है। तो अनुवाद में 'दान' होने पर भी किताब हास्यरस की हो जाती है, गंभीर या करुण नहीं। पता नहीं इस बाधा को कैसे उन्होंने पार किया। पर मैंने जो रूसी में देखी वह विष्णु प्रभाकर की 'गोदान' पर आधारित नाटिका का अनुवाद है।

(4) बाँव स्वान—प्रो० स्वान गत महायुद्ध में भारत में थे। फिर लमही में जाकर कई दिन रहे। उन्होंने बहुत मेहनत से अपनी पुस्तक लिखी है। उनसे जब भेट हुई थी, तब तक यह पुस्तक छपी नहीं थी। गाँधी जी के विचारों का प्रेमचन्द पर प्रभाव पर बड़ी बिस्तार से बातें मिशिगन में हुई। मेरे तीन भाषण थे "भारतीय साहित्य में हिंसा और अहिंसा 1940 से 1960"। वे प्रेमचन्द की समाजवादी आस्था के बारे में

शंकालु थे। उनका मत था कि गॉल्सवर्दी की तरह प्रेमचन्द वर्ग-संघर्ष में नही पर किसी तीसरे मार्ग में विश्वास करते थे। गाँधी जी के पंच-फैसले में शायद प्रेमचन्द को आस्था थी—ऐसा कई कहानियों से लगता है। पर जीवन के अन्तिम वर्षो में वे शांत-चित्त थे। अच्छी से अच्छी चीजें भी पूँजीवादी व्यवस्था में भ्रष्ट हो जाती हैं, ऐसा प्रेमचन्द मानने लगे थे।

(5) मैं नवम्बर 1979 को तोक्यो में 'अफ्रो—एशियाई भाषा संस्थान' में प्रो॰ के॰ दोई (जिनसे मैं दो बार भारत में मिल चुका था हैदराबाद में मेरे एक व्याख्यान के अंतर्गत वे बोले थे; विश्व हिन्दी सम्मेलन, नागपुर में भी) जो अब तोक्यो विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से सेवानिवृत्त हो गये हैं और अब इस भाषा संस्थान में हिन्दी पढ़ाते हैं। प्रो॰ कोकिनागा भी वहाँ साथ में थे। उन्होंने प्रेमचन्द की पुस्तकों की, जापानी अनुवादों की (स्वयम् 'गोदान' का उन्होंने अनुवाद किया; 'निर्मला' और कुछ कहानियाँ भी वहाँ हिन्दी से मिलती हैं—उसके बाद लम्बा अन्तराल, 'इन दिनों' की कुछ कविताएँ और काशी नाथ सिंह का 'उसका मोर्चा' जापानी में अनुवादित, यही पुस्तक के हिन्दी के आधुनिक, 'प्रतिनिधि' (?) ग्रंथ हैं!) और कई पत्र-पत्रिकाओं की प्रदर्शनी थी। अपने विद्यार्थियों को बैठा कर वहाँ आधा घंटा मुझसे भारत में प्रेमचन्द शताब्दी के, प्रेमचन्द जी के साथ मेरी चार मुलाकातों के संस्मरण उन्होंने प्रेम से सुने। वह सब हिन्दी में भाषण वहाँ टेप हो गया। उनकी संस्था की 'ओरल हिस्ट्री' का एक भाग! कोकिनागाने बताया प्रेमचन्द भारत के ग्राम-जीवन को समझने का सब से अच्छी कुंजी है। समाज शास्त्र पढने वाले भी प्रेमचन्द पढ़ते हैं।

(6) श्री लंका में कोलंबो में मार्टिन मिले थे। पहले भारत में रवीन्द्र शतवार्षिकी में आचुके थे। 'डी॰ एच॰ लारेंस एँड मिस्टिसिज्म' के लेखक मार्टिन मार्क्सवादी विचारों के समीक्षक थे। उन्होंने प्रेमचन्द की कुछ रचनाएँ अनुवाद में पढ़ी थीं। राहुलजी से और आनन्द जी से चर्चा भी सुनी थी। उनके लिए यह बड़ा प्रश्न था कि यदि प्रेमचन्द क्रान्तिकारी लेखक हैं तो उनकी कहानियों और उपन्यासों की नायिकाएँ सारी स्त्रियाँ इतनी भाग्यवादी क्यों है? कोई विद्रोहिणी स्त्री उनके साहित्यमें क्यों—नहीं?

मैंने तब एकाध उदाहरण देकर प्रश्न को टाला था कि सिंहलीमें अभी पूरे अनुवाद नहीं हुए हैं—होने चाहिए। पर चार विश्वविद्यालयों में मैंने श्री लंका में 'बौद्धदर्शन और अस्तित्त्ववादी दर्शन' पर भाषण दिये। विद्यार्थी मुल्कराज आनन्द और किशनचन्द्र का नाम अधिक जानते थे, प्रेमचन्द का कम।

ये थोड़ी सी बातें मैंने स्मृति के सहारे, केवल सोचने वाले लोगों के लिए (और 'प्रज्ञा' के पाठक निरे भावुक नहीं होंगे ऐसी आशा है) लिखी हैं। उनमें आत्म-श्लाघा की गन्ध जिन्हें आये उनसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

———

उत्तर भारत में पुनर्जागरण और प्रेमचन्द

डा० विजयेन्द्र स्नातक ★

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का समय पुनर्जागरण-काल के नाम से विख्यात है। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद राजनीतिक चेतना के साथ प्रबुद्ध भारतीयों में सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक भावना का पुनरुत्थान हुआ। अठारहवीं शती में भारतीय जनता जिस राजनीतिक संघर्ष में फंसी रही थी, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उस संघर्ष का अवसान हो गया था। इसाई मिशनरी अपने धर्म प्रचार के साथ पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की छाप भारतीयों पर डाल रहे थे। शिक्षित वर्ग के कुछ तथाकथित भद्रजन को पाश्चात्य संस्कृति का आकर्षण मुग्ध करने में एक सीमा तक सफल भी हो रहा था। मुगल शासन में भारत का सांस्कृति ढाँचा चरमरा गया था। फलतः बुद्धि-जीवी, प्रबुद्ध लोगों के समक्ष अपनी परम्परागत संस्कृति की विरासत को पुनर्जीवित करने का प्रश्न था। भारतीय जन मानस में कुछ ऐसे विश्वास बद्धमूल हो गये थे जो पाखंड और रूढ़ि के सिवा किसी संस्कृति के परिचायक नहीं थे। सबसे पहले बंगाल में परम्परागत अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के प्रति जागरूकता, सप्रश्नता और बौद्धिकता ने जन्म लिया। राजा राममोहन राय इस विवेकपूर्ण जागरूकता के प्रथम उन्नायक थे जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता, शिक्षा और संस्कृति के मर्म को पहचान कर भारतीय जनता में व्याप्त रूढ़ियों को ध्वस्त करने का बीड़ा उठाया।

राजा राममोहन राय अपने समय के सबसे अधिक दूरदर्शी, विवेकी लोकनायक थे। सती प्रथा, बाल हत्या, बाल विवाह, अशिक्षा, विदेश यात्रा आदि के सम्बन्ध में उन्होंने बड़े निर्भीक भाव से अपने विचार व्यक्त किये और प्रशासन की सहायता से कानून द्वारा इन प्रथाओं तथा अविवेकी मान्यताओं को निरस्त करने में सफलता प्राप्त की। इसके साथ ही हिन्दू धर्म की अस्मिता को अक्षुण्ण रखने का प्रश्न भी उनके सामने था। ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव से सशंक बनकर चुप बैठे रहना तो निष्क्रियता ही मानी जाती अतः सक्रिय होकर क्रिस्तानी-प्रभाव रोकना, उनके प्रलोभन से बचना और अपने धर्म की स्वस्थ एवं शाश्वत आस्थाओं को जन मानस तक पहुँचना भी उस युग के समाज-सुधारकों तथा सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न भारतीयों का कर्तव्य था। अतः भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान की नवीन प्रक्रिया ने इस युग में जन्म लिया और बंगाल के बाद धीरे-धीरे यह चेतना समस्त भारत में व्याप्त हो गयी।

पुनर्जागरण काल का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने प्रायः इस परिवर्तन को बंगाल तक सीमित रखा है। उनकी दृष्टि उत्तर भारत के उस क्षेत्र तक नहीं पहुँची जहाँ

★ A 5/3 राजा प्रताप बाग,
दिल्ली—110009

भारत की गौरवपूर्ण परम्पराओं की रक्षा के साथ भारतीय संस्कृति, धर्म और जीवन—दर्शन को पाश्चात्य प्रभाव से दूर रखते हुए अपने जातीय प्रभावों तथा संकल्पों के आलोक में जीवित रखने का महत्वपूर्ण कार्य साहित्य के माध्यम से हुआ था। उत्तर भारत के तत्कालीन साहित्यकार पुनरुत्थान की प्रक्रिया से कितने गहरे जुड़े थे और किन-किन स्तरों पर इसके लिए संघर्षरत थे, इसका आकलन अद्यावधि नहीं हुआ है। इसके आकलन के लिए हमें उन्नीसवीं शती के हिन्दी साहित्य का अन्तरंग परिचय प्राप्त करना होगा तभी हम यह जान सकेंगे कि पुनर्जागरण के किन विन्दुओं को साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया और किन साहित्य-विधाओं का इस प्रक्रिया को सफल वनाने में प्रयोग किया।

उत्तर भारत में पुनर्जागरण के कार्यों में सुधारमूलक प्रवृत्तियों के साथ शिक्षा, संस्कृति, धर्म और अतीत गौरव को प्रमुख स्थान मिला था। इस काल के सभी साहित्यकारों ने अतीत महिमा का गान करते हुए अपने देश की अधोगति पर गहरी चिन्ता व्यक्त की और उसके उद्धार के लिए कतिपय उपाय भी सुझाए। बंगाल के समाज सुधारकों में अतीत भारत के प्रति वैसी आस्था लक्षित नहीं होती जैसी उत्तर भारत के साहित्यकारों में है। वंकिमचन्द्र से पहले भारत महिमा—गान बंग देश में नहीं सुना जा सकता था। हाँ, बंगभूमि के प्रति आस्था और अनुराग के कुछ गीत अवश्य लिखे गये थे जो सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीयता के गौरवगान नहीं कहे जा सकते।

पुनर्जागरण का यह स्वर भारतेन्दु के साथ समाप्त नहीं हुआ वरन् और अधिक वेग से द्विवेदीयुगीन साहित्य में गुंजित हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् 1901 से 1920 तक का समय द्विवेदी—युग के नाम से जाना जाता है। इस युग को नैतिकतावादी, आदर्शवादी, सुधारवादी आन्दोलन का युग भी कहा जाता है। वस्तुतः नैतिकता या आदर्श का आग्रह मूलतः पुनरुत्थान का ही आग्रह है। अर्थात् प्राचीन भारतीय जीवन मूल्यों को पुनः स्थापित करने की दिशा में साहित्य के माध्यम से जो प्रयत्न इस युग में हुए उन्हें हम पुनर्जागरण के पूर्वकालिक प्रयत्नों के मेल में ही देख सकते हैं। इस युग में परम्परावाद या रूढ़िवाद के स्थान पर आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण को चिन्तन में स्थान मिला। साहित्य को सीमित गोष्ठी से निकाल कर व्यापक जन—मंच पर लाया गया और मनोरंजन के उद्देश्य को त्याग कर लोक शिक्षण के लिए उसका इस्तेमाल हुआ। संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाओं से सुन्दर रत्नों को खोजकर हिन्दी में प्रस्तुत करने की ओर कवि और लेखकों का ध्यान गया। इन्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में राष्ट्रीय—जागरण की लहर बड़े वेग के साथ प्रवाहित हुई। गोपाल कृष्ण गोखले ने रायल कमीशन के सामने अपने एक वक्तव्य में स्पष्ट कहा था — 'वर्तमान राजनीति व्यवस्था के प्रभाव से भारतीय जाति का विकास अवरुद्ध हो गया है। हमें अपने जीवन भर एक हीनता के वातावरण में रहना पड़ता है।" इस राष्ट्रीय भावना की जागृति के साथ पाश्चात्य सभ्यता के प्रति उत्साहपूर्ण अनुकरण का जो वातावरण बंगाल में वना था उसके प्रति विरोध आरम्भ हुआ। स्वामी दयानन्द और विवेकानन्द ने धर्म और

आध्यात्म में भारत की श्रेष्ठता प्रमाणित की और बाल गंगाधर तिलक ने राजनीति के क्षेत्र में भारतीय नीति का पोषण किया। इसके ठीक कुछ वर्ष बाद स्वदेशी आन्दोलन जनसाधारण में जागृति का कारण बना।

पुनर्जागरण की भावना बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में समान रूप से व्याप्त थी। भारतेन्दु युग के समान ही हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में द्विवेदी युग में भी व्यापक स्तर पर कार्य हुआ। स्वयं द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका का लगभग बीस वर्ष तक सम्पादन किया और साहित्य के माध्यम से नव जागरण की दिशा में बहुत सफल कार्य सम्पन्न किया। नवजागरण की दिशा में कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले पत्रों की चर्चा पहले हो चुकी है। भारतमित्र, नृसिंह, हिन्दू मंच, मारवाड़ी बन्धु, हिन्दी बंगवासी, स्वतन्त्र, हितवार्ता आदि समाचारपत्रों में साहित्य, समाज और राजनीति की चर्चा के साथ नवोत्थान के लिए सुधारपरक लेख भी रहते थे। उत्तर में बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ और आगरा से जो पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई उनमें समाजोद्धार का पक्ष अधिक प्रबल था।

प्रेमचन्द ने पत्रकारिता की दिशा में जानबूझ कर कदम रखा था। उनकी सामाजिक चेतना जो नवजागरण को प्रतिबिम्बित करती है उनके पत्रकार रूप में ही भलीभाँति प्रगट होती है। प्रारम्भ में वे उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लेख-टिप्पणी आदि लिखा करते थे जो जमाना में बराबर छपती रहती थीं। जमाना में दिसम्बर 1905 में लिखी टिप्पणी प्रेमचन्द की राजनीतिक चेतना को उजागर करती है जिसमें उन्होंने लिखा था — 'वर्तमान शासन प्रणाली का यह परिणाम हो रहा है कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति दिन-ब-दिन छीनती जा रही है। हम दैन्य और अपमान का जीवन स्वीकार करने को बाध्य किये जाते हैं। पग-पग पर हमको इस बात की याद दिलायी जाती है कि हम एक दलित जाति के जन हैं। हमारी स्वाधीनता का बेदर्दी से गला घोटा जा रहा है। आजादी हमेशा लड़कर ली जाती है, भीख माँगने से आजादी नहीं मिलती। जिस दिन मुल्क कुर्बानी के रास्ते पर चल पड़ेगा, आजादी रखी हुई है।'

प्रेमचन्द ने सन् 1918 में 'स्वदेश' पत्र का सम्पादकीय लिखा। सन् 1922 में मर्यादा और आज में प्रेमचन्द निरन्तर नवजागरण की टिप्पणियाँ लिखते रहे। प्रेमचन्द को जब दूसरे अखबारों में लिखने से सन्तोष न हुआ तो उन्होंने सरस्वती प्रेस की स्थापना की और उसके द्वारा 'हंस' और 'जागरण' मासिक एवं साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन स्वयं प्रारम्भ किया। 'हंस' और 'जागरण' अपने समय के सबसे अधिक प्रखर राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना के पत्र थे। हंस को सरकार का कोपभाजन भी होना पड़ा था। हंस को वह भारतीय साहित्य का प्रतिनिधि पत्र बनाना चाहते थे। प्रेमचन्द की दृष्टि बहुत व्यापक थी। हंस और जागरण के द्वारा उन्होंने साहित्य, समाज और राजनीति के सभी दृष्टि बिन्दुओं को समेटने का सफल प्रयास किया था। गद्य-विधाओं में नाटक और उपन्यास द्वारा उस समय के यशस्वी लेखक पुनरुत्थान के प्रयास में पूर्णतः संलग्न थे। हिन्दी कथा-साहित्य

को नयी दिशा देने वाले लेखकों में प्रेमचन्द का स्थान मूर्धन्य है। प्रेमचन्द ने उर्दू में लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु उन्हें शीघ्र ही यह विदित हो गया कि उत्तर भारत की जनता से भाषा के स्तर पर सीधा सम्पर्क उर्दू भाषा से सम्भव नहीं है अतः उन्होंने हिन्दी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनका पहला उपन्यास सेवा–सदन जब हिन्दी में छपा तो उसकी सामाजिक चेतना ने, समाज–सुधार के प्रखर स्वर ने, पाठक का ध्यान बरबस आकृष्ट कर लिया। सेवासदन प्रेमचन्द की सुधारवादी, आदर्शवादी आकांक्षा का प्रतिफलन था। उसमें पुनरुत्थान की वैसी भावना नहीं थी जैसी सामयिक चेतना की थी। प्रेमचन्द उन दिनों आर्य समाज के सुधारवादी दृष्टिकोण के प्रबल समर्थक थे अतः उसी दृष्टि को उन्होंने सेवासदन में प्रमुख स्थान दिया है।

पुनर्जागरण की कसौटी पर प्रेमचन्द की कृतियों की परख करने पर हम देखते हैं कि उनकी दृष्टि किसी परम्परावादी अतीत पर नहीं टिकी थी वरन् वे सुन्दर वर्तमान के निर्माण का प्रयत्न कर रहे थे। वर्तमान के निर्माण के लिए जिन समस्याओं को अपने लेखन का विषय बनाया था उनमें मिथ्या आडम्बर, ढोंग, दहेज, सूदखोरी, महाजनी, वेश्यावृत्ति, छुआछूत, धार्मिक प्रपंच, जमींदारी प्रथा, सामन्ती शासन, पूंजीवादी सभ्यता, आदि प्रमुख थे। प्रेमचन्द सामाजिक न्याय के लिए किसान और श्रमिकों को शोषण से मुक्त करना चाहते थे। गरीब जनता के साथ उनकी गहरी सहानुभूति थी। शोषितों के उद्धार के लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहते थे। ऐसी स्थिति में पुनर्जागरण का तत्व तलाशने का उपक्रम करने पर वस्तुस्थिति के आभ्यन्तर में प्रवेश करना होगा। द्विवेदी जी के शब्दों में "प्रेमचन्द शताब्दियों से पद्दलित, अपमानित और पीड़ित कृषकों की आवाज थे पर्दे में कैद, पद–पद पर लांच्छित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों, बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा–भाव, रहन–सहन, आशा–आकांक्षा, दुःख–सुख, और सूझ–बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्ण और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेंड़ों पर गाते हुए किसान को, ईर्ष्या–परागण प्रोफेसरों को, दुर्बल–हृदय बेंकारों को, साहस–परायण चमारिन को, ढोंगी पण्डितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा वह गलत नहीं है। उससे अधिक सच्चाई से दिखा सकने वाले परिदर्शक को अभी हिन्दी–उर्दू की दुनियाँ नहीं जानतीं।" इस लम्बे उद्धरण से प्रेमचन्द की जागरूकता और सचेतता का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। धर्म और राजनीति दोनों क्षेत्रों में प्रेमचन्द ने परम्परावादी दकियानूसी, रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी विचारों को प्रश्रय नहीं दिया। उनका पुनर्जागरण किसी शास्त्र या स्मृति का मुखापेक्षी न होकर जीवन के यथार्थ अनुभूत सत्य पर आश्रित था। अतः प्रेमचन्द के पुनर्जागरण विषयक विचारों का विश्लेषण करने के लिए उनकी मान्यताओं पर ही विचार करना होगा।

प्रेमचन्द साहित्य के माध्यम से पाठकों में जीवन के प्रति सक्रिय दृष्टिकोण रखने की भावना उत्पन्न करना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि जिस क्षण हमारे जीवन में व्याप्त जड़ता समाप्त हो जायगी उसी क्षण भारत हीन स्थिति का अनुभव कर स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करेगा। स्वतन्त्र होने पर भारत में नवचेतना का संचार होगा और हमारी दीनता-हीनता, पराधीनता सब नष्ट हो जायगी। प्रेमचन्द ने लिखा है—

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" साहित्य की सार्थकता के बारे में भी प्रेमचन्द की दृष्टि बड़ी स्पष्ट थी। 'साहित्य का आधार जीवन है, इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जगे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत हो वह साहित्य आज हमारे लिए बेकार है।' साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार नवजागरण की चेतना लाने वाले हिन्दी लेखकों में भारतेन्दु के बाद प्रेमचन्द ही हैं। प्रेमचन्द ने पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के विरोध में अपने उपन्यासों में अनेक स्थान पर विचार व्यक्त किये हैं। कर्मभूमि में वे लिखते हैं—किराये की तालीम हमारे करैक्टर को तबाह किये डालती है। हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। "जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं।" प्रेमचन्द ने शिक्षा के सम्बन्ध में प्राचीन परिपाटी की सराहना की है।

प्रेमचन्द ने अपने अन्तिम उपन्यास गोदान में भी कुछ ऐसे जीवनादर्श स्वीकार किये हैं जो तत्कालीन भारतीय जनता के लिए नितान्त आवश्यक एवं ग्राह्य थे। उनकी ओर पुनर्जागरण काल के बंगीय सुधारकों ने भी उतनी गहराई से विचार नहीं किया था। हाँ, बंकिमचन्द्र' के कुछ औपन्यासिक पात्र अवश्य इन उदात त्यागपूर्ण जीवनादर्शों को लेकर चले थे। प्रोफेसर मेहता द्वारा उन्होंने इस आदर्श को मुखरित किया है।

'वह इस तत्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है', चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है। वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। सभी मनस्वी व्यक्तियों में यह त्याग की भावना छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है। आदमी अगर दाम या धन के पीछे पड़ा है तो समझ लो कि अभी तक वह किसी परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क में नहीं आया।' —सेवाधर्म की उदात्त भावना प्रेमचन्द को भारतीय त्याग और बलिदान की परम्परा से ही प्राप्त हुई थी और इसे हम पुनरुत्थान की प्रबल प्रेरणा मान सकते हैं।

प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में पुनर्जागरण की दिशा में जो प्रयास किया वह उनकी सप्तसरोज तथा नवनिधि के संकलनों में देखा जा सकता है। 'यही मेरी जन्मभूमि है' शीर्षक कहानी पुरातन वैभव के लुप्त हो जाने का सन्ताप अपने भीतर समेटे हुए है।

'पंचपरमेश्वर' बड़े घर की बेटी, रानी सारन्धा, विक्रमादित्य की कटार शीर्षक कहानियाँ भी भारतीय अतीत गौरव एवं श्रेष्ठ परम्परा की सम्वाहिका हैं और पाठक को फिर से एक बार यह सोचने को विवश करती हैं कि भारतीय जन–मानस में व्याप्त कुछ आदर्श ऐसे हैं जो आज भी जीवन में उदात्त की स्थापना कर सकते हैं। उनका पुनरुत्थापन करना भारतीय जन के हित में है। 'सौत' शीर्षक कहानी एक ऐसी नारी का चित्र उभारती है जो त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति है। इस कहानी में प्रेमचन्द एक पत्नीव्रत की बात पर बल देना चाहते हैं।

मानवताबादी दृष्टि सम्पन्न लेखक होने के कारण प्रेमचन्द की दृष्टि पुनर्जागरण के साथ उस केन्द्रबिन्दु पर टिकी रहती थी जिसमें सभी मनुष्य एक समान हैं। ऊँच–नीच का कोई भेदभाव नहीं है। साहित्य के माध्यम से युग के ढाँचे को बदलने का उपक्रम ही प्रेमचन्द के कथा साहित्य का प्राण है। देश की कराहती, आत्मा की अभिव्यक्ति, उसके तन–मन के घाव दिखाने का साहस, देश के शोषित–पीड़ित जनता के दुःख–दर्द को सहलाने की क्षमता प्रेमचन्द में हमें सबसे पहले लक्षित हुई। उनकी कला जन–हित रत होकर उत्तर भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गई थी। इसीलिए प्रेनचन्द अपने युग के सर्वाधिक लोकप्रिय, सबसे अधिक संवेदनशील और सबसे अधिक समर्थ कथा शिल्पी थे।

राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र निर्माण के लिए प्रेमचन्द की दृष्टि साँस्कृतिक एकता और भाषा की एकता पर केन्द्रित रहती थी। प्रेमचन्द ने इस सम्वन्ध में अपने विचार उपन्यास में पात्रों द्वारा तथा 'कुछ विचार' शीर्षक पुस्तक में व्यक्त किये हैं। इन विचारों को पढ़कर पुनर्जागरण के सन्देश को ठीक तरह समझा जा सकता है। वे लिखते हैं—'इस समय राजनैतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न भिन्न अंगो और तत्वों में कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंग्रेजी राज्य उठ जाय, तो इन तत्वों में जो एकता दिखाई दे रही है बहुत सम्भव है वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा संघटन उत्पन्न हो जाय, जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्वन्ध ही न हो और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंग्रेजों के यहाँ आने से पहले थी। 'प्रेमचन्द ने अपने पुनरुत्थान में भाषा के प्रश्न को बहुत महत्व दिया था। बंगीय बन्धु उस समय तक इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर पुनर्जागरण के सन्दर्भ में उचित ध्यान नहीं दे सके थे। अंग्रेजी ब्राह्मण समाजी व्यक्तियों का मोह चकित करने वाला है। यदि सचमुच भारतीय जागरण की आकांक्षा किसी समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता में है तो उसे भाषा की समस्या पर ध्यान देना चाहिए। प्रेमचन्द मानते थे कि हमारे देश की राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसका आधार सर्वसामान्य बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज ही में समझ सकें।

प्रेमचन्द सामन्तवाद, पूंजीवाद, औद्योगीकरण और गुलामी के विरुद्ध निरन्तर कलम के सिपाही बनकर जूझते रहे। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव को प्रेमचन्द भारतीय जनता के लिए सांघातिक प्रभाव मानते थे। उनकी दृष्टि रूढ़ परम्पराओं पर नहीं थी, उन्हें वे

छोड़ने की बात बराबर कहते रहे किन्तु ऊपर से ओढ़ी हुई विदेशी सभ्यता को उन्होंने कभी वरेण्य नहीं माना। एक उच्चकोटि के सामाजिक कलाकार के सामने पुनर्जागरण का प्रश्न न तो केवल यथार्थवाद से हल होता है और न आदर्शवाद से यदि सही तौर पर पुनर्जागरण लेखक को अभीष्ट है तो उसे रङ्गभूमि, प्रेमाश्रम, गोदान और कर्मभूमि के पात्रों से, उनके विविध क्रिया-कलापों से यथार्थ और आदर्श का चयन करना होगा, और जो जीवन, जागृति, बल और बलिदान की भावना से ओतप्रोत होगा, वही स्वीकार करना होगा।

प्रेमचन्द-युग तक पुनर्जागरण की लहर अपना प्रारम्भिक रूप लगभग समाप्त कर चुकी थी। समाज-सुधार का जो आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था वह बीसवीं शती के तीसरे दशक में शिथिल हो गया था। किन्तु प्रेमचन्द अपने कथा-साहित्य में सामयिक राजनीतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों के साथ जागरण के प्रयत्नों से तनिक भी शिथिल नहीं पड़े थे। गोदान तक आते-आते उनकी राजनीतिक मान्यताओं में कुछ बदलाव अवश्य आया था किन्तु भारतीय निर्धन जनता को शोषण से मुक्त कराने की दिशा में उनकी लेखनी सक्रिय रूप से चल रही थी।

प्रेमचन्द के नवजागरण को उत्तर भारत का हिन्दी नवजागरण कहकर मैं सीमित नहीं करना चाहता क्योंकि जातीय-जीवन और राष्ट्रीय-जीवन की गतिविधियों को समग्र रूप में पूरी जागरूकता के यदि भारतीय साहित्य में निर्भीक भाव से चित्रित किया गया तो वह प्रेमचन्द साहित्य में ही है। प्रेमचन्द के उपन्यासों का फलक कहीं भी विशुद्ध राजनीतिक नहीं है। उसका मूल स्वर तो नव्य चेतना और नवजागरण है। राजनीति उसका एक मामूली सा अङ्ग है। दूसरी भारतीय भाषाओं में किसान, गांव और गरीब को वह स्थान नहीं मिला जो हिन्दी साहित्य में मिला है। पूंजीवादी व्यवस्था और महाजनी सभ्यता के विरुद्ध जो जागरण प्रेमचन्द ने किया वह किसी भारतीय भाषा में लक्षित नहीं होता। कर्मभूमि रङ्गभूमि, और गोदान में प्रेमचन्द ने वर्ग संघर्ष का जो चित्र अङ्कित किया है वह भारतीय साहित्य के लिए उस समय तक सर्वथा नया था। प्रेमचन्द ने अपने एक भाषण में कहा था—दुःख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार जिनसे संसार नरक के समान हो रहा है, इनका कारण समाज का संगठन है। सोशियालोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है। (सन् 1933 का भाषण)

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उत्तर भारत में भारतेन्दु युग से प्रेमचन्द युग तक के अस्सी वर्षों में नवजागरण की जो लहर आई वह समूचे भारत के उन्नीसवीं शताब्दी नवजागरण की लहर से अधिक प्रबल और तेज थी। भारत के जीवन में व्याप्त रूढ़ संस्कार और नाना प्रकार के अन्तर्विरोधों को भारतेन्दु, प्रसाद और प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में जिस प्रखरता के साथ अङ्कित किया वह उत्तर भारत को नवोत्थान की प्रेरणा से भरने वाला है। प्रेमचन्द ने जिस कथा भूमि को उर्वर बनाकर उसमें नव चेतना का बीज वपन किया वह पौधा पल्लवित पुष्पित और फलित होकर आज लहलहा रहा है।

प्रेमचन्द की देन नव जागरण के सन्दर्भ में बेजोड़ है। ऐसा लोकप्रिय दूसरा लेखक नवजागरण के सन्दर्भ में खोज पाना कठिन है।

संक्षेप में, भारतीय पुनर्जागरण का सम्पूर्ण इतिवृत्त तब तक अधूरा रहेगा जब तक उत्तर भारत के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक आन्दोलनों तथा हिन्दी के यशस्वी कवि, लेखकों के योगदान का पूरा विवरण उसमें समाविष्ट न होगा। यह खेद का विषय है कि उत्तर भारत के अस्सी वर्ष के प्रखर आन्दोलनों की गूंज सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी पुनर्जागरण के संदर्भ में वह अनसुनी कर दी जाती है। हिन्दी के कृती साहित्यकारों के प्रदेय को इस संदर्भ में भूल जाना या उसका सही रूप में आकलन न करना इतिहास लेखन की भयंकर त्रुटि है। पुनर्जागरण उत्तर भारत को सभी स्तरों पर जगाने वाला-झकझोर कर जगाने वाला-आन्दोलन था जिसे वाणी देने का काम हिन्दी के साहित्यकारों तथा समाज-सुधारकों ने किया था। प्रेमचन्द इन साहित्यकारों में अग्रणी और मूर्धन्य थे।

———

प्रेमचन्द सुधारवाद से आमूल बदलाव तक

डा० शिवकुमार मिश्र ★

सन् 1880 से सन् 1936 ई० तथा सन् 1901 से सन् 1936 ई०—यदि हम इन तिथियों पर गौर करें तो हमें ज्ञात होगा कि एक व्यक्ति के रूप में ही नही, एक रचनाकार के रूप में भी, काल का एक बहुत छोटा सा टुकड़ा प्रेमचन्द की जिन्दगी को देखने समझने और उस पर रायजनी करने को मिला था—जिन्दगी, जो अपने बहुत लम्बे इतिहास, बेहद उलझझे हुए वर्तमान और पर्त्त-दर-पर्त्त जमी धुन्ध में खोए आगत को लिए, तमाम सारी चुनौतियों के साथ, उनके समक्ष विद्यमान थी। एक तरफ वास्तविक रचनाकार-जीवन के महज तीस वर्षो का एक छोटा सा कालखण्ड, और दूसरी तरफ उलझनों, जटिलताओं और चुनौतियों से भरी जिन्दगी का इतना लम्बा फैलाव, बिरले मनुष्य और बिरले रचनाकार ही ऐसी स्थिति में अपने आयुष्य का वैसा सार्थक और भरापूरा उपयोग कर पाते हैं, जैसा प्रेमचन्द ने किया। उनकी साहित्य साधना और उनका कृतित्व इस बात का साक्ष्य है कि उन्होंने जिन्दगी की चुनौतियों को साहस के साथ स्वीकारा और समय के एक-एक तेवर को पहचानते हुए, अपनी रचनाओं में उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया, कि वे उस समय और उस जिन्दगी के प्रामाणिक दस्तावेजों के रूप में अपनी पहचान बना सकीं। प्रेमचन्द की साहित्य साधना इस बात का भी प्रमाण है कि उन्होंने अपने उस लक्ष्य के मूल्य पर जिन्दगी से किसी किस्म का कोई समझौता नहीं किया, जिसे सम्मुख रखकर एक लेखक की नियति उन्होंने स्वीकार की थी, अर्थात् हाथ में कलम पकड़ने के पहले वे निश्चय कर चुके थे कि उन्हें एक ऐसे रास्ते से होकर अपना सफर तय करना है जो जिन्दगी के बीहड़ों से होकर गुजरता है और जिस पर चलते हुए उन्हें अपना सब कुछ दाँव पर लगाना पड़ सकता है। ऐसा नहीं था कि उनके सामने दूसरे रास्ते न हों, रास्ते थे जो उन्हें धन और शोहरत, दोनों ओर ले जा सकते थे, किन्तु प्रेमचन्द अपनी प्रकृति से भली भांति वाकिफ थे, उन्हें अपनी सीमाओं का पूरी तरह बोध था। बहुत सोच समझकर उन्होंने अपना रास्ता चुना था, क्योंकि उसी रास्ते पर चलकर वे उस जिन्दगी से सीधा साक्षात्कार कर सकते थे जो उन्हें बेहद प्यारी थी, और जिससे वे बेहद नफरत भी करते थे। इस रास्ते पर उनके दोस्त भी थे और दुश्मन भी, और वह विराट मनुष्यता भी थी जिसकी पीड़ा, जिसके सपनो और जिसके संघर्षों को वाणी देने के लिए उन्होंने रचनाधर्म अपनाया था। जिन्दगी के यथार्थ को जितना कुछ उन्होंने एक छोटी उम्र में ही देख और भोग लिया था, उसके चलते उन्हें आगे की मंजिलों के बारे में कोई मुगालता नहीं था। अपने द्वारा तय की गई राह पर वे जिस लगन और निष्ठा से आगे बढ़े, उसी का परिणाम उनका शानदार और ज्वलंत कृतित्व है।

★ अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बी 3 यूनिवर्सिटी कालोनी,
वल्लभ विद्यानगर–388–120 (गुजरात)

हम यह तो नहीं कहेंगे कि प्रेमचन्द ने अपने साहित्य की इमारत शून्य में खड़ी की, किन्तु इतना सब लोग जानते हैं कि प्रेमचन्द के परिवेश में ऐसा कुछ नहीं था जो उन्हें लेखक बनने की प्रेरणा देता। घर, परिवार, और परिवार के बाहर स्थितियाँ ऐसी थीं कि निर्वाह लायक नौकरी पाकर गृहस्थी की गाडी को आगे बढ़ा ले जाने को ही औसत आदमी जिन्दगी की सार्थकता मान सकता था। किन्तु ऐसे परिवेश में भी प्रेमचन्द ने लेखक बनने का सपना देखा, सपना ही नहीं देखा लीक से अलग हटकर अपने पसन्द किए रास्ते पर चल कर लेखक बने, और एक लेखक के रूप में ही नहीं एक बड़े लेखक के रूप में अपनी पहचान कायम की। इसे परिवेश पर रचनाकार की आस्था की विजय न कहा जाय तो और क्या कहा जा सकता है। कहना न होगा कि जो इस प्रकार विजयी होते हैं वही बड़प्पन का वह सन्दर्भ पाते हैं जो कभी-कभी ही कुछ लोगों को नसीब हुआ करता है।

प्रेमचन्द एक लेखक के रूप में जिस समय आए हिन्दी में बाबू देवकी नन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों की धूम मची हुई थी। भारतेन्दु युग की मानसिकता वाले कुछ लेखकों के द्वारा शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यासों की एक धारा भी यथार्थ के हलके फुलके ज्योतिकणों के साथ प्रवाहमान थी, किन्तु निर्विवाद रूप से आकर्षण का केन्द्र खत्री जी के तिलस्मी उपन्यास ही थे। यह राजाओं-महाराजाओं, राजकुमारों-राजकुमारियों, ऐयारों-बहुरूपियों-षणयंत्रकारियों, तिलस्मी तहखानों और खोहों की रंग, रस, रोमान, मिलन, विरह और उसमें डूबने-उतराने वालों की एक अजीब रोमानी दुनिया थी जिसने हिन्दी पाठकों ही नहीं अन्य भाषाभाषियों को भी अपने आकर्षण पाश में बाँध रखा था। खत्री जी की शोहरत के क्या कहने, कहते है कि अन्य भाषाभाषियों ने महज उनके उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिन्दो सीखी थी। प्रेमचन्द अपनी उम्र की पहली उठान में खुद कहीं न कहीं इस दुनिया में खोये हुए थे। तिलस्म-होशरूबा उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में ही रात-रात भर जाग कर पढ़ डाला था। बंगला के कुछ उपन्यास भी उनके समय तक अनूदित होकर हिन्दी में आ गए थे, और उनका संसार भी प्रेमचन्द को आर्कषित करता था। प्रेमचन्द चाहते तो धन और शोहरत के बने बनाए राजपथ पर खयालों की इस दुनिया को लेकर आगे बढ़ सकते थे किन्तु वे बढ़े उन पेचीदी और चक्करदार गलियों की ओर जो सीधे उन्हें उस दुनिया में पहुँचाने वाली थीं जहाँ न धन था और न शोहरत का विश्वास, जो दुनिया उनकी अपनी देखी और भोगी हुई दुनिया थी, जिससे उनका सीधा परिचय था, और जो कल्पना भावुकता, रंग, रसरोमान, जादू-टोने और तिलस्म की इस दुनिया से सर्वथा भिन्न एक जीती जागती हकीकत के रुप में हर क्षण अपने देश से उन्हें आहत कर रही थी। इतिहास साक्षी है कि निर्णय के नाजुक क्षणों में प्रेमचन्द ने चूक नहीं की। अपना सब कुछ दाँव पर लगाते हुए, रचनाधर्मी सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ वे आगे आए। मात्र इसी रचनाधर्मी ईमानदारी के बल पर परिस्थितियों तथा परिवेश की चुनौतियों को झेलते हुए, खुद के पसन्द किए रास्ते पर चलकर प्रेमचन्द ने धन भले न सही, वह शोहरत और वह लोकप्रियता हासिल की जो कालजयी रचनाकारों को ही मिला करती है, और जो उस शोहरत और उस लोकप्रियता से कहीं बड़ी, और कहीं तात्विक होती है, रंग, रस और रोमान के चितेरे जिसे पाया करते हैं।

प्रेमचन्द को युगप्रवर्त्तक रचनाकार कहा गया है। यदि प्रेमचन्द युगप्रवर्त्तक रचनाकार हैं, जैसा कि वे हैं, तो इसी अर्थ में, कि उन्होंने सचमुच हिन्दी में एक नए और सार्थक औपन्यासिक युग का, सप्राण तथा अपने समय से जुड़ी रचनाशीलता के युग का, प्रवर्त्तन किया। उन्होंने एक पूरे के पूरे समाज की साहित्यिक रुचि का परिष्कार किया, उसे सोद्देश्य तथा सार्थक रचना का आस्वाद लेने और इस आस्वाद के फलस्वरूप उस बेचैनी का अहसास कर सकने योग्य बनाया जो कर्म की सच्ची प्रेरणा बनती हुई सार्थक और क्रान्तिकारी बदलाव का माध्यम हुआ करती है। उन्होंने उपन्यास और गल्प कही जाने वाली, किस्सा कहानी जैसी बदनाम, तथा भले घरों से बहिष्कृत विधाओं को जिन्दगी के जाग्रत यथार्थ तथा समाज की अहम समस्याओं से जोड़कर एक सम्मानित हैसियत प्रदान की उन्हें मनुष्य के चरित्र का ही नहीं, समाज और व्यवस्था के चरित्र का चित्र तथा आइना बनाया। देश की गुलामी हो अथवा उसकी अकथनीय दरिद्रता, इनकी विधायक शक्तियों पर कठोर से कठोर प्रहार करते हुए उन्होंने अपने कृतित्व को उस मानवीय गरिमा से संयुक्त किया जिसकी समकालीन साहित्य में मिसाल नहीं है। वे हिन्दी के पहले कथाकार हैं जिन्होंने सामंती तथा अभिजात मानसिकता को तार तार करते हुए सड़क के साधारण आदमी को कथानायक का गौरव प्रदान किया और इस प्रकार हिन्दी कथा साहित्य में यथार्थ की एक नई परम्परा की बुनियाद रखी।

जाहिर है कि शानदार उपलब्धियों की इस महती शृंखला के पीछे तक अत्यन्त कठोर साहित्य साधना की पृष्ठभूमि निहित है। एक समर्पित जीवन की उपलब्धियाँ हैं। ये एकबारगी ही प्रेमचन्द को हस्तगत नहीं हुईं इनके पीछे आत्ममंथन का, आत्मसंघर्ष का एक सजीव और मार्मिक आख्यान है जिससे परिचित हुए बिना इनके महत्व का सही अनुमान नहीं किया जा सकता है। आत्मसंघर्ष के अलावा इनके पीछे बाहरी दुनिया के जबर्दस्त दबावों का एक लम्बा सिलसिला है जिसे आजीवन प्रेमचन्द ने झेला है, उनका आत्मसंघर्ष जिसका परिणाम माना जा सकता है। बाह्य संघर्ष और आत्मसंघर्ष के इन पाटों के बीच से ही प्रेमचन्द का रचनाकार-व्यक्तित्व न केवल निखरा है, वह निरंतर विकसित भी होता गया है। प्रेमचन्द पर अंतिम रूप से कोई भी रायजनी करते हुए हमें प्रेमचन्द के रचनाकार के इस दुहरे संघर्ष को मद्देनजर रखना होगा, अन्यथा प्रेमचन्द पर हम जो भी निर्णय देंगें, वे अधूरे गलत और एकांगी निर्णय होंगे।

बाह्य संघर्ष और उसके फलस्वरूप उपजे आत्मसंघर्ष के पाटों के बीच प्रेमचन्द का रचनाकार-व्यक्तित्व किस प्रकार विकसित होता गया है, किस प्रकार उनकी आस्थाएँ, उनके विश्वास, एक प्रकार से उनका समग्र सामाजिक चिन्तन, गुणात्मक रूप से प्रखर होता गया है, इसका प्रमाण उनके रचनागत विकास में हमें मिल जाता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और शोषण की उसकी मशीनरी के प्रति वे जीवन पर्यंत असहिष्णु रहे हैं। उन्होंने कहीं भी उसकी पुलिस, कचहरी, कानूनों, आदि को नहीं बख्शा है, उन पर कड़ी से कड़ी चोट की है। उनका सारा कृतित्व भारत में अंग्रेजी राज की कटुतम आलोचना प्रस्तुत करता है। साम्राज्यवादी गुलामी से देश की मुक्ति, उनके लिए सबसे अहम समस्या

रही है। राष्ट्रीय आन्दोलन की हर अग्रगामी गतिविधि से वे आगे आकर जुड़ते रहे हैं। सचमुच राष्ट्रीय आन्दोलन का ऐसा भरापूरा और सजीव चित्रण हमें समकालीन साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता जैसा कि प्रेमचन्द के कृतित्व में वह है। किन्तु जहाँ तक सामाजिक जीवन की दूसरी अहम समस्याओं का सवाल है, प्रेमचन्द की सोच एक सी नहीं है। जहाँ तक समस्याओं को पहचानने और उनके स्रोत तक पहुँचने का सवाल है, वे गलती नही करते उन्हें सामाजिक यथार्थ की संपूर्ण संगति में प्रस्तुत करते हैं, परन्तु जब भी वे उनके निदान की बात करते हैं, मनुष्य की नेकनीयती, उसकी सद्वृत्तियों पर अपनी मूलभूत आस्था के तहत, वे अपनी इसी सोच को सामने रखते हैं कि यदि मनुष्य को सुधारा जा सके, उसकी सद्वृत्तियों को उभारा जा सके तो बहुत सारी समस्याओं का निदान मिल जायगा। उनके चिन्तन की यह असंगति अविश्वसनीय और अस्वाभाविक समाधानों के साथ उनकी कृतियों में आती है, परन्तु इसे संस्कार कहिए, मुंशीजी की नेकनीयती कहिए, उनकी सदिच्छा कहिए, वे अपने इस भाववादी चिन्तन से मुक्त नहीं हो पाते। उन्हें समाज के रोग की, उसके कारणों की खरी पहचान है किन्तु जब निदान की बात आती है उनकी सोच बलात् इनकी उपेक्षा करते हुए आरोपित और अयथार्थवादी हो उठती है। प्रेमचन्द का सन् 1930 तक का कृतित्व मनुष्य के प्रति, उसकी सद्वृत्तियों के प्रति, उनकी इसी मूलभूत आस्था से परिचालित है गोकि ऐसे भी तमाम अवसर इस बीच आए हैं जबकि सामाजिक यथार्थ का अपना दवाव उनकी सोच को अपने अनुकूल रख सकने में समर्थ हुआ है। कम से कम इतना तो उसने अनेक अवसरों पर किया है कि प्रेमचन्द स्वयं अपने चिन्तन की असंगतियों को भाँपकर बेचैन हो उठे हैं। मनुष्य की सद्वृत्तियों पर विश्वास, फलतः उसके हृदय परिवर्तन अथवा जिसे सदिच्छा या यूटोपिया कहा जाय, ऐसे उदाहरण तो सर्वविदित हैं—कहानियों के भी और उपन्यासों से संबंध रखने वाले भी, जरूरत उन उदाहरणों पर दृष्टिपात करने की है जो भाववादी-आदर्शवादी चिन्तन के इस दौर में भी प्रेमचन्द को एक बेचैन व्यक्ति के रूप में पेश करते हैं, कभी सीधे और कभी प्रकारांतर से, पात्रों के माध्यम से अपनी बेचैनी प्रकट करते हुए। आदर्शवाद के इस दौर में 'निर्मला' जैसे उपन्यास की रचना भी अपने में एक महत्वपूर्ण तथ्य है जहाँ दहेज और अनमेल विवाह जैसी ठेठ सामाजिक समस्याओं के बीच एक निर्दोष नारी के जीवन की ट्रेजेडी को चित्रित करते हुए भी मुंशीजी इस सीमा तक भावुक नहीं हुए हैं कि समस्या का कोई आदर्शवादी समाधान देने की कोशिश करें या कि उसकी वेदी पर एक निर्दोष नारी की बलि को रोकने के लिए कोई सुधारवादी कदम उठाएँ। यहाँ समस्या और उसके शिकार दोनों का परिप्रेक्ष्य एकदम यथार्थ है। जितनी यथार्थ समस्या है उतना ही यथार्थ उसका प्रतिफलन भी। राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से जुड़े होते हुए भी ऐसा नहीं है कि प्रेमचन्द को आने वाले स्वराज्य को लेकर कोई मुगालता हो। राष्ट्रीय आन्दोलन में देशी पूंजीपतियों तथा सामंतों की सक्रिय भूमिका तथा देशी नेताओं के अपने चरित्र तथा आचरण से वे पूरी तरह वाकिफ थे। इनका यथार्थ अक्सर उन्हें बेचैन कर देता था, किन्तु देश की गुलामी की समस्या को सबसे अहम समस्या समझने के नाते तथा मनुष्य की सद्वृत्तियों पर अपनी मूलभूत आस्था के नाते, वे अंत तक राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से जुड़े

रहे। उनकी बेचैनी को, उनके मन में चलने वाले द्वन्द्व को उनके अनेक कथापात्रों के माध्यम से, शिवरानी देवी के साथ हुए वार्त्तालाप से, तथा मित्रों को लिखे गए पत्रों से समझा जा सकता है। 'आहुति' कहानी की नायिका रूपमणि कहती है—अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व रहे, और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे तो मैं कहूँगी कि ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। ······· कम से कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं कि जान की जगह गोविन्द बैठ जाय। गाँधीजी, जो इस सारे दौर प्रेमचन्द की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति रहे उग्रतर होती हुई परिस्थितयों में अपने सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसे हथियारों के साथ प्रेमचन्द के लिए किस प्रकार अर्थहीन होते जाते हैं, फलस्वरूप कितने तीखे द्वन्द्व की स्थितियों से प्रेमचन्द को गुजरना पड़ता है इसका उदाहरण 'कातिल' कहानी में धर्मवीर और उसकी माँ के बीच हुआ वार्त्तालाप है। यह वार्त्तालाप वस्तुतः मोह तथा सदिच्छाओं की पोली जमीन पर खड़े हुए एक प्रेमचन्द का, यथार्थ की ठोस जमीन पर आ जाने के लिए आतुर दूसरे प्रेमचन्द से होने वाला वार्त्तालाप है—

धर्मवीर—मुझे आशा नहीं कि पिकेटिंग और जुलूसों से हमें आजादी प्राप्त हो सके। यह अपनी कमजोरी और मजबूरी का खुला ऐलान है। झंडिया निकालकर और गीत गाकर देश आजाद नहीं हुआ करते। मुझे तो यह सब कुछ बच्चों का खेल मालूम होता है। लड़कों को रोने धोने से मिठाइयाँ मिला करती हैं, वही इन लोगों को मिल जाएगा। असली आजादी जभी मिलेगी जब हम उसका मूल्य चुकाने को तैयार होंगे।

माँ—मूल्य क्या हम दे नहीं रहे हैं। हमारे लाखों आदमी जेल नहीं गए। हमने डंडे नहीं खाए। अपनी जायदादें नही जब्त कराई।

धर्मवीर—इससे अंग्रेज का क्या नुकसान हुआ। वे हिन्दुस्तान उस वक्त छोड़ेंगे जब उन्हें विश्वास ही जाएगा कि हम यहां एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकते। आज अगर हिन्दुस्तान के एक हजार अंग्रेज कत्ल कर दिए जायं तो आज स्वराज्य मिल जाय। रूस इसी तरह आजाद हुआ, आयरलैंन्ड इसी तरह आजाद हुआ और हिन्दुस्तान भी इसी तरह आजाद होगा।

यह वही कहानी है जिसके कारण सन् 1931 में प्रेमचन्द को हंस के लिए जमानत देनी पड़ी थी।

स्वराज्य की एक अपनी उनकी परिकल्पना थी, वस्तुतः जिसकी पूर्ति वे अपने देश के लिए चाहते थे। सन् 1933 में मुंशी दयानारायण निगम को उन्होंने उनके इस प्रश्न के उत्तर में कि आप किस पार्टी के साथ है लिखा था—'आपने मुझसे पूछा था कि मैं किस पार्टी के साथ हूँ। मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों में (असहयोग आन्दोलन के अंतिम दिनों में स्वराज्य पार्टी बनने के साथ जब कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई थी)। कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही हैं। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो अवाम-अलनास की सियासी तालीम को अपना दस्तूरूल अमल बनाएगी।

स्वराज्य के प्रसंग पर शिवरानीदेवी के साथ हुए उनके वार्त्तालाप में स्वराज्य की उनकी अपनी परिकल्पना इस प्रकार सामने आई है—

शिवरानीदेवी—जब स्वराज्य हो जाएगा तब क्या चूसना बन्द हो जाएगा।

आप बोले—चूसा तो थोड़ा बहुत हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर को शहजोर चूसें। हाँ, रूस है कि जहाँ पर बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ।

आप बोले—अभी जल्दी कोई उसकी आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो कि जल्दी ही हो जाय तब आप किसका साथ देंगे।

आप बोले—मजदूर और काश्तकारों का।……मैं तो उस दिन के लिए मनाता हूँ कि वह दिन जल्दी आए।

मैं बोली—तो क्या रूस वाले यहां भी आएँगे।

वह बोले—रूस वाले यहां नहीं आएँगे। बल्कि रूस वालों की शक्ति हम लोगों में आएगी।……वही हमारे सुख का दिन होगा। जब यहां काश्तकारों और मजदूरों का राज्य होगा।

मैं बोली—'मजदूरों का राज्य होने पर क्या हमको फिक्रों से छुट्टी मिल जाएगी।

आप बोले—क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी। हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारे बीबी-बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होगी और इसकी जिम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं बल्कि राष्ट्र के सिर पर है तो हमारा क्या सिर फिर गया है कि हम अपनी जान खपाकर रात दिन मेहनत करें और आमदनी का कुछ न कुछ हिस्सा काटकर अपने पास जमा करने की कोशिश करें। हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होने पाएगी तो ऐसा कौन आदमी है जो आराम से खाना पहनना नहीं चाहेगा।"

यह शिवरानी देवी की किताब से उद्धृत प्रेमचन्द और शिवरानी देवी की बातचीत है जो सन् 1928 में हुई थी। जाहिर है कि समाजवाद प्रेमचन्द के लिए कितना बड़ा सपना था जो वे उस समय भी देख रहे थे जब वे पूरी तौर से महात्मा गाँधी के चिन्तन से अनुप्राणित थे। स्वराज्य की यही प्रेमचन्द की परिकल्पना है जो उन्होंने समाजवाद के रूप में देखी और प्रस्तुत की है। अपनी इस परिकल्पना की पूर्ति जब उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन की तत्कालीन गतिविधियों में न दिखाई दी, उन्हें लगा कि उसे परिचालित करने वाले चिन्तन के तहत उनकी परिकल्पना का स्वराज्य नहीं आ सकता, वे जबर्दस्त मोहभंग के शिकार हुए और मोटे तौर पर सन् 1930–31 के बाद की उनकी सर्जना एक नई जमीन पर रखी गई नई बुनियाद पर खड़ी सर्जना है।

जसा कि हमने देखा प्रेमचन्द का यह मोहभंग एक बारगी ही नहीं वरन् शनैः शनैः घटित हुआ है जबकि जन आकांक्षाओं के फलस्वरूप उग्र होती हुई परिस्थितियों के दबाव वश वे अपने ही चिन्तन पर शकाएँ उठाते हैं, उसी का निषेध करते हैं, उसी से टकराते हुए दिखाई देते हैं। इस बिन्दु पर उनका एक सुधारवाद उनके दूसरे सुधारवाद को काटता है, और चिन्तन की जमीन पर ही नहीं कला की जमीन पर भी वे अधिकाधिक यथार्थ निष्ठ होते जाते हैं। इस बात का सबसे अधिक सटीक उदाहरण क्या होगा कि जिन महात्मा गांधीजी को कभी प्रेमचन्द ने अपना आदर्श पुरुष घोषित किया था, 'रंगभूमि' के सूरदास के रूप में उनके आदर्शो–विश्वासों की एक जीवंत प्रतिमा खडी की थी, उसे गाँधीजी की परिकल्पना का सच्चा सत्याग्रही-शूर बताया था, वही प्रेमचन्द बदली हुई परिस्थितियों में यह कहने को विवश होते हैं कि सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति होती है यह सिद्धान्त भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया। भ्रांतिपूर्ण तो उसे प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में ही साबित कर दिया है जबकि एक स्तर पर सूरदास जैसे चरित्र को अपनी संपूर्ण आत्मीयता देते हुए भी प्रेमचन्द जमीन की लड़ाई में अंततः उसकी हार ही चित्रित करते हैं। प्रेमचन्द का कोई भी आदर्श सूरदास की छिनती हुई जमीन को बचा नहीं पाता और उभरते हुए पूंजीवाद द्वारा वह लील ली जाती है। उपन्यास का अंत प्रेमचन्द के आदर्शों की हार से सूरदास की मौत से होता है। यह प्रेमचन्द की रचनाधर्मी ईमानदारी है कि वे अपनी हार का चित्रण खुद करते हैं। यह यथार्थवाद का वह जादू है जो लेखक की निजी आस्थाओं और विश्वासों के सिर पर चढ़कर वैसी ही बोलता है जैसे बाल्जाक की कृतियों में उसके निजी मोह को तार-तार करता हुआ सामंती समाज के उसके द्वारा किए जाने वाले कटुतम चित्रण में वह बोला है। यह आदर्शवाद पर यथार्थवाद की विजय है और गोकि प्रेमचन्द अभी ईस आदर्शवाद को छोड़ जरूर नहीं पाते, किन्तु उसकी चूलें हिल जाती हैं और सन् 1930-31 के बाद के कृतित्व में तो वह भरभराकर ढह जाता है।

हमने अभी कहा है कि मोहभंग के बाद प्रेमचन्द की सर्जना एक नई जमीन पर खड़ी सर्जना है। यह उनकी उस रचना-यात्रा की सार्थक परिणति है जो सुधारवाद की धुंध से उबरकर क्रांतिकारी सुधारवाद का आलोक देखते हुए, अंततः आमूल सामाजिक बदलाव के पथ का संधान करती है। देखने और समझने की बात यह है कि प्रेमचन्द के सामाजिक चिन्तन में, उनके विश्वबोध में यह जो गुणात्मक परिवर्त्तन होता है उसका आधार कतई किताबी नहीं है। उसका सीधा संबंध उनके अपने समय के सामाजिक यथार्थ से, उस यथार्थ के उनके अपने जीवन अनुभवों से, और उनके प्रकाश तथा उनके ताप में प्रखरता के साथ विकसित होते हुए उनके विश्वबोध से है। आदर्श अब भी उनके साथ रहते हैं, किन्तु आदर्शवाद अब नहीं दिखाई देता। आदर्श गाँव, आदर्श जमीदार, आश्रम, सदन सब पीछे छूट जाते हैं और आदर्शवाद का यह कुहासा छंटते ही उभर उठती है उनकी कृतियों में अपनी सारी विरूपताओं के साथ वह रोमांचकारी दुनिया, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। इसी दुनिया के सुधरकर कभी मनुष्य के योग्य बन जाने का विश्वास प्रेमचन्द को था,

किन्तु बदले हुए माहौल में अब प्रेमचन्द को उसके बारे में कोई मुगालता नहीं रहता। सामाजिक यथार्थ तथा इस दुनिया की पहचान प्रेमचन्द को पहले भी थी, किन्तु अपनी आदर्शवादी सुधारवादी आस्थाओं के चलते वह अपनी सारी असलियत के साथ सामने नहीं आ पाती थी, किन्तु अब इस दुनिया पर किसी प्रकार का रंग-रोगन प्रेमचन्द नहीं लगाते। अब यह एक सुधरी हुई नंगी दुनिया है। अब उनके सामने साम्राज्यवाद और उसके देशी सहायक सामंतवाद और पूँजीवाद भी अपनी सारी अमानवीयता के साथ स्पष्ट हो जाते हैं। यह 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', और 'प्रेमाश्रम' की दुनिया न होकर 'ठाकुर का कुआँ,' 'दूध का दाम,' 'पूस की रात,' 'मुक्तिमार्ग,' 'गुल्ली डंडा,' 'कफन' और 'गोदान' की दुनिया है, 'सद्गति' तथा 'सवा सेर गेहूँ' जैसी कहानियों में जिसका आभास प्रेमचन्द पहले भी दे चुके थे। गोकि आमूल बदलाव की बात प्रेमचन्द इन रचनाओं में कहीं नहीं करते किन्तु इनकी पंक्ति-पंक्ति व्यंजना की भूमि पर हर क्षण पाठक की चेतना पर दस्तक देती है, उसे इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि इस दुनिया को ऐसी ही नहीं रहना है, इसमें किसी किस्म का कोई सुधार नहीं हो सकता, इसे आमूलतः बदले बिना उसे मनुष्य के रहने योग्य नहीं बनाया जा सकता। इन्हीं रचनाओं में प्रेमचन्द की यथार्थवादी कला अपना पूरा उत्कर्ष पाती है। बंगला के शरतचन्द्र और रवीन्द्रनाथ के सदर्भ में जैनेन्द्रकुमार से बात करते हुए प्रेमचन्द ने कहा था कि जो रास्ता उनका है वह मेरा हो ही नहीं सकता। उन्होंने इस प्रसंग में 'भावनागत काठिन्य' की जो बात उठाई थी, वह यहीं आकर स्पष्ट होती है, क्योंकि यथार्थ का जो बेलौस उद्घाटन इन रचनाओं में प्रेमचन्द कर सके हैं वह भावनागत काठिन्य के बिना संभव ही नहीं है। अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य के नाते सामान्य जन की पीड़ा के प्रति बेहद संवेदनशील होते हुए भी, रचनाकार के नाते जब प्रेमचन्द ने माधव और घीनू जैसे पात्रों को गढ़ा होगा याकि जब उन्होंने इस दुनिया के नारकीय चित्र अपनी कलम से उभारे होंगे तो उन्हें यथार्थ के प्रति कितनी निर्मम तटस्थता बरतनी पड़ी होगी। यही समय प्रेमचन्द के 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक निबंध की रचना और प्रकाशन का समय है। यह प्रेमचन्द के हाथों लिखा गया 'हंस' का आखिरी संपादकीय है जो प्रेमचन्द के चिन्तनगत बदलाव का निर्णायक साक्ष्य प्रस्तुत करता है। जीवन भर मनुष्य मात्र के कल्याण की बात करने वाले अंतिम क्षणों तक उसमें हृदय परिवर्तन की संभावना देखने वाले प्रेमचन्द यहीं आकर इस हकीकत का खुले आम एलान करते हैं कि मनुष्य समाज दो टुकड़ों में बँटा हुआ है, जिसमें बड़ा हिस्सा मरने खपने वालों का है, और एक बहुत छोटा सा हिस्सा ऐश आराम उड़ाने वालों का। यहीं वे व्यक्तिगत संपत्ति पर आधारित महाजनी सभ्यता अर्थात पूँजीवादी सभ्यता को शाप देते हैं, उसे सदा-सदा के लिए खत्म कर देने का आह्वान करते हैं। और यहीं आकर निर्भ्रांत रूप से वे उस समाजवाद की हिमायत करते हैं जिसका सपना वे न जाने कब से देख रहे थे, किन्तु अब उसे साकार करने के लिए उद्बोधन देते हैं, क्योंकि वे जान जाते हैं कि जिस दुनिया और उसकी व्यवस्था को मनुष्य के हित में वे आमूलतः बदलना चाहते हैं वह समाजवाद के रास्ते पर चलने से ही बदलेगी, उसके सुधार की अब कोई आशा नहीं है।

साहित्य और राजनीति में कुछ लोग ब्राह्मण और शूद्र का नाता मानते हैं किन्तु इसे संयोग कहिए याकि इतिहास और समय का तकाजा, यही वह समय है जब साहित्य और राजनीति दोनों के मंचों से एक ही नगर में, सन 1936 में, समाजवाद की उद्घोषणा की गई, सारी समस्याओं का अंत, अंधकार में प्रकाश, उसी में देखा गया। समाजवाद की राह अपनाने की उद्घोषणा राजनीति के मंच से कांग्रेस के सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू ने सन् 1936 के लखनऊ अधिवेशन में की, और आदित्य के मंच से, इसी साल लखनऊ में होने वाले प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में, प्रेमचन्द ने की।

जाहिर है कि अपनी परिकल्पना का स्वराज्य प्रेमचन्द अपने जीवन में नहीं देख सके। समाजवाद का उनका सपना भी उनके सामने साकार नहीं हो सका। आज भी वह साकार हो सका है, इसपर विशेष टिप्पणी करने की जरूरत हम नहीं समझते। काश, कि वह साकार हो पाता और वह मनुष्यता, जिसे प्रेमचन्द ने अपने समूचे रचनाकाल में अपनी भरपूर संवेदना दी, वह सामाजिक न्याय प्राप्त कर सकती जो प्रेमचन्द उसे दिलाना चाहते थे किन्तु हमारे लिए यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण नहीं है कि प्रेमचन्द समाजवादी थे या नहीं थे, याकि फिर वे क्या थे। हमारे लिए जो बात अहम है, वह यह कि जो विश्व-बोध उनमें एक लम्बे अनुभव के उपरान्त निभ्रांत रूप में विकसित हुआ, उसके तहत उन्होंने जिन्दगी को उसकी संपूर्ण वास्तविकता में, उसकी सही समझ के साथ, पूरी कलात्मक संजीदगी से प्रस्तुत किया। समाजवाद को उन्होंने एक सजीव और सार्थक विचारधारा के रूप में अपनाया, किन्तु उसे अपनी कृतियों में आरोपित नहीं किया। बहुतों को यह तथ्य विलक्षण लगता है कि समाजवाद जैसी दुनिया को बदलने वाली विचारधारा को अपनाकर भी प्रेमचन्द की परवर्ती रचनाशीलता में निराशा की एक सघन और लम्बी छाया क्यों है। क्यों 'गोदान' का होरी अपनी एकमात्र इच्छा को इच्छा के रूप में ही संजोए हुए इस धरती से विदा हो गया, धनिया का जीवन भर का विद्रोही चेहरा अंत में होरी की लाश के सामने पछाड़ खाकर क्यों निस्पंद हो गया, और क्यों कफन में माधव और घीसू जैसे पात्र प्रेमचन्द की कलम से रचे सिरजे जाकर सामने आए, इससे तो बेहतर तब था जब प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' लिखा था, अन्याय और सक्रिय प्रतिरोध करने वाले पात्रों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया था। हम नहीं कह सकते कि प्रेमचन्द यदि और जीवित रहते तो उनकी सर्जना का कौन सा रूप सामने आता। इस संबंध में किसी प्रकार की अटकले भी हम नहीं लगाना चाहते। इन सारे सवालों के बारे में हम महज यही कहना चाहते हैं कि व्यवस्था के नरक का जो उद्घाटन, शोषण की मशीनरी का जो पैनापन तथा उसमें घुटती तड़पती मनुष्यता की व्यवस्था का जो मार्मिक अंकन, प्रेमचन्द ने अपनी इन परवर्ती कृतियों में किया है, उसके मूल में निश्चित रूप से परिप्रेक्ष्य की वह नई समझदारी है जो उनके विकसित विवेक ने उन्हें दी। इस समझदारी का उन्होंने कलात्मक विनियोग किया, यह उनकी परिपक्व रचनाशीलता का प्रमाण है। इस सम्बन्ध में ढेरों प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि बावजूद अपनी परवर्ती कृतियों में निराशा के सघन चित्रण के, परवर्ती जीवन में मनुष्यता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति उनका विश्वास दृढ़तर हुआ था,

जिन्दगी से वे निराश नहीं हुए थे वरन उसे मजबूती से पकड़े रहना चाहते थे। प्रेमचन्द के अन्तिम क्षणों में जो लोग उनके साथ थे उन्होंने इसकी तसदीक की है। उनको यदि बेचैनी थी तो इसी बात की कि मनुष्यता के जिस सुखी भविष्य को वे देखना चाहते थे, तत्कालीन यथार्थ को मद्देनजर रखते हुए वह उन्हें दूर की बात लगता था। 'प्रेमश्राम' के समय से ही समाजवादी विचारधारा ने उनकी चेतना पर दस्तक देना शुरू कर दिया था किन्तु तब उनके सामने गान्धीवाद और उसका सपना था। जैसे जैसे परिवेश में बदलाव आता गया, समाजवाद की दस्तकें प्रगाढ़ होती गई, द्वन्द्व उग्रतर होता गया और सन् 1930-31 के उपरांत जब उग्रतर होती हुई परिस्थितयों के सन्दर्भ में उनका मोहभंग हुआ उन्होंने आगे बढ़कर समाजवाद को अपनाया, और तभी वे एक ऐसी जमीन पर खड़े होकर सर्जना कर सके जहाँ किसी किस्म के समझौतावाद के लिए कोई स्थान न था। एक समझौता किसी समय आदर्शवाद और यथार्थवाद में उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के रूप में किया था, था उस समय भी वह यथार्थवाद ही, किन्तु मुंसी जी ने आदर्श वादको उस पर आरोपित कर दिया था, एक समझौता किसी समय विचार के धरातल पर भी उन्होंने किया था कि दुनिया बदरंग भद्दी और अमानवीय जरूर है परन्तु उसे सुधारा जा सकता है किन्तु अब वह एक ऐसी जमीन पर आ जाते हैं जहाँ समझौतों की सारी बातें बेमानी हो उठती हैं, अब उन्हें दोस्त और दुश्मन साफ दिखाई पड़ते हैं वे अन्तिम रूप से इस निश्चय पर पहुँच जाते हैं कि आमूल बदलाव के अलावा कोई रास्ता नहीं है। इसी को वे अपने तरीके से 'गोदान' में कहते हैं 'कफन' में कहते हैं, 'मंगलसूत्र' में कहते हैं। 'मंगलसूत्र' में तो वे दरिन्दों के खिलाफ हथियार उठाने की बात तक आ जाते हैं। प्रेमचन्द जी के परवर्ती कृतित्व को समाजवादी कृतित्व की संज्ञा भले न दीं जा सके, वह समाजवादी कृतित्व है भी नहीं किन्तु वह जिन्दगी तथा दुनिया को बिना किसी लाग लपेट के देखने, उसकी अमानवीयता के प्रति पाठक को भीतर तक बेचैन कर देने, उनके मत में उन्हें आमूलतः बदल डालने की प्रेरणा उपजाने वाला यथार्थवादी कृतित्व जरूर है और प्रेमचन्द के बड़प्पन का इतना ही सन्दर्भ हमारे लिए पर्याप्त है।

प्रेमचन्द की सिद्धि जग जाहिर है। गोस्वामी तुलसीदास के बाद वे हिन्दी के अकेले साहित्यकार हैं जिनकी लोकप्रियता का पाट एक छोर से दूसरे छोर तक फैला है – राष्ट्रीय सीमाओं से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं तक, पढ़े लिखे अभिजनों से लेकर सामान्य जन तक। प्रेमचन्द ने जिन्दगी तथा समाज से अनुभवों की जो पूंजी ली उसे कई गुना बढ़ाकर वापस कर दिया। भारतीय राजनीति में प्रमुख व्यक्ति के रूप में गान्धी जी सन् 1920 में आए किन्तु उसके पहले प्रेमचन्द अपनी पहचान बना चुके थे। किसान एक प्रमुख चरित्र के रुप में उनकी कृतियों में उत्तर चुका था। औरत की व्यथा के साथ भी अपना अन्तरंग साक्षात्कार वे कर चुके थे। आगे चलकर उन्होंने अपनी भरपूर संवेदना अछूतों को भी दी। औरत, किसान और अछूत, भारतीय समाज में सर्वाधिक शोषित यही हैं और कहना न होगा कि जितनी खरी प्रतिबद्धता के साथ उनके पक्ष में खड़े होकर प्रेमचन्द ने समाज के प्रभुवर्गों को बेनकाब किया है, विरले

साहित्यकार अपने लक्ष्य के प्रति इतने एकान्त रूप से समर्पित हो पाते हैं। ग्रामीण जीवन के चित्रण और किसान चरित्र की पहचान में प्रेमचन्द अनुपम कहे गए हैं। और इस क्षेत्र में वे बालजाक तथा तौल्सतोय के समकक्ष आते हैं। उनकी कला साधारण दिखने पर भी असाधारण है। उनके चित्रणों में जितना फैलाव है उतनी ही गहराई भी है। वे मनुष्य के ही चितेरे नहीं पशु और पक्षी भी उनकी कलम का स्पर्श पाकर अमर हो गए है। 'दो बैलों की कथा' के हीरा मोती, 'पूस की रात' का जबरा, 'आत्माराम' का तोता, प्रेमचन्द की अविस्मरणीय सृष्टियाँ हैं। सूरदास, होरी, धनिया, जालपा, मुन्नी, बूढ़ी काकी, बड़े भाई साहब, माधव घीसू, मीर, मिरजा, आदि आदि उनके द्वारा रचे सिरजे अविस्मरणीय मानव चरित्र हैं। एक सीमित, किन्तु सक्रिय-साधनापूर्ण रचनाकार-जीवन की सिद्धि, ये जो दस बारह छोटे बड़े उपन्यास तथा लगभग तीन सौ कहानियाँ हैं, हम कृतघ्न कहे जाएँगे यदि हम उनकी इस देन को कम करके या छोटा करके आँकते हैं। हम उसे बढ़ाकर भी नहीं आंकना चाहते है किन्तु यह जरूर चाहते है कि पूर्वाग्रहों से परे रहकर उसका मूल्यांकन हो। हम इस सवाल को न उठाते यदि पिछले दौर नासमझी में दिए गए कुछ फतवे हमारी नजरों के सामने से न गुजरे होते। हम जानबूझकर इन फतवेबाजों का नाम नहीं लेना चाहते और न उनकी बातों का जवाब ही यहाँ देना चाहते है। हमारी समझ में प्रेमचन्द की अपनी सर्जना ही उसका सबसे बड़ा जवाब है। इन लोगों से हमारी गुजारिश महज इतनी ही है कि अग्रगामिता का अर्थ प्रगतिशीलता ही नहीं हुआ करता और सीमाएँ तो समर्थ से समर्थ रचनाकार में होती है। जरूरत इस बात की है कि जो कुछ प्रेमचन्द नहीं कर सके हम उसे करने का प्रयास करें, और जो कुछ वे कर सके हम उससे सीखें। हमारा अपना विचार है कि प्रेमचन्द से हमारे रचनाकार बहुत कुछ सीख सकते हैं। वे उनसे यह सीख सकते हैं कि जिन्दगी के मुख्य प्रवाह से जुड़कर ही कोइ रचनाकार समय और समाज का प्रवक्ता कहला सकता है, कि जिन्दगी के इस मुख्य प्रवाह से जुड़ना आसान नहीं होता इसके लिए अपने संवेदना जगत को जिन्दगी की विराटता के अनुरुप व्यापक और विस्तृत बनाना होता है, अपने को, आचार्य द्विवेदी के शब्दों में, समाज के समक्ष उलीच देना होता है, विस्तृत मनुष्यता के साथ एकात्म होना पड़ता है। देखी अथवा भोगी गई जिन्दगी के अनुभवों की अथवा किताबी अनुभवों की छोटी सी राशि के बूते पर कोई प्रेमचन्द को पीछे छोड़ आने का दावा करें तो गोर्की के शब्दों में उसका सावधान और प्रबुद्ध पाठक उससे यह पूछने का अधिकार रखता है—क्या मूल्य चुकाकर तुमने यह सफलता प्राप्त की है। ... .ओह जरा सी मेहनत; और जरा सा जीवन का अनुभव जिसके लिए हमेशा थोड़ा बहुत मूल्य चुकाना पड़ता है। प्रेमचन्द से हमारे रचनाकार सीख सकते हैं कि जनता के मन को जनता की भाषा में कैसे उतारा जा सकता है, और इस भाषा के माध्यम से भी कैसे महाकाव्यात्मक ऊँचाइयों को छुआ जा सकता है। प्रेमचन्द की सिद्धि हमारे लिए इस मायने में महत्वपूर्ण है कि वह हमें हमारी बहुत सी कमियों का अहसास कराती हैं और हमें ऐसी तमाम दिशाओं में जाने को प्रेरित करती है जिनकी ओर जाना चाहकर भी प्रेमचन्द नहीं जा सके थे, जो हमारे छानने और अवगाहने के लिए खुली पड़ी हैं। उन दिशाओं में जाकर अपनी रचनात्मक उपलब्धियों से हम प्रेमचन्द परम्परा के

समर्थ और सही उत्तराधिकारी कहला सकते हैं। प्रेमचन्द परम्परा से जुड़ने का अर्थ प्रेमचन्द को दुहरांना नहीं, अपने समय और समाज के सारभूत सत्य से जुड़ना और उसे वाणी देना है। प्रेमचन्द को चुप हुए अभी इतना समय नहीं बीता कि हमारे समय और समाज का सारभूत सत्य उनसे भिन्न हो गया हो। प्रेमचन्द के बाद की पीढ़ी ने अपने कर्तृत्व से इसे साबित भी किया है। उसने न केवल प्रेमचन्द की परम्परा को संरक्षित किया है, अपने समय और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप उसे नई समृद्धि भी दी है।

कोई भी बड़ा लेखक गत नहीं होता। प्रेमचन्द को गुजरे जमाने का लेखक साबित करने वाले, उनकी प्रासंगिकता पर सवाल उठाने वाले, इस बात पर ध्यान दें। जब तक भारतीय समाज बुनियादी तौर पर प्रेमचन्द की आकांक्षाओं के अनुरुप बदल नहीं जाता, जब तक उन सारी समस्याओं के समाधान हमें नहीं मिल जाते जिन्हें लेकर प्रेमचन्द ने अपने समय में जद्दोजहद की थी, जब तक प्रेमचन्द की आत्मीय दुनिया के पात्र इस योग्य नहीं हो जाते कि अपने अधिकारों की माँग खुद कर सकें, अन्याय का प्रतिकार खुद कर सकें, और जब तक समाजवाद के रूप में की गई स्वराज्य की उनकी परिकल्पना साकार नहीं हो जाती, तब तक प्रेमचन्द के बारे में इस तरह सवाल उठाना अपने निहायत छोटेपन का परिचय देना है। हम जानते है कि प्रेमचन्द के बाद की पीढ़ी इतनी छोटी नहीं है।

———

स्थायित्व की धारणा और प्रेमचन्द–साहित्य

डा० श्यामनन्दन किशोर ★

इस नश्वर संसार में स्थायित्व का मूल्य सापेक्ष है। जो जितना कम नश्वर है; वह उतना ही स्थायी है — — — यही स्वीकार किया जाता है। अतः स्थायित्व तुलनात्मक दृष्टि पर आधारित है। साहित्य के क्षेत्र में स्थायित्व का प्रश्न और भी उलझन पैदा करने वाला है, क्योंकि वह तो क्षण–क्षण "नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा" को उद्घाटित करने वाला है। साहित्यकार अपने समाज में जीता है और उस समाज की प्रेरणा को जाने–अनजाने संवारे रहता है, जिसे पूर्ववर्ती साहित्यकारों की देन कहा जाता है और फिर हर सत्साहित्यकार से एक भविष्य के निर्माण का स्वप्न–संकेत अपेक्षित रहता है। इसीलिये साहित्यकार त्रिकालदर्शी होकर अतीत, वर्त्तमान और भविष्य से जुड़ा रहता है। जो साहित्यकार अपने वर्त्तमान में जितनी ईमानदारी से जीता है, वह भविष्य के लिए उतनी ही मूल्यवान सामग्रियाँ छोड़ जाता है। तात्पर्य यह कि जो भोगे हुए सत्य का सही चित्रकार है, वही अधिक–से–अधिक स्थायी होने का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। स्थायी होना निश्चित रूप से इस बात का द्योतक है कि उस साहित्यकार की वाणी चिरयुगीन है। शाश्वत सत्य का उन्मेषक साहित्यकार स्थायी मूल्य की रचनाओं का सृजन करता है, किन्तु यह वाक्य इस तथ्य को झुठला नहीं सकता कि प्रत्येक मूल्य युग–सापेक्ष होता है। सत्य चिरन्तन है, लेकिन अनुभव की प्रक्रियाओं में अन्तर आ जाता है। जो बात कल लज्जा की थी, वह आज गौरव की हो सकती है। कल जो वायवीय स्वप्न थे, वे आज गहरे यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। आज जो विचार क्रान्तिकारी हैं, कल दकियानूस हो सकते हैं। छुआछूत, विधवा–विवाह, संतति–निरोध आदि कितनी समस्याएँ हमारे पूर्वजों के लिये जिन रूपों में थीं, वे आज हमारे लिए कितनी भिन्न हैं। जो कल त्याज्य थे, वे आज ग्राह्य हैं, जो कल पाप थे, वे आज पुण्य हैं, क्योंकि बदलते हुए परिप्रेक्ष्य ने हमारी सामाजिक समस्याओं के अनुसार हमारी मान्यताओं को भी परिवर्त्तित कर दिया है और हम जिन्हें कल तक शाश्वत सत्य माने बैठे थे, वे आज परिवर्त्तित कथ्य के रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं।

ज्ञान और विज्ञान के नये आलोक हमारी दृष्टियों को परिमार्जित कर देते हैं और हम नये सिरे से उन पर सोचने को विवश हो जाते हैं। एक बात स्थायित्व के क्रम में और ध्यान देने की है कि समस्याओं के निराकरण के बाद भी समस्याएँ बनी रहती हैं। राम, कृष्ण, मुहम्मद, बुद्ध, ईसा और गान्धी न जाने कितने सन्त–तपस्वी और अवतार आते रहे हैं और मानवता के उद्धार के नये मार्ग प्रशस्त करते रहे, लेकिन आज भी उन समस्याओं का अन्त नहीं हो पाया है। युद्ध का भय बना हुआ है, अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है और विश्व के चिन्तक शान्ति के नये नये रास्ते ढूंढ़ते जा रहे हैं। एक महात्मा की कब्र ढहती है, दूसरे की बननी शुरू हो जाती है।

★ कुलपति
बिहार, विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

मैं मानता हूँ कि वाल्मीकि के समय के राम कोई और थे, लेकिन त्रेता में राम के द्वारा रावण का वध हो जाने के बाद भी रावण मरा नहीं। आज भी विश्व में राम—रावण की समस्या बनी हुई है, क्योंकि वे हमारे भीतर हैं, बाहर तो प्रतीकों की कथा कही गयी है। इसलिये समस्याएँ समाधान पा जाती हैं और समाधान पाकर नये रूप धारण कर लेती हैं। जैसे एक दुर्बल व्यक्ति जब अपनी एक बीमारी का इलाज करता है, तो दूसरी बीमारी शुरू हो जाती है और दूसरी की दवा पाता है, तो तीसरी आरम्भ हो जाती है। विष तो उसके शरीर में है, । एक ओर दब कर दूसरी ओर से उभड़ता है। जब तक शरीर निर्विष न हो, निरोग होना कठिन है। मैं समझता हूँ, यही मनोविज्ञान है साहित्य में स्थायित्व का। हर युग का सजग साहित्यकार अपने समय की समस्याओं का निदान ढूँढ़ता है और उसके बाद आने वाला हर युग उन्हीं समस्याओं को कुछ बदले हुए रूप में उत्पन्न कर लेता है। यह चिरन्तन क्रम एक शाश्वत स्वरूप धारण कर लेता है। प्रगति में भी अगति के बीज छिपे रहते हैं। ऐसा लगता है कि दौड़ कर आगे भागने वाला हर पन्थी अपने पीछे अपने गाँव के निशान छोड़ता चला जाता है। इतना निश्चित रूप से मानना ही पड़ेगा कि जो साहित्यकार अपने युग का जितना सजग और सही चित्रकार होगा, उसकी रचनाओं में उतना ही स्थायित्व आ सकेगा, क्योंकि जो अपने समय का सही प्रतिनिधि नहीं है, वह दूसरों के लिये भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता।

प्रेमचन्द भारत के एक ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने इस परतन्त्र देश के तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों का साथ देकर ही अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, वरन् एक कलम का सिपाही बनकर उन तमाम राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषणों से जमकर लड़ाई की जिनके फलस्वरूप हमारा देश विदेशी एवं स्वदेशी दासता का शिकार था। एक और ध्यान देने की बात है कि इतिहास के आधुनिकतम अनुसंधानों ने यह प्रमाणित किया है कि भारत में किसानों का सर्वाधिक शोषण तत्कालीन अवध के इलाके में था जिसने प्रेमचन्द—जैसे संवेदनशील लेखक को किसानों का सबसे बड़ा वकील बना दिया था। दुःख की बात तो यह है कि भारतीय किसान जिसके हाथों सबसे अधिक तबाह हो रहे थे, वह भारतीयों का ही, जमीन्दारों और तालुकदारों का वर्ग था। बिहार, आसाम और मालाबार में जिस प्रकार का अत्याचार नील और चायबाग के भूपति अंग्रेज किया करते थे हमारे जमीन्दार वर्ग कभी—कभी उनसे भी अधिक दारुण शोषण किया करते थे। ब्रिटिश शासन के जानलेवा करों से अतिरिक्त ये देशी साहब अपनी हर विलासिता की परिपूर्त्ति के लिए फटेहाल किसानों से अलिखित कर लिया करते थे। यह दुर्व्यवस्था संयुक्त प्रान्त के अवध इलाके में इस शताब्दी के दूसरे दशक के आते—आते और बढ़ गई थी।

प्रेमचन्द का लेखन—काल 20 वीं सदी के प्रारम्भिक अर्द्ध दशक से चौथे दशक के मध्य तक माना जाता है। प्रेमचन्द का लेखन वस्तुतः 32 वर्ष की—1905 से 1936 तक—अनवरत संघर्षरत सेवा का काल है। उनका संपूर्ण साहित्य शासन के शोषण का एक ऐसा जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है, जो प्रेमचन्द ने अवध के इस इलाके में देखा था। उनकी अपनी स्थिति तो उस किसान से बदतर थी जो खेत जोतता था। भरी—पूरी सरकारी नौकरी

को उन्होंने लात मार दी थी और स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े थे। जिस वृत्ति का सहारा लिया था, वह थी कलम की मजदूरी, जिसे वह रक्त-पसीने देकर 20-20 घन्टों तक किया करते थे और वदले में पाते थे मात्र एक आत्मतोष। उनके अन्तरंग मित्र आचार्य शिवपूजन सहाय ने मुझे बतलाया था कि कई वार ताँगे वाले द्वारा एक-दो पैसे अधिक किराए माँगने के कारण अपना विशाल वजट फेल हो जाने पर दोनों साहित्यकार काशी में पैदल चला करते थे। यह संघर्ष प्रेमचन्द का जीवन-साथी रहा। यह इस देश की ही विशेषता है जहाँ देश का सबसे बड़ा कथाकार, जिसने परिमाण और गुण, दोनों दृष्टियों से विपुल साहित्य दिया, जीवन के अन्तिम क्षणों तक समस्याओं से जूझता रहा। यह भी कैसी विडम्वना थी की प्रेमचन्द के जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष भयानक मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के वर्ष थे जिसने सम्पूर्ण विश्व पर अपनी काली छाया फैला दी थी और निर्धन होता हुआ भारत और भी कंगाल हो गया था। इसीलिए मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द के साहित्य में निहित भारत उनकी आँखों द्वारा देखी गई दृश्यावलियों का अलवम मात्र नहीं था, वह उनके द्वारा भोगे गए जीवन का यथार्थ चित्रण था, जिसमें राजनैतिक और मानसिक दासता से त्रस्त देश की जनता की आत्मा बोलती है। साहित्य में जीवन के रूप का यह निचोड़ ही प्रेमचन्द की कृतियों को स्थायी बनाता है।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में जिन समस्याओं को प्रमुखता दी, वे सभी समस्याएँ आज भी किसी न किसी रूप में जीवित हैं और जिसे मिटाने को हम कृतसंकल्प हैं। इन सभी समस्याओं के मूल में श्रम की महिमा और सामान्य मानव की प्रतिष्ठा का प्रयास हैं। प्रेमचन्द किसी भी विश्वजनीन साहित्यकार की भाँति मनुष्य को ही साहित्य का मूल विषय मानते हैं और उसके उत्कर्ष का विधान ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते है"। — — — जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवावदेह है या नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के समान जवाबदेह है।" प्रेमचन्द की इसी धारणा ने उनके साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया, क्योंकि मनुष्य ही उनका सर्वोपरि मानदंड था।" मैं समझता हूँ कि जो लोकवन्द्य नहीं होता वह विश्ववन्द्य नहीं हो सकता। जो तात्कालिक नहीं होता, वह सार्वकालिक नहीं हो सकता।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों से यह सिद्ध होता है कि उनका उनसे गहरा तादात्म्य था। अत्यन्त भाव-प्रवण कवि की भाँति वे किसानों की इस स्थिति से द्रवित थे कि वस्तुतः अन्नदाता होते हुए भी वे दाने-दाने को मुंहताज थे। यही कारण है कि उनके सभी उपन्यासों में कृषक समाज किसी न किसी रूप में आ ही गया है। ऐसे कृषक समाज से पढ़े-लिखे लोगों की उदासीनता के कारण भी प्रेमचन्द दुःखी थे। वे समझते थे कि अनपढ़ और गंवार होकर शोषण की भट्ठी में चिरंतन जलने वाले गरीब किसानों और मजदूरों की अधोदशा के विरुद्ध पढ़े लिखे भारतीय निश्चय ही अपनी आवाज बुलन्द करेगें। लेकिन इसके विपरीत प्रेमचन्द को यह अनुभव हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा ने विद्या को ठगी का माध्यम बना दिया है और पढ़े-लिखे लोग और भी अधिक घातक हो गए हैं। विदेशी शिक्षा ने उल्टे छुरें से अपनी हजामत आप बनानी सिखा दी थी।

मैंने थोड़ी देर पहले प्रेमचन्द के तत्कालीन अवध समाज का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसी का प्रमाण था कि इस देश के जमीन्दार वर्ग ही नहीं, पढ़े–लिखे बाबू वर्ग भी शोषण में बढ़े–चढ़े ही थे। तभी तो "प्रेमाश्रम" का मनोहर यह कहता है कि "विद्या से और कुछ नहीं होता तो दूसरों का धन ऐंठना तो आ ही जाता है। मूरख रहने से तो धन गंवाना पड़ता है।" प्रेमचन्द ने भाग्यवाद और धार्मिक अन्ध-विश्वास को भी इसी दासता का फल माना था, क्योंकि एक राजनैतिक दासता पुरानी पड़ने पर मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कई दासताओं को जन्म दे देती है जैसे कोई पुरानी बीमारी चिकित्सा के अभाव में कई नई बीमारियों को जन्म दे देती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कई जगह इसे स्पष्ट किया है। रंगभूमि का सूरदास रुपये चोरी चले जाने पर यह कहता है कि "मेरे रुपये थे ही नहीं, शायद उस जन्म में मैंने गैरों के रुपये चुराये होंगे" और "गोदान" का होरी अपने कष्टों की व्याख्या करते हुए कहता है "— — — — सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने यानी अमीरों ने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किए थे उनका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगे क्या।" जाहिर है कि भाग्यवाद का प्रचार उन लोगों ने किया; जिन्होंने दूसरों के अभावों को विद्रोह में परिणत होने से रोकना चाहा। यह भाग्यवाद मनुष्य को भीरु और निष्क्रिय सन्तोषी बना देता है। फलतः सामन्ती व्यवस्था और शोषण को खुलकर खेलने का अवसर मिल जाता है। सरकारी अफसर और जमीन्दारी के पटवारी, कारिंदे और ऐसे तमाम लोग व्यवस्था की फौज थे, शोषण को और प्रखर बनाते थे तथा शोषण कई स्तरों पर बँट–बँट कर और बलशाली बन जाता था। रक्तबीज की तरह शोषण हर जगह जन्म लेकर विकराल रूप धारण कर लेता है। बेगारी से भरे किसानों का जीवन देशी कुत्तों से बदतर हो गया था। वस्तुतः यह भाग्यवाद पूंजीपतियों द्वारा रचा गया षडयंत्र था। सूदखोरी, मुनाफाखोरी और गलत–दस्तावेजबाजी — — — इन सबने मिलकर किसानों की कमर ही तोड़ दी थी।

प्रेमचन्द ने इन सभी समस्याओं के यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त उनकी पारस्परिक एकता द्वारा अनेक कष्टों के उन्मूलन का समाधान भी प्रस्तुत किया है।"प्रेमशंकर" जैसे चरित्र इसी समाधान के प्रतीक हैं। प्रश्न यह उठता है कि सन् 1936 तक प्रेमचन्द ने कृषक समाज की जिन समस्याओं का चित्रण किया उनका पूर्ण समाधान स्वतन्त्रता के बाद क्या मिल गया ? यदि मिल ही जाता तो विभिन्न योजनाबद्ध कार्यक्रमों को कारगर ढंग से पूरा करने का प्रयास ही क्यों करना पड़ता है ? अभी हाल– तक बन्धक मजदूरों, आदिवासियों तथा शोषित वर्गों के कष्टों की मुक्ति के लिए तरह–तरह के कार्यक्रम क्यों बनाए जाते ? मुट्ठी भर स्वार्थी तब भी थे और आज भी हैं, जो निहित स्वार्थों के लिए मनुष्य–मनुष्य में भेद करते हैं और उन्हें शोषित कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं।

शरतचन्द्र ने जिस महिला समाज की अधोगति का मार्मिक चित्रण किया है वह भी हमारे सामाजिक शोषण का प्रमुख अंग बना रहा। प्रेमचन्द जैसे प्रबुद्ध कलाकार ने अपने उपन्यासों में उनकी विविध समस्याओं पर हृदयग्राही चित्रण किया। सन् 1947 तक

पुरुष तो दास मात्र थे, किन्तु स्त्रियाँ दासों की दासी थीं। उनकी श्रेणी और अधम मानी गई थी। अब उनको घर की चहार-दीवारी में खुलकर साँस लेने का अधिकार नहीं था। उनको जो मौखिक पाठ पढ़ाया जाता था वह इस धर्मांधता पर आधारित था कि वे पति की गुलामी के अतिरिक्त और कुछ नहीं थीं। उनका हँसना-बोलना, जीना-मरना सब कुछ पति की मर्जी पर निर्भर था। यदि किसान खेतों में पिस घिस रहे थे, मजदूर मिलों में रहे थे, तो स्त्रियाँ घरों में घुट रही थीं।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा की हिमायत की, उन्हें वाक्-स्वतंत्रता दी, उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय दिखलाया और उन्हें प्रेम-विवाह की छूट दी। उन्होंने उन वाह्याडम्बरों की आलोचना की, जिनके फलस्वरूप तड़क-भड़क और आर्थिक शोषण के उन्मूल के लिए दहेज-प्रथा के विरुद्ध कानून का आज कड़ाई से पालन किया जा रहा है। वे अनमेल विवाह को भी आर्थिक वैषम्य का ही परिणाम मानते थे। किन्तु कलाकार की भाँति प्रेमचन्द का न्याय एकपक्षीय नहीं था वे नारी को भी उसकी दुर्बलताओं के लिए सजग करते थे। "गबन" में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम के दुष्परिणाम दिखाकर उन्होंने इसी तथ्य की पुष्टि की है।

जिस वैंधव्य-जीवन को भोगती हुई श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द का कुछ समय पूर्व निधन हुआ है, उस वैधव्य जीवन के प्रति प्रेमचन्द के मन में कातर करुणा थी। उन्होंने वाल-विधवा और प्रौढ़ा-विधवा दोनों के विभिन्न प्रकार के कष्टों पर अपनी वेदना प्रकट की है। कौन जानता था कि "वरदान" की बृजरानी के लिए लिखे गए प्रेमचन्द के शब्द उनकी ही पत्नी पर घटने वाले हैं — — "सौभाग्यवती स्त्री के लिए उसका पति संसार की सबसे प्यारी वस्तु है, वह उसी के लिए जीती है, उसी के लिए मरती है। उसका हंसना -बोलना उसी को प्रसन्न करने के लिए और बनाव शृंगार उसी को लुभाने के लिए होता है। उसका सुहाग उसका जीवन है, उसका उठ जाना उसके जीवन का अन्त है। परित्यक्ताओं के प्रति भी प्रेमचन्द की ममता अबाध थी। "सोहाग का शव" कहानी में इसका प्रमाण मिलता है! प्रेमचन्द ने विधवा को प्रश्रय दिया था। पति की सम्पत्ति पर उनका अधिकार माना था और उनके लिए आश्रमों में व्यवस्था पर बल दिया था। वेश्याओं के प्रति उनकी दृष्टि समाजवादी थी और वे उनसे घृणा न कर, भोग-वृत्ति, गलित आर्थिक स्थिति, नैतिक शिक्षा की न्यूनता, पति-अत्याचार, झूठा लोकापवाद आदि सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते थे।

यदि प्रेमचन्द द्वारा उठाई गई समस्याओं का निदान हो गया होता, तो विगत वर्ष संपूर्ण विश्व में महिला वर्ष मनाकर नारी-अधिकार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता न होती। प्रेमचन्द आज भी उन नारी समस्याओं के माध्यम से जीवित हैं जिसके निदान के लिए उन्होंने सतत प्रयत्न किया। वैसे उनके आँसू आज भी सूखे नहीं है, समस्याओं के रूप परिस्थिति वश बदल गए हैं, लेकिन सामान्य स्तर पर अधिकांश महिलाओं के शोषण का अन्त नहीं हुआ है। यों बहन और सहचरी को हमारे भाषण तथा साहित्य चाहे जिस हद तक मुक्त कर गए हों पर हमारा मन उनकी गुलामी से रीता नही है।

आज जितने साम्प्रदायिकता–विरोधी अभियान चलाये जा रहे हैं, उस काम को प्रेमचन्द ने बहुत पहले ही अपने–"सेवा–सदन" जैसे उपन्यास में उठाया था। प्रेमचन्द की दृष्टि बड़ी साफ थी। उन्होंने अपने उसी उपन्यास में लिखा है — — —"बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है; जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू।" अछूतोद्धार की जिन समस्याओं को लेकर आज प्रबल अभियान चलाया जा रहा है, उसका भी विवेचन–विश्लेषण उन्होंने "कर्मभूमि" में किया है।

प्रेमचन्द सुन्दर के ही नहीं, असुन्दर के भी कलाकार थे। वे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे कि दोनों के सामंजस्य से ही जीवन और जगत का सन्तुलित विकास हो सकता है। उन्होंने साहित्य की नई प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि — — "साहित्य में असुन्दर का प्रवेश्य केवल इसलिये होना चाहिये कि सुन्दर को और भी सुन्दर बनाया जा सके।"

संक्षेप में, प्रेमचंद के साहित्य में स्थायित्व के तीन महत्वपूर्ण कारण माने जा सकते हैं – –पहला है उनकी गहरी और विस्तृत लोक दृष्टि, दूसरा, राष्ट्र को और राष्ट्र के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व मानव को सब प्रकार के संत्रासों और परतंत्रताओं से मुक्त करने की उनकी प्रवृत्ति तथा तीसरा, व्यष्टि–मानव के स्थान पर समष्टि–मानव के लोकोदय की उनकी आकांक्षा।

प्रेमचंद का साहित्य तब तक पढ़ा जायगा, जब तक दुनियाँ में किसान और मजदूर सर्वत्र स्वावलम्बी नहीं हो जायेंगे, स्त्रियाँ आर्थिक कारणों से पुरुषों की मुखापेक्षिणी नहीं रह जायेंगी, ऊँच–नीच के सामाजिक भेद मिट नहीं जायेंगे और पूँजीपतियों का शोषण समाप्त नहीं हो जायेगा और इस देश का एक–एक गाँव श्री–सम्पन्न नहीं हो जाएगा। . . . . लेकिन मैं समझता हूँ कि इन सब सपनों के पूरा हो जाने के बाद भी प्रेमचंद के उपन्यास अनमोल रह जायेंगे, क्योंकि मानवता के शोषण सम्भवत: रूप बदल-बदल कर आते रहेंगे। इतना तो सत्य है कि आज से हजारों वर्ष बाद भी किसी विदेशी को यदि केवल गोदान हाथ लग जाए, तो भी वह स्वतंत्रता–पूर्व भारत के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन को भलीभाँति समझ लेगा। प्रेमचंद ने इस देश की मिट्टी का मोल समझा था, इसलिये उनका साहित्य मिट्टी के मोल बिक नहीं सकता, मिट्टी में मिल नहीं सकता।

प्रेमचन्द की लोकप्रियता का रहस्य

डा० शितिकंठ मिश्र *

'डॉक्टर ग्रियर्सन ने कहा है कि बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे'। तुलसीदास के बाद जब हम इस प्रकार के महान् व्यक्तित्व की तलाश करते हैं जिसने न केवल हिन्दुओं में बल्कि उससे अधिक मुसलमानों और देश में रहने वाले अन्य तमाम मतावलंबियों में अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की हो तो हम प्रेमचन्द को ही पाते हैं। तुलसी का 'मानस' मुसलमानों और ईसाइयों में हिन्दुओं के समान समादृत नहीं हो सका क्योंकि उसका आधार धर्म था। प्रेमचन्द ने भलीभाँति समझ लिया था कि आज की परिस्थितियों में समग्र भारतवर्ष को एक सूत्र में बाँधने का आधार धर्म नहीं आर्थिक समानता है। धर्म को तो साम्राजवादियों द्वारा हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने का हथियार बनाया जा रहा था। तुलसीदास के समय हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्दिता का स्वरूप वैसा नहीं था जैसा अंग्रेजों ने प्रेमचन्द के समय में बना दिया था। इसीलिए प्रेमचन्द ने वृहत्तर मानवता की दृष्टि से धर्म निरपेक्ष भारत की मूल समस्याओं को अपने साहित्य का विषय बनाया। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा साम्प्रदायिक सद्भाव का सतत् सन्देश दिया क्योंकि इसके बिना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम का कोई आन्दोलन सफल नहीं हो सकता था।

प्रेमचन्द को पारिवारिक नाम 'नबाव राय' छोड़ना पड़ा। गवर्नर हेली द्वारा प्रस्तावित 'रायसाहवी' उन्होंने नम्रता पूर्वक अस्वीकृत कर दी क्योंकि वे सरकारी लेखक नही बनना चाहते थे। लेकिन जनता ने उन्हें 'सम्राट्' बना दिया। वे केवल उपन्यास सम्राट् ही नही हिन्दी-पाठकों के हृदय सम्राट् भी बन गये। उनकी रचनाओं का अनुवाद न केवल देश की विभिन्न भाषाओं में हुआ बल्कि विदेशों में भी उनके साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और वे भारतीय साहित्य और राष्ट्रीय संस्कृति के संदेशवाहक के रूप में दूर-दूर तक लोकप्रिय हो गये। हमें प्रेमचन्द पर गर्व है और आश्चर्य होता है कि उनकी इस अनुपम लोकप्रियता का रहस्य क्या है?

समन्वय की शक्ति —

हिन्दी के कुछ स्वनामधन्य आलोचक. विशेषतया कथाकार–आलोचक इत्यादि उनको यथास्थितिवादी (Confirmist), आदर्शवादी, सुधारवादी इत्यादि होने का तोहमत लगाकर उनकी आज निन्दा करते हैं और प्रकारान्तर से अपने को प्रेमचन्द से ज्यादा सशक्त लेखक साबित करना चाहते हैं। लेखक की सफलता का सबूत उसके पाठकों की तादात होती है और यह जाहिर है कि प्रेमचन्द जैसी लोकप्रियता अभी तक किसी अन्य

* अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
डी० ए० बी० डिग्री कालेज,
वाराणसी

हिन्दी लेखक को नसीब नहीं हुई। जब हम उनकी लोकप्रियता का रहस्य जानने की चेष्टा करते हैं तो उसे हम उनके 'समन्वय' की शक्ति में निहित पाते हैं। भारत विविधताओं का संग्रह है। यहाँ धर्म-सम्प्रदाय, नस्ल-वर्ण, जाति की विचित्र विविधतायें हैं। इस देश में लोकनायक वही हो सकता है जो इन विविधताओं में एकता स्थापित कर सके, समन्वय कर सके। प्रेमचन्द ने इस देश के दो प्रमुख धर्मों-हिन्दू और मुसलमानों में समन्वय स्थापित करने का आजीवन प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दी-उर्दू साहित्य और भाषा में समन्वय की सफल चेष्टा की। गान्धी और मार्क्स में समन्वय किया। आदर्श और यथार्थ में समन्वय किया तथा समाज और साहित्य में समन्वय स्थापित करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया। इसीलिए वे लाखों-करोड़ो पाठकों के चहेते बन गये। कुछ आलोचक इसी बात को इस तरह समझाने की चेष्टा करते हैं कि ज्यों ज्यों प्रेमचन्द का मोह भंग होता गया त्यों-त्यों वे पुरानी मान्यताओं को छोड़कर नवीन विचारों को ग्रहण करते गये। वे आलोचक 'मोहभंग' शब्द का प्रयोग स्पृहणीय अर्थ में न करके व्यंग्य में करते हैं, किन्तु निरन्तर नवीन प्रयोगों द्वारा त्याग और ग्रहण करते हुए साहित्य यात्रा में प्रगतिशील रहना महान लेखक के लिए आवश्यक शर्त है और यदि प्रेमचन्द ने ऐसा किया तो निःसन्देह वे महान् लेखक थे। उनकी महानता का रहस्य इसी समन्वित अन्तर्दृष्टि में है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता—

प्रेमचन्द के विचार से धर्म का व्यापक उद्देश्य लोकमंगल है, बाकी सब ढकोसला और अन्धविश्वास है। यद्यपि विश्व का अधिकांश प्राचीन साहित्य धर्म पर आधारित है किन्तु धर्म विचारों को संकीर्ण बनाने में जितना सहायक हुआ और मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना पर इसने जितना प्रतिबन्ध लगाया उतना मानव समाज को संगठित नहीं किया। उनका कहना था कि—ईश्वर मन की एक भावना है; उसके लिए मन्दिरों, मस्जिदों या गिरिजाघरों की आवश्यकता नहीं ...... ईश्वर की उपासना का केवल एक मार्ग है और वह मन, वचन और कर्म की शुद्धता।[1] वे धार्मिक मामलों में बड़े सहिष्णु थे। साम्प्रदायिकता उन्हें छू नहीं सकी थी। वे मानव-मानव में कोई भेद नहीं देखते थे और मानव की सेवा को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। हमारी आजादी की लड़ाई के समय ब्रिटिश शासकों की बराबर कोशिश रही कि हिन्दू मुसलमानों का वैमनस्य बढ़ाया जाय ताकि वे परस्पर मिलकर देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष न कर सकें। दंगे-फसाद और साम्प्रदायिक झगड़ों को, वे देश का बड़ा दुर्भाग्य समझते थे। उन्होंने उक्त विषय पर 'जमाना' जागरण' आदि में कई लेख लिखे। उनका कहना था कि हिन्दू मुसलिम विरोध दो भिखारियों का एक रोटी के टुकड़े के लिए कलह है।" वे साम्प्रदायिक झगड़ों से बचने की सलाह हिन्दुओं को देते हुए कहते हैं कि अगर मुसलमान पागल हो रहे हैं तो हमें पागलों के साथ पागल नहीं होना चाहिये, अगर मुसलमान हिन्दुओं को कलमा पढ़ाने में लगे हैं तो हिन्दुओं को एक गाय के लिए दस आदमियों की कुर्बानी देने पर नहीं तुल जाना चाहिये। उन्होंने 'कर्बला' लिखकर मुसलमानों

---

1. अमृतराय—विविध प्रसंग भाग 3 पृ० 154

की बुनियादी अच्छाइयों को उजागर करने का प्रयास किया क्योंकि दोनों सम्प्रदायों में मेल जोल को वे स्वाधीनता की बुनियादी शर्त मानते थे। 'मनुष्यता का अकाल' शीर्षक निबन्ध इस सम्बन्ध में उनके विचारों का स्पष्ट परिचायक है।

हिन्दी उर्दू साहित्य में समन्वय का प्रयास—

प्रेमचन्द उर्दू साहित्य से हिन्दी में आये थे। वे नबावराय नाम से उर्दू के जाने माने कथाकार थे। 'सोज ए वतन' की 500 प्रतियाँ हमीर पुर के अंग्रेज कलेक्टर ने जनता के समक्ष जलवा दिया और उसके प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उन्होंने नबावराय नाम से लिखना बन्द करके प्रेमचन्द नाम से लिखना शुरू किया। उन्होंने अपने प्रारम्भिक उपन्यास उर्दू मे लिखे जिनका बाद में हिन्दी रूपान्तर हुआ। उत्तर काल में जो उपन्यास उन्होंने हिन्दी में लिखा उनका भी उर्दू में अनुवाद प्रकाशित कराया। इस प्रकार हिन्दी उर्दू दोनों साहित्य को उनका अवदान समान रूप से महत्वपूर्ण है। दोनों के कथा साहित्य में उनका स्थान अप्रतिम है। प्रेमचन्द ही ऐसे हिन्दी के लेखक हैं जिनपर विभिन्न विश्वविद्यालयों के उर्दू विभागों में शोध कार्य हुआ है। पाठकों ने समान रूप से उनका सम्मान किया है।

उनका प्रथम उपन्यास 'असरारे मुआविद' उर्फ 'देवस्थान रहस्य' सन् 1903 में उर्दू में प्रकाशित हुआ। दूसरा उपन्यास 'जलवाए ईसार' सन् 1905 से 1909 के बीच उसी समय लिखा गया जब वे कानपुर में थे किन्तु इसका प्रकाशन 1912 में हुआ। प्रेमचन्द ने बाद में इसे हिन्दी में रूपान्तरित करके 'वरदान' नाम से प्रकाशित कराया। 'हमखुर्मा व हम सवाब' उनका तीसरा उपन्यास है जो मूलतः उर्दू में सन् 1904 में लिखा गया जिसका हिन्दी रूपान्तर 'प्रेमा' नाम से 1908 में प्रकाशित कराया गया। इसका एक अन्य उर्दू रूपान्तर 'बेवा' नाम से भी प्रकाशित हुआ और बहुत दिनों बाद चाँद पत्रिका के आग्रह से प्रेमचन्द ने इसी उपन्यास का परिवर्तित परिवर्द्धित रूप 'प्रतिज्ञा' शीर्षक से प्रकाशित कराया। 'रूठीरानी' और 'किशना' भी मूलतः उर्दू में ही लिखी गई प्रारम्भिक रचनायें थी जिनका बाद में हिन्दी रूपान्तरण हुआ। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवा सदन' भी पहले 'बाजारे हुस्न' नाम से उर्दू में ही छपा था इसका रूपान्तर स्वयम् प्रेमचन्द ने सन् 1917–18 में 'सेवा सदन' नाम से किया। 'गोशाये आफियत' और 'चौगाने हस्ती' के हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रेमाश्रम और रंगभूमि हैं। रंगभूमि का मराठी अनुवाद 'समाचार' नाम से उसी समय प्रकाशित हो गया था।

सन् 1924–26 के बीच लिखा गया प्रसिद्ध उपन्यास 'कायाकल्प' प्रेमचन्द द्वारा मूलतः हिन्दी में लिखा गया प्रथम उपन्यास है जिसका उर्दू अनुवाद 'पर्दाए मजाज' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके बाद उन्होंने गबन, निर्मला, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण) नामक उपन्यास मूलतः हिन्दी में लिखा और उनका उर्दू अनुवाद भी प्रकाशित कराया। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द उर्दू साहित्य के भी उतने ही श्रेष्ठ लेखक थे जितने हिन्दी साहित्य के, और उन्होंने दोनों के बीच सुन्दर सामन्जस्य स्थापित करने का उत्तम प्रयास किया।

हिन्दी उर्दू भाषा में समन्वय—

भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचार बड़े प्रगतिशील थे। उनका विचार था कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। राष्ट्र की इकाई का आधार जब धर्म नहीं रह गया तब उसकी इकाई का आधार भाषा ही हो सकती है। उन्हें इस बात का बेहद अफसोस था कि हमारा देश अब तक अंग्रेजी को अपनी भाषा बनाये हुए है। अंग्रेजी गुलामी का प्रतीक है। उन्होंने लिखा था" जब तक आप अंग्रेजी को अपनी भाषा बनाये हुएहैं तब तक आपकी आजादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता।" राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में उनका कथन था "राष्ट्रभाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्वमान्य बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज रूप से समझ सके।" भारत वर्ष के विभिन्न प्रान्तों की कोई भी भाषा अपने परिमित कार्य क्षेत्र के कारण राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी से बढ़कर अधिक उपयुक्त नहीं हैं किन्तु कठिनाई यह है कि राष्ट्र भाषा के तीन रूप उपलब्ध हैं हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी प्रश्न यह है कि राष्ट्रभाषा का क्या नाम हो? प्रेमचन्द ने हिन्दी उर्दू के समन्वय पर बल दिया और गान्धी जी के समान उन्होंने दोनों के समन्वित रूप हिन्दुस्तानी का समर्थन किया। उनका कहना था कि उर्दू वह भाषा है जिसमें अरबी के शब्द ज्यादा हों और हिन्दी वह भाषा है जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हों इनके मध्य की सहज भाषा हिन्दुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त होंना चाहिये। वे जानते थे कि ऐसा कहने से पन्डित और मौलवी दोनों नाराज होंगे और विद्वानों को भी यह अशास्त्रीय लगेगा लेकिन "इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नही हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना पड़ेगा।"[1] उन्होंने हिन्दी और उर्दू के लेखकों को सलाह देते हुए कहा था कि हिन्दी के लेखकों को ख्याल रखना चाहिये कि उनके पाठक मुसलमान हैं, इसी तरह उर्दू वालों को यह ख्याल रखना चाहिये कि उनके पाठक हिन्दू है। राष्ट्र भाषा सरल होनी चाहिये, उसमें शुद्धता और सरलता का प्रश्न गौण है क्योंकि इनके मानदण्ड बदलते रहते हैं। उन्होंने सर्वसाधारण और निम्नवर्ग का ध्यान रखते हुए अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण से भाषा के प्रश्न पर अपना विचार स्थिर किया था।

गान्धीवाद और समाजवाद का समन्वय—

प्रेमचन्द के रचनाकाव्य (1901 से 1936) में देश अनेक आन्दोलनों के दौर से गुजर रहा था। प्रेमचन्द ईमानदारी के साथ इन सभी आन्दोलनों के साथ चलने की चेष्टा करते रहे। वे शोषित, उत्पीड़ित गुलाम जनता के लेखक थे। उसे अन्धविश्वास, अविद्या, रुढ़िवादिता, गुलामी, निर्धनता और शोषण से उबारने के लिए वे सुधारवाद, गान्धीवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद आदि का सहारा लेते थे। वस्तुतः वे किसी वाद से बद्ध नहीं थे बल्कि प्रयोजन और परिस्थिति के अनुसार वे अपने विचारों में निरन्तर परिवर्तन-संशोधन करते रहते थे। वे युग पुरुष गांधी जी से प्रभावित थे। उनके आह्वान पर

1. प्रेमचन्द—साहित्य का उद्देश्य पृ0 276

सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। 1935 में गान्धी से मिलने के बाद उन्होंने कहा था "मैं गान्धी जी को दुनिया में सबसे बड़ा मानता हूं। उनका उद्देश्य यही हैं कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। मैं लिखकर उसमें गति दे रहा हूं। महात्मा गान्धी हिन्दू, मुसलमानों की एकता चाहते हैं। मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।"[1] लेकिन वे गान्धीवादी नहीं थे और स्वयम् कहते थे! मैं गान्धीवादी नहीं हूँ केवल गान्धी जी के 'चेन्ज आफ हार्ट' सिद्धान्त में विश्वास करता हूं। वे हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध थे लेकिन शोषकों के विरुद्ध रक्तक्रान्ति के समर्थक नहीं थे। वे हृदय परिवर्तन में विश्वास करते थे। वे रूसी क्रान्ति से काफी प्रभावित थे और विश्वास करते थे कि मजदूर और किसान इकट्ठे होकर अपने हकों के लिए लड़ सकते हैं और उसकी भाँति भारत में एक दिन ऐसा आयेगा जब मजदूर और किसान राज्य करेंगे। लेकिन अपने देश की तत्कालीन परिस्थितियाँ रूसी ढंग की रक्तक्रान्ति और वर्ग संघर्ष के के लिए अनुकूल नहीं थीं और सन् 1936 तक हमारे जनसाधारण की मानसिकता भी वैसी नहीं बन पाई थी फिर भी उनकी चिट्ठी पत्री और 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख से यह प्रमाणित होता है कि वे 'करीब करीब' बोल्शेविक वसूलों के कायल 'हो गये थे। इसलिए आर्थिक स्थिति के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों और वर्ग चेतना का चित्रण तो उन्होंने उपन्यासों में किया किन्तु वे पारिभाषिक अर्थों में पूर्ण समाजवादी नहीं थे। वे प्रगतिशील-यथार्थवादी लेखक थे। वे गान्धीवादी समाजवाद के कायल थे। किसी भी प्रगतिशील कलाकार की विचारधारा समय और जीवनानुभवों के आधार पर विकसित होती रहती है इसलिए उनके जीवनदृष्टि का मूल्याङ्कन सामान्य आलोचक के लिए कठिन होता है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय—

प्रेमचन्द के उपन्यासों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में वे यथार्थ और आदर्श दोनों को साथ-साथ लेकर चले। वे साहित्य में यथार्थ और आदर्श की अति को घातक समझते थे वह उसी उपन्यासको उच्चकोटि का समझते थे "जहाँ आदर्श और यथार्थ का समन्वय हो। उसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।"[2] यथार्थ को प्रेम बनाने के लिए आदर्श और आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ की आवश्यकता में उनका विश्वास था। इनके आदर्श और यथार्थ को लेकर आलोचकों में बड़ा भ्रम है। आ० नन्द दुलारे वाजपेयी इन्हें आदर्शवादी लेखक मानते हैं क्योंकि उनका विचार था कि एक ही रचना में आदर्श और यथार्थ का मिश्रण असम्भव है डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० रामरतन भटनागर आदि भी इन्हें आदर्शवादी ही बताते हैं जबकि डा० रामविलास शर्मा प्रकाश चन्द गुप्त आदि इन्हें पूर्णतया यथार्थवादी घोषित करते हैं।

---

1. अमृतराय—कलम का सिपाही पृ0 165
2. विविध प्रसङ्ग—भाग 3 पृष्ठ 35

वैसे प्रेमचन्द की पहली रचना असरारे मुआविद पूर्णतया यथार्थवादी है, उसमें पण्डे पुरोहितों द्वारा मन्दिरों में भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्रण किया गया और कोई आदर्श समाधान नहीं प्रस्तुत किया गया है। लेकिन इसके बाद की रचनाओं में रङ्गभूमि तक आदर्श समाधान अन्त में दिए गए हैं। निर्मला, गबन कर्मभूमि में वे क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़ते गये हैं और सन् 1936 तक वे पूर्णतया प्रगतिवादी यथार्थवादी हो गये थे। वे उपन्यासों में जीवन की सचाई आँक रहे थे और भ्रमों का खण्डन करते जा रहे थे। हो सकता है कि ज्यों-ज्यों उनका मोहभङ्ग विभिन्न आन्दोलनों और कार्य-क्रमों की विफलता के कारण होता गया हो त्यों-त्यों उन्होंने स्वयम् को संशोधित किया हो और पाठकों के भ्रम का निवारण भी उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत किया हो। वे यथार्थ और आदर्श को ध्येय नहीं मानते थे। उनके जीवन का ध्येय था कि वे दो चार उच्चकोटि की रचनायें जिनका उद्देश्य स्वतन्त्रता प्राप्ति हो छोड़ जाँय। इस प्रकार साहित्य के माध्यम से वे राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता की लड़ाई अश्रान्त भाव से आद्यन्त लड़ते रहे। उनके लिए स्वराज्य का अर्थ केवल अंग्रेजों से लड़ना नही था बल्कि वे चाहते थे कि जनसाधारण के मन से पराधीनता का आतंक दूर हो जाय। वे मनोवृत्ति बदलना चाहते थे, वे उस सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहते थे जो अन्याय, क्रूरता और शोषण पर पल रही थी। उन्होंने साफ लिखा था कि अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे‥‥‥तो ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा।'[1]

साहित्य और समाज का समन्वय—

प्रेमचन्द का निश्चित मत था कि कोई रचना बिना उद्देश्य के नहीं हो सकती। वे जनसेवा को साहित्य का ध्येय मानते थे। वे साहित्य का उत्थान समाज और राष्ट्र के उत्थान में देखते थे। "चूंकि आदिकाल से समाज का सङ्गठन आर्थिक नीति पर होता आया है इसलिए जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा तब तक मानव समाज का उद्धार सम्भव नहीं।"[2] इसी प्रयोजन को लेकर वे आजीवन साहित्य सृजन में लगे रहे। उनका विश्वास था कि ऐसी साभिप्राय रचनायें किसी प्रकार कम सुन्दर नहीं होती। तत्कालीन परिस्थितियों में वे कला के लिए कला के सिद्धान्त को उपयुक्त नहीं मानते थे। क्योकि इस प्रकार की कला के लिए वह समय उपयुक्त होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो न कि जब देश में विभिन्न समस्यायें हों, दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हों। सोद्देश्य रचना और प्रचार साहित्य (प्रोपेगंडा) में वे बड़ा अन्तर मानते थे और स्वीकार करते थे कि जब कोई रचना किसी राजनैतिक सामाजिक धार्मिक प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊंचे पद से नीचे आ गिरती है, इसलिये वे न प्रोपगण्डा और प्रचार साहित्य में और न कला-कला के लिए' सिद्धान्त में विश्वास करते थे बल्कि दोनों के बीच के मार्ग से साहित्य रचना की पद्धति को उचित मानते थे और इसमें ही उनकी सफलता का राज छिपा हुआ है।

1. प्रेमचन्द—कफन पृष्ठ 162
2. विविध प्रसङ्ग भाग 2—पृष्ठ 335

प्रेमचन्द ने रतननाथ सरशार के सम्बन्ध में लिखा था, "सरशार के साहित्य में अपने जमाने की सच्ची तस्वीरें हैं।.........सरशार ने जितनी किताबें लिखीं उनमें एक भी ऐसी नहीं जिसे मुसलमान या ईसाई एक सी दिलचस्पी से न पढ़े। वे सब धार्मिक विद्वेष से मुक्त हैं।"[1] सरशार की ही भाँति प्रेमचन्द के उपन्यास उनके समय की सच्ची तस्वीरें हैं उन्होंने अपने समय के उत्तर भारत का जीवन्त इतिहास अपने उपन्यासों में चित्रित कर दिया हैं। प्रेमचन्द सरशार से अत्यधिक प्रभावित वे जिनके सभी उपन्यास सभी वर्गों और जातियों के लिए समान रूप से दिलचस्प हैं। प्रेमचन्द भी हर प्रकार के धार्मिक विद्वेष मे मुक्त थे इसलिए उनका साहित्य हर धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग और जाति के लोगों में अत्यधिक लोक प्रिय है।

---

1. विविध प्रसङ्ग भाग—1 पृष्ठ 66

प्रेमचन्द का साहित्यिक प्रतिमान

डा० जनार्दन उपाध्याय *

रचनाकार के कुछ साहित्यिक प्रतिमान होते हैं, उसी के आलोक में वह अपनी साहित्यिक स्मृतियाँ प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द एक यथार्थवादी रचनाकार हैं। इनकी रचनाओं के भी कुछ प्रतिमान हैं, जो इनकी समूची रचना प्रक्रिया को संचालित करते रहें हैं। कलाकार की सर्जनात्मक शक्ति के साथ ही उसकी आलोचनात्मक वृत्ति भी सक्रिय रहती है, जिससे उसकी रचना अनुशासित एवं मर्यादित होती है। प्रेमचन्द ने अपने निबन्धों, एवं व्याख्यानों में साहित्य के स्वरूप एवं उस के प्रतिमानों की चर्चा की है। प्रेमचन्द के साहित्यिक प्रतिमानों को चार श्रेणियों में विभाजित कर विचार कर सकते हैं।

(1) साहित्य–स्वरूप मीमांसा : साहित्य की व्याख्या
(2) साहित्य की सोद्देश्यता : कला की उपयोगिता
(3) परम्परा और प्रगतिशीलता : नयी सम्वेदनीयता
(4) यथार्थ एवं आदर्श का समन्वय : समन्वयी चेतना

1 साहित्य–स्वरूप मीमांसा:

प्रेमचन्द ने साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है:" साहित्य उसी रचना को कहेगें, जिसमें कोई सच्चाई प्रगट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़ परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है जब उसमें जीवन की सचाई एवं अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों।" साहित्य कि परिभाषा में प्रेमचन्द ने उसके जिस स्वरूप का निरूपण किया है वह साहित्य का शाश्वत तत्त्व है। साहित्य का चिरस्थायी मूल्य तभी है जब उसमें रचनाकार अपनी जीवनानुभूति एवं जीवन की सचाई को ईमानदारी के साथ व्यक्त करता है। काव्य का सत्य एक व्यक्ति का सत्य न होकर समूह का सत्य होता है, क्योंकि जब भी साहित्यकार जीवन की गहराई में उतर कर जीवन सत्य का परिचय पाता है, तो वह सत्य केवल उसका सत्य नहीं रह जाता वह समूह का सत्य हो जाता है और व्यक्ति की पीड़ा समूह की पीड़ा बन जाती है। उसका सुख, दुख, आंसू, उच्छवास, रुदन-हास्य, न्याय-अन्याय, सब व्यक्ति का न होकर समूह का हो जाता है। प्रेमचंद ने जीवन के जिस सत्य को वाणी दी है, वह किसी एक व्यक्ति का न होकर समूह का है। प्रेमचंद का साहित्य मानवात्मा का व्याख्याता है। परंतु इनकी मानवात्मा दार्शनिको की अभेद्य, अछेद्रय, अखण्ड आत्मा से भिन्न परिस्थितियों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करती है। इसकी व्यथा को प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है

---

* प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान, संकाय
का० हि० वि० वि० वाराणसी,

साहित्य की परिभाषा में प्रेमचन्द ने 'अनुभूति' की बात कही है, पर उनकी दृष्टि में अनुभूति की दुहाई देना काव्य की निरुद्देश्यता को व्यक्त करना है। स्मरण रहे प्रेमचंद का काव्य सोद्देश्यता का है, अर्थात "कला जीवन के लिए"–Art for life sake" लिखा गया उनका साहित्य है। इसकी मीमांसा प्रसंगानुकूल आगे की जायेगी। यहाँ "अनुभूति" एवं 'अनुभव' के सम्बंध में विचार अपेक्षित है। प्रेमचंद ने स्पष्ट कहा है कि जो अनुभव किया जाय उसे साहित्य में उतारा ही जाय यह आवश्यक नहीं है," मगर हम तो कवि की सभी अनुभूतियों के कायल नहीं है।" साहित्यकार का जीवनानुभव देशकाल की विशेषताओं के पारस्परिक सम्बंधों का आख्यान करने वाला होता है। यह हर प्रकार से सोद्देश्य सामयिकता है। सामयिकता का सत ही स्पर्श साहित्य को शाश्वत मूल्य से वंचित करता है। जब सामयिकता की गहराई से डूबकर स्पर्श किया जाता है, तब चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति मिलती है जो देशकाल की सीमा में बँध कर नहीं रहती। इसी अर्थ में प्रेमचंद का साहित्य प्रत्येक युगीन संदर्भों मे प्रासंगिक (Relevent) है। उसमें शाश्वत जीवनमूल्य है और अनुभव की सोद्देश्य अभिव्यक्ति है।

काव्य का पक्ष सौन्दर्य का है। प्रेमचंद का कथन है "अगर उससे हमारे मनोभाव का परिष्कार होता है, हममें सौंदर्य की भावना सजग होती है तो उसकी रचना ठीक है वरना गलत है।" परम्परित सौंदर्य भावना के विचारित उन्होंने नयी सौंदर्य-भावना का उद्घोष किया है। नयी चेतना में सौंदर्य का अर्थ श्रृंगार या रतिमूलक चित्रण न होकर कुछ विशिष्ट है। प्रेमचंद का सौंदर्यबोध रीतिकालीन नायिका भेद या काम-क्रीड़ा का सौंदर्य बोध नहीं है। इनके सौंदर्य बोध का वास्तविक अर्थ है जन साधारण के अतंर में सहजरूप से विद्यमान ऐसी सौंदर्य चेतना जो उसे जीवन की परतंत्रता के विकृतिरूप का ज्ञान करा सके और उसे उसके विपरीत लड़ने के लिए अनुप्राणित कर सके। यह जीवन मुक्ति का बोध है। अन्याय, अत्याचार उत्पीड़न, शोषण सबके विपरीत उठ खड़ा होने और लड़ने की प्रेरणा ले लेना ही इनकी नयी सौन्दर्य चेतना है। प्रेमचन्द के काव्य की मूल प्रेरणा इसी से ग्रहीत है।

प्रेमचन्द ने सौन्दर्य को सापेक्ष माना है:" एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुख का कारण हो सकती है।" इसी लिए प्रेमचन्द ने अपनी सौन्दर्य चेतना में जन साधारण को महत्व देते हुए कहा है कि जो सुन्दरता जनसाधारण में है, उसी के तरफ आज के कलाकारों का ध्यान जाना चाहिए। इससे इतर सौन्दर्य निरूपण निरर्थक एवं उद्देश्यहीन सौन्दर्य का रूपायन है। प्रेमचन्द ने "जीवन में साहित्य का स्थान" नामक निबन्ध में 'आनन्द' एवं "सौन्दर्य" के स्वभाविक एवं बनावटी रूप में भेद किया है' और कहा है कि महलों में रहने वाली सौन्दर्य चेतना बनावटी है। इसी से वहाँ हमें स्वाभाविक सौन्दर्य और आनन्द का दर्शन नहीं होता।

साहित्य में रस के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने कहा है कि साहित्य में एक रस है और वह श्रृंगार रस है परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सुन्दरता की भाँति ही प्रेमचन्द को सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य श्रृंगार का अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

प्रेमचन्द काव्य का मुख्य प्रयोजन 'आनन्द' स्वीकार करते हैं: "साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है।"

साहित्य-सर्जन में साहित्कार की क्या भूमिका हो या साहित्यकार का कर्म क्या है? प्रेमचन्द साहित्यकार को वस्तुस्थिति का चित्रण करना आवश्यक मानते हैं, परन्तु साथ ही साथ पाठक की दृष्टि एवं मानसिक परिधि को भी विस्तृत करने की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रसंग में यह स्पष्ट है कि लेखक एवं साहित्य का उद्देश्य जनता का मानसिक-परिष्कार कर उसे शिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाना है। "वह हममें वफादारी सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है।" इस प्रकार साहित्य नयें मानव, नयी मानवता का सर्जन करता है और मनुष्य का विकास भी करता है।

(2) साहित्य की सोद्देश्यता—

प्रारम्भ से ही साहित्य के प्रयोजन को लेकर दो विरोधी विचारधाराएँ चलती रहीं हैं। एक वर्ग इस सिद्धान्त का अनुगामी रहा है कि आनन्ददायिनी कला का प्रयोग जीवन को प्रभावित करने, सभ्यता को परिवर्तित करने एवं उसके मूल्यों की रक्षा करने के लिए होती है। यह कला की सोद्देश्यता को उपस्थापित करते हुए "कला जीवन के लिए" के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। इससे काव्य, कला साहित्य की उपयोगिता सिद्ध होती है। वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, टाल्स्टाय, काजी नजरूल इस्लाम, इकबाल आदि ऐसे ही सर्जक व्यक्तित्व हैं। एक दूसरा वर्ग कला को मनोभावों का निरूपण, सौन्दर्य का चित्रण एवं अनुभूतियों का आख्यान मानता है। यह "कला कला के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादक है। इसमें कालिदास, वाणभट्ट, और जय देव आदि आते हैं

प्रेमचन्द काव्य की उपयोगितावादी दृष्टि के पक्ष में हैं। वे साहित्य की सोद्देश्यता पर बल देते हैं। उनका स्पष्ट उद्घोष है कि भावनाओं को महत्व देकर लिखे जाने वाले साहित्य निरुद्देश्यता का प्रतिपादक है। जो साहित्य जीवन में कर्म का सन्देश, नये जीवन की सचाई, लोगों के सुख दुख, उत्पीड़न, संघर्ष की पीड़ा को वाणी न दे तथा जो मनुष्य का संस्कार न कर सके, वह साहित्य उचित नहीं है।

प्रेमचन्द ने कविता की सोद्देश्यता और निरुद्देश्यता का उत्तर देते हुए कहा है कि काव्य का उद्देश्य है करुण भावनाओं को जाग्रत करना है यह प्रक्रिया ही उपयोगितावादी है। मई सन् 1936 के "हँस" में उन्होंने कहा है: "इसलिए यह कहना कि कविता का कोई उद्देश्य हीं नहीं होता और उसको उपयोगिता में बाँधना गलती है, एक सारहीन बात है। उसका उद्देश्य है हमारी करुण भावनाओं को उत्तेजित करना, हमारी भावनाओं को जगाना और यही उसकी उपयोगिता है, मगर हम तो कवि कि सभी अनुभूतियों के कायल नहीं हैं, अगर उसने प्रेयसी के नख-शिख के बखान में वाणी का चमत्कार दिखाया है तो हम देखेंगें कि उसने किन भावों से प्रेरित होकर यह रचना की है अगर उससे हमारें मनोभावों का परिष्कार होता है, हममें सौन्दर्य की भावना सजग होती है तो उसकी रचना ठीक है वरना गलत।"

प्रेमचन्द ने अपने "कुछ विचार" में इस प्रकार मत प्रकट किया है:" साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि इसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय।" [१] स्पष्टतः यह कला कला के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादिक है। प्रेमचन्द उपयोगिता को दृष्टि में रखकर साहित्य की मीमांसा करते हैं। परन्तु उपरोक्त तथ्य उनकी वैचारिक असंगति का द्योतक है। विचार की दृष्टि से यह कला कला के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादन है। प्रेमचन्द का पूरा साहित्य जीवन के लिए कला की उपयोगिता सिद्ध करता हैं। विचारों में ऐसी अंसगति प्रेमचन्द में प्रायः मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने एक भाषण में कहा है कि" प्रगतिशील लेखक संघ, यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर उसका यह स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।" जब प्रगतिशील हर साहित्यकार है फिर जाति के ह्रास को प्रतिविम्बित करने वाले साहित्य का विरोध क्यों करते हैं। वस्तुतः एक तरफ ऐसे साहित्य का विरोध तथा दूसरी तरफ साहित्यकार की प्रगतिशीलता, एक प्रकार की उनकी वैचारिक असंगतिका ही द्योतक है। जो भी हो प्रेमचन्द कला जीवन के लिए सिद्धान्त को मानने वाले साहित्यकार थे। कला को जीवन के साथ जोड़ देने से उसकी काल्पनिक भावलोक की सत्ता का निरादर करना प्रेमचन्द को जीवन के यथार्थ चित्रण एवं कर्म सन्देश की ओर प्रेरित करता है।

(3) यथार्थ एवं आदर्श का समन्वय—

प्रेमचन्द का साहित्य यथार्थ जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। प्रारम्भ से ही प्रेमचन्द इस प्रवृत्ति से अनुप्राणित थे। बाद में चलकर यह प्रवृत्ति और गहराई से उभर कर उनके साहित्य में प्रकट हुई। उन्होंने 'जीवन में साहित्य का स्थान', नामक निबन्ध में स्पष्ट कहा है:—साहित्य का आधार जीवन है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि साहित्य का आधार कल्पना नहीं है। वह अव चेतन मानस की उपज नहीं है, अपितु स्वयं मानव का जीवन ही उसका आधार है।"

यथार्थ जीवन को महत्व देते हुए भी प्रेमचन्द की राय में ऊँचे दर्जे का उपन्यास यथार्थ एवं आदर्श के समन्वय द्वारा निर्मित होता है। उन्होंने अपने उपन्यास सम्बन्धी एक निबन्ध में साफ लिखा है— "मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके हर रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[२] इसी निबन्ध में उपन्यासकारों को दो दलों—यथार्थवादी और आदर्शवादी में विभक्त करते हुए कहा है कि एक अतिशय व्यामोह में यथार्थ का नग्न चित्र प्रस्तुत करता है, दूसरा गर्म कोठरी में काम करते करते थकने वालों को बाग में ले जाकर निर्मल स्वच्छ हवा खिलाते हैं। आदर्शवादियों के लिए खतरा यह है कि कहीं आदर्शवादिता में उनका काव्य सिद्धान्तों की मूर्तिमान न रह जाय। इन्ही कारणों से अतिशय नग्नता और अतिशय आदर्शवादिता का विरोध करके यथार्थ एवं आदर्श के समन्वय पर बल दिया है।

1. प्रेमचन्द: कुछ विचार; पृ० 72
2. प्रेमचन्द: कुछ विचार: पृ० 71.

परम्परा और प्रयोगशीलता

टी० एस इलियट ने साहित्य की परम्परा और मौलिकता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि कवि या लेखक को अपनी संस्कृति एवं देश की अतीत परम्परा से अनुप्राणित होकर काव्य रचना करनी चाहिए उसके अन्दर एक ऐसा ऐतिहासिक बोध Historical Sense जाग्रत हो जो अतीत, वर्तमान एवं भविष्य कों एक वैचारिक अन्विति दे सके।
Tradition is a matter of much wider significanece
It Can not be inherited, and if you want it you must obtain it by great labour it involves, in the first place, the historical sense. which we may Call nearly indispensible to any one would continue to be be a poet beyond his Twenty–Fiftyear; and the historical sense involves a perception not only of the Pastness of the Past, but of its presence; the historical sense compels a man to write not only merely with his own generation in his bones, but with a feeling the whole of the literature of the Europe from Homer and within it the whole of the literature of his own country has a simultainous existence and composes a simaltanious order. This historical sense, which is a sense of the timeless as well as of the temporal and of the timeless and of the temporal together, is what makes a writer traditional."

प्रेमचन्द इसी प्रकार भारतीय परम्परा में स्वदेश का साहित्यकार होकर सार्व भौमिक (Universal) कलाकार है कोई भी ऊँचा साहित्यकार अपनी जातीय परम्परा से विच्छिन्न होकर सार्वभौम नहीं बन सकता। इसीलिए प्रेमचन्द ने कहा है: "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और तीव्र विकलता में वह रो उठता है। पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर सार्वभौमिक रहता हैं।"

प्रेमचन्द ने सांस्कृतिक विरासत के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है" वाल्मीकि एवं व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे।" "प्रेमचन्द इन तपस्वियों की विरासत को आगे बढाने वाले साहित्यकार थे। वह बीसवीं शदी में भारतीय संस्कृति का एक नया आगे बढ़ा हुआ चरण थे।"[1] इतना होते हुए भी प्रेमचन्द मात्र सांस्कृतिक विरासत को ही प्रगतिशील मानने वाले नहीं थे। वे तो देश काल की सीमाओं से ऊपर उठकर शाश्वत सौन्दर्य के लिए लिखने वाले साहित्यकार थे। उनकी दृष्टि में "साहित्य का उत्थान अब राष्ट्र का उत्थान है।"

प्रेमचन्द हिन्दुस्तानी भाषा के पक्षपाती थे। राष्ट्रभाषा सम्मेलन में उनका व्याख्यान था: "प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रांतीय लिपियों में लिखते जाय कोई एतराज नहीं,' लेकिन हिंदुस्तानी भाषा के लिए हिंदी लिपि रहना सुविधा की बात हैं। अगर जबान एक हो जाय तो लिपि का भेद कोई महत्व नहीं रखता।" अंग्रेजी भाषा के विरुद्ध भारतीय भाषा हिंदुस्तानी के पक्ष में प्रेमचंद ने जोरदार शद्बों में प्रचार किया। हिंदी उर्दू मिश्रित भाषा के आधार पर वे एक मिली जुली साहित्यक शैली के विकास के समर्थक थे।

———

गोदान : एक महाकाव्यात्मक उपन्यास

डा० जितेन्द्र नाथ पाठक *

भारत की गतिशील वास्तविकता के अँकन की दृष्टि से गोदान प्रेमचन्द की अकेली कृति है और हिन्दी उर्दू के कथा-साहित्य में युगान्तर की दृष्टि से प्रेमचन्द इन दोनों साहित्यों के अकेले कथाकार। बीसवीं शती के दूसरे दशक में जब प्रेमचन्द ने उर्दू में कीर्तिस्थापन के उपरान्त हिन्दी में सामाजिक सन्दर्भ के भीतर लिखना शुरू किया उस समय हिन्दी उर्दू या मैं यों कहूँ कि पूरे खड़ी बोली के साहित्य में या तो तिलिस्मे होशरुबा और देवकी नन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता सन्तति जैसी रचनाओं के कौतूहलोद्रेचक कथा—परिवेश का पैटर्न था या फिर श्री किशोरी लाल गोस्वामी और श्री गोपाल राम गहमरी का रोमानी-जासूसी कथा—परिवेश। समाज के दैनंदिन जीवन की वास्तविकता के भीतर झाँकने का बहुत ऊपरी और प्रायः नीति परक प्रयास भारतेंदु युग के कथाकारों ने किया था। सब मिलाकर प्रेमचन्द ने जिस दाय को अपने पूर्वजों से प्राप्त किया वह उपन्यास कला का बहुत कुछ शैशव–काल है जिसमें कथा का पाठक संयोगों के केन्द्र पर घूमती हुई नाना आकस्मिक घटनाओं की शृंखला को उपन्यास कहता था। जिसमें कहीं तिलिस्मों की बेबुनियाद; असमाप्य, आकर्षक, सम्मोहक कोटे-परकोटे, रहस्यागार, लबलका, कबन्द आदि की दुनिया है; तो कहीं ऐतिहासिक रोमांस के नाम पर इतिहास का विद्रूप और रोमांस के बहुत हलके स्तरों के चटक और उत्तेजक रङ्गों का संसार; कहीं अभेद्य रहस्यों के उद्घाटन के जासूसों के आकाश-पाताल के कुलाबे हैं तो कहीं अंग्रेजी बङ्गला और मराठी के उपन्यासों के सामान्य अनुवादों से प्रभावित रचनाओं की राशि। अंग्रेजी के पिकारेस्क (घटना-बहुल) एपीसोडिक (संयोगप्रधान) उपन्यासों की पूरी-पूरी विशेषताएँ इन उपन्यासों में समाहृत थीं।

प्रेमचन्द इस दाय का कोई उपयोग कर सके यह कहना कठिन है। उन्होंने पश्चिमी कथाकारों की कृतियाँ भी पढ़ी और तॉलसतॉय, डिकेन्स, चेखॅव आदि कुछेक से तो वे बहुत प्रभावित भी थे किन्तु उनके सामने उनके समाज का जीवन ही ज्यादा महत्वपूर्ण और पैनी आँखों से उसका अन्तर्दर्शन ही सारभूत था। प्रेमचन्द प्रत्येक महान कथाकार की भाँति जीवन में ही गहरे पैठने के अभ्यासी थे और वहीं उन्हें जीवन को देखने के परिप्रेक्ष्यों की भी उपलब्धि होती रही। प्रेमचन्द अपने समकालीन बङ्गला के कथाकारों बँकिम, रवीन्द्र, शरत से भी परिचित थे और उन्होंने बारीक निगाहों से यह भी लक्षित किया था कि जीवन अपनी, गहराई में जितना महत्वपूर्ण है उससे कम अपने विस्तार में नहीं, जीवन अपने अन्तरंग में जितना आवेगमय है अपने बहिरंग में उससे कम नहीं बल्कि उत्तरोत्तर वे इस मत के विश्वासी होते गए कि बहिरंग ही अन्तरंग का नियामक है।

---

* अध्यक्ष हिन्दी विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर

प्रेमचन्द का जन्म उस समय हुआ जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म होने को था और जिस समय उन्होंने लेखनी उठाई उस समय बङ्गाल में बङ्गभङ्ग विरोधी और स्वदेशी आन्दोलन तेजी से चल रहे थे। कांग्रेस के प्रारम्भिक दिनों में एक ओर वैधानिकता के घेरे में स्वातंत्र्य चेतना का पोषण हो रहा था दूसरी ओर गोखले, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द पाल जैसे गरम विचार वाले अधिकारों की जोरदार स्वीकृति और सशक्त आन्दोलन के घेरे में स्वतंत्र्य चेतना को उसका स्वाभाविक विकास दे रहे थे। गाँधी का आगमन भारतीय राजनीति को जहाँ महलों से निकालकर जनता के झोपड़ों में पहुँचा दिया वहीं अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा देश के आत्मबल को पूरी तरह से जगा दिया। प्रेमचन्द ने सन् 1921 में जब गोरखपुर के गाजीमियाँ के मैदन में उस महात्मा के आह्वान पर सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया उस समय वस्तुतः वह उस देशव्यापी आत्मबल से ही बलान्वित थे जिसने देश के लिए त्याग करते समय कल की भौतिक चिंताओं को भी आड़े नहीं आने दिया। ऐसा नहीं है कि प्रेमचन्द में राष्ट्रीय चेतना का स्फुरण गाँधी जी के प्रभाव के कारण ही हुआ बल्कि इसका स्फुरण अपने ढङ्ग से उनमें पहले से ही हो रहा था और 'सोजेवतन' की जब्ती और उसका अग्निसमर्पण बहुत पहले से ही हो चुका था। सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देने से प्रेमचन्द की राजनीतिक चेतना अभिव्यक्ति के लिए एक अप्रतिरोध्य दिशा पा गई। रङ्गभूमि के सूरदास और प्रेमाश्रम के प्रभाशङ्कर जैसी महत् सृष्टियाँ उनकी इसी विशिष्ट राजनीतिक चेतना के निष्कर्ष हैं। समानान्तरतया आतँकवादी आन्दोलन भी होते रहे और बलिदानी युवकों का एक समूह स्वातंत्र्य-संघर्ष के एक बहुत ही खतरनाक एवं सर्वस्व त्याग के मार्ग का आलम्बन लेते रहे। कर्मभूमि राजनीतिक संघर्ष के कुछ इस रूप का ही परिचय देता है। इन कारणों से कभी कोई आलोचक यह भी कहना चाहते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यास समसामयिक राजनीतिक घटनाओं के औपन्यासिक आख्यान-भर हैं लेकिन आँशिक रूप में इसे स्वीकार करते हुए भी मैं यही कहूँगा कि ऐसा कहना प्रेमचन्द के उस साहस पूर्ण साहित्यिक प्रयत्नों से अपरिचय दिखाना ही है जिसके अन्तर्गत वे एक पूरे युग के जीवन-संघर्ष को उसके बहुत ही महत्वपूर्ण स्तर पर अँकित कर रहे थे।

प्रेमचन्द अपने कथासाहित्य में जिस जीवन संघर्ष का चित्रण कर रहे थे उसे किन्हीं आलोचकों ने 'प्रोपेगैंडा' कहा लेकिन प्रेमचन्द ने चुनौती-सा देते हुए पूछा था "कौन साहित्य 'प्रोपेगैंडा' नहीं है ?" प्रेमचन्द साहित्य में प्रचार का अर्थ समझते थे। उन्होंने एक बार इन तमाम बहसों का उत्तर देते हुए कहा था कि "साहित्य राजनीति के आगे मशाल लेकर चलने वाली सच्चाई है।" यही कारण था कि राजनीति तो समाज के संघर्ष का एक बहुत ही उपरला स्तर था जिसे प्रेमचन्द ने बहुत शीघ्र ही छोड़ दिया और गोदान जैसे विराट औपन्यासिक प्रयत्न में भी उस राजनीतिक संघर्ष के मुखौटे को उतार फेंका। वे समाज के शोषित वर्गों-मजदूर और किसान-के आर्थिक संघर्ष की कथा को समानान्तर कहते रहे जोकि वह अपने आरम्भिक चरणों में आदर्शवादी ही रहे। लेकिन आगे चलकर यथार्थ-वादी परिप्रेक्ष्य से उन्होंने भारतीय समाज के ढाँचे को निरन्तर खोखला करते जाने वाले

अर्थतन्त्र को देखा और समझा कि वह राजनीति भी बहुत अर्थ नहीं रखती जो किसी देश के बिगड़े अर्थतन्त्र को शुद्ध न कर सके। प्रेमचन्द ने गोदान में इस सम्बन्ध में स्पष्ट न कुछ कह कर भी इसे ध्वनित किया है और मंगलसूत्र में तो प्रेमचन्द का इस दिशा का जीवन-चिन्तन और भी खुलकर प्रकट हुआ होता। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में उनकी चेतना का विकास वस्तुतः आदर्शवादी से यथार्थवादी और व्यक्तिपरक से वस्तुपरक होने का इतिहास है।

2

प्रेमचन्द रूढ़िवादी नहीं थे और वे उस उदार मानवतावाद से उपेत थे जो हर प्रकार की कठिनाइयों की सतह को तोड़कर रूढ़िग्रस्त भारतीय जनमानस में नव चेतना का संचार कर रहा था। प्रेमचन्द जीवन और साहित्य दोनों में सच्चे अर्थों में प्रगतिशील जीवन-मूल्यों के संग्राहक और प्रचारक थे। शिवरानी जैसी विधवा से विवाह से लेकर तीन सौ से अधिक कहानियों और एक दर्जन उपन्यासों में प्रेमचन्द ने रूढ़ि का समर्थन कहीं भी नहीं किया है बल्कि इसके विपरीत उन्होंने रूढ़ियों को झकझोरा और तोड़ा है। उनकी सामाजिक चेतना निश्चय ही सुधारवाद की अनुवर्तिनी है और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस सुधारवाद का स्वर अपनी गहराई में भारतीय पुनरुत्थान की चेतना से सम्पृक्त था और अधिक स्पष्ट तथा समकालीन आर्य समाजी सामाजिक चेतना से पूर्ण था। सेवासदन से लेकर गोदान तक वे यदि एक ओर राजनीति के किसी पार्श्व का स्पर्श करते है तो वे प्रायः अपने जीवन-चित्रण में प्रत्येक उपन्यास में सुधारवाद का भी आश्रय लेते हैं। चाहे वह वेश्या समस्या हो, चाहे वह अनमेल विवाह की समस्या हो, चाहे वह आभूषण प्रियता की समस्या हो, चाहे प्रदर्शनप्रियता की समस्या हो, चाहे वह जातिवाह्य विवाहों की समस्या हो, चाहे विधवा विवाह की समस्या हो, चाहे वह सामाजिक अथवा धार्मिक विघटन और फूट की समस्या हो—सर्वत्र प्रेमचन्द की दृष्टि दालित, शोषित और पीड़ित की ओर है। समाज के प्रचलित विधि-निषेधों का समादर प्रेमचन्द वहीं तक करते है जहाँ तक वे मानवीय जीवन मूल्यों के विरोध में नहीं किन्तु जहाँ उन्हें उदार मानवीय मूल्यों के विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है वहाँ वे उस सामाजिक रूढ़ि के प्रति विद्रोही हो उठते हैं। सुधार का स्वर प्रेमचन्द में कभी कभी इतनी दृढ़ता प्राप्त कर लेता है कि उसे हम क्रान्ति प्रियता भी कह सकते हैं। संक्षेप में प्रेमचन्द रूढ़िवादी धर्म और मध्यकालीन ह्रासोन्मुख सामंतवादी ढाँचे के प्रति जीवन भर संघर्ष करते रहे और लिखते रहे। निश्चय ही यह चेतना जब तक सुधारवाद की नरमी से संयुक्त थी तब तक वे सेवासदन, प्रेमाश्रम जैसे सदनों और आश्रमों की स्थापना का कला-विरोधी और गाँधीवादी स्वरूप खड़ा करते रहे लेकिन ज्यों-ज्यों उनकी सामाजिक चेतना इतिहास की वैज्ञानिक प्रक्रिया में पैठती चली गई त्यों-त्यों वे इन अप्राकृतिक समाधानों की व्यर्थता समझते गए और अपने अन्तिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' में वे किसी सदन अथवा आश्रम का आश्वासन देने के बजाय गोदान की ट्रेजेडी सौंप गए। और यही वह विन्दु है जहाँ प्रेमचन्द उस क्रान्तिदर्शी साहित्यकार के रूप में सामने आते है जो साहित्य को सिक्के की तरह भुनाता नहीं, पदोन्नति के लिए किसी प्रकार का माध्यम

नहीं बनाता, साहित्य के लक्ष्य की पवित्रता को किसी गन्दी नाली में नहीं डुबोता बल्कि एक सर्वथा निर्लेप द्रष्टा की भाँति वास्तविक जीवन-संघर्ष को उसकी समूची वास्तविकता में उपस्थित कर देता है।

3

'गोदान' प्रेमचन्द की अन्तिम पूर्ण कृति है और प्रेमचन्द के जीवन-चिन्तन और उपन्यास-कला के प्रकर्ष का एक समर्थ उदाहरण : गोदान हिन्दी कथा-साहित्य में वह शिखर है जहाँ से दोनों ओर उतराइयां हैं। एक ओर की चढाई की सीढ़ियों का निर्माण स्वंय प्रेमचन्द ने ही किया और दूसरी ओर की उतराई का निर्माण परवर्ती कथाकारों की सीमाओं ने किया। इस प्रकार 'गोदान' इतिहास की उपलब्धियों का संकेतक भी है और इतिहास की सम्भावनाओं का द्योतक भी। 'गोदान' में भारतीय समाज अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता के साथ उपस्थित है। वह भारतीय समाज जो मध्यकालीन साँमतवादी रूढ़ियों और पूँजीवादी आर्थिक नीतियों से एक ओर ग्रस्त है दूसरी ओर दमन, घुटन तथा पूँजीवादी आर्थिक नीतियों से एक ओर ग्रस्त है दूसरी ओर दमन, घुटन तथा पूँजीवादी दुश्चक्र के बीच से उभरती हुई उन पीढ़ियों का संकेतक भी जो गाँव में शोषकों का साहसपूर्ण विद्रूप उपस्थित करती है, चुनौती के तराने छेड़ती है और नगर में हड़ताली बनकर आपत्तियों का क्रीड़ामञ्च बन सकती है। पुनः भारतीय समाज वह जिसका समूचा जिस्म देहात है और मुख-मानस शहर। इस प्रकार 'गोदान' का इतिवृत्त अपने पूरे संदर्भ में समकालीन जीवन का महाकाव्योचित कथन करता है इसमें कई संदेहों के बावजूद बहुत संदेह की गुंजायश नहीं है। गोदान का महाकाव्योचित उपन्यास कहा जाना जिस अभिप्राय का संवाहक है उसे स्पष्ट करना जरूरी है। यह सही है कि उपन्यासों को महाकाव्योचित कहने की परिपाटी लियो तालसताय के 'वार एण्ड पीस' उपन्यास की विशदता और नैपोलियन के आक्रमण कालीन इतिहास-राजनीति को समेटने के सर्वातिशायी गुण के कारण ही है। मेरी धारणा है कि उपन्यासों को महाकाव्योचित कहना एक विशेष स्थिति में पूरी तरह जायज है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखे तो क्या यह झूठ साबित किया जा सकेगा कि आदिकाल और मध्यकाल में जो स्थान महाकाव्य का था वही स्थान आधुनिक काल में उपन्यास का है। युग-जीवन की संक्रान्ति की समग्रता को समेटने को यदि महाकाव्य का अविसंवादी अधिकार मान लिया जाय तो यह अधिकार उपन्यास का भी हो सकता है। आधुनिक काल में उपन्यासों ने यह कार्य किया भी है यद्यपि यह कहते हुए यह बात भी नजर में हैं कि महाकाव्य के भारतीय शास्त्रीय आदर्श अनेक बार घपले में पड़ते हैं लेकिन इसके साथ ही यह आश्वासन भी अनुभव किया जा रहा है कि महाकाव्य की महिमा का अन्ततः यही निचोड़ है। अब एक दूसरा प्रश्न यह पैदा होता है कि कोई भी उपन्यास महाकाव्योचित कब बन सकता है? मेरे विचार से यह समझना भूल होगी कि कोई भी उपन्यास तभी महाकाव्योचित कहा जा सकेगा जब 'वार एण्ड पीस' की तरह उसमें गृहीत काल के युग-जीवन का विराट कथन हो और ऐतिहासिक घटनाएँ इतिहासोचित ढ़ंग से समाविष्ट हों। मेरे विचार में वह भी महाकाव्योचित कहा जा सकेगा जिसमें युग का

आह्लाद, अवसाद, विचार, चिन्तन, रूप-विद्रूप, उत्कर्ष-अपकर्ष, संघर्ष-वंचना अपने मौलिक रूप में चित्रित हो, संक्षेपतः युग का सक्रांतिजन्य सामाजिक यथार्थ अपने आधारभूत रूप अपनी संपूर्ण गतिशीलता तथा अपने समूचे सन्दर्भ, मे और यदि सम्भव हुआ तो अधिकांश परिप्रेक्ष्यगत आयामों के सहित उभर आए। इस कसौटी पर यदि गोदान को कसा जाय तो शायद निराश नहीं होना होगा। यह थोड़ दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के उत्साही आलोचकों ने गोदान को महाकाव्योचित कह तो दिया लेकिन वे इसे सिद्ध नहीं कर सके और जिन्होंने इस मत का खण्डन किया उनके तर्क अपेक्षाकृत अधिक प्रबल पड़े।

: 4 :

वास्तविकता यह है कि गोदान बीसवीं शती के चौथे दशक में लिखा जाकर भी लगभग स्वातन्त्र्य पूर्व की आधी शताब्दी के भारत के सामाजिक यथार्थ के आधारभूत बनावट को सामने रखता है। इस कार्य को करने की एक विशेष प्रक्रिया साहित्य स्वीकार करता है। समाज की आधारभूत बनावट को स्पष्ट करने के लिए उसे समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का सहारा लेना नहीं फब सकता इसलिए उसके लिए आवश्यक हो जाता है साहित्यिक प्रक्रिया का ग्रहण। साहित्यिक प्रकिया के ग्रहण का अर्थ है प्रतीकात्मक पद्धति का ग्रहण। इसका तात्पर्य हुआ एक पात्र को रखकर उस प्रकार के सारे पात्रों की ओर संकेत और कभी कभी विरोध-विधान जनित कला माध्यम के द्वारा विसदृश पात्रों की ओर भी संकेत। एक गांव को सामने रखकर उस प्रकार के सारे गाँवों की ओर सकेत। एक शहर को सामने रखकर उस प्रकार के सारे शहरों का द्योतन। स्थूल स हित्यिक पदावली में इस प्रकार के पात्र गाँव-शहर को 'टाईप' पात्र-गांव-शहर की भी संज्ञा देते है किन्तु 'टाईप' नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ने की जरूरत नहीं है और जरूरत है इस बात की गम्भीरता और सहृदयतापूर्वक समझने की कि किसी भी विराट साहित्यिक आयोजन के लिये जो आत्माभिव्यंजना से जरा भी आगे का लक्ष्य अपने सामने रखता है 'टाईप' के दायरे को स्वीकार करते हुए इंगित या संकेत या प्रतीक पद्धत्ति को अपनाकर उस 'टाइप' को अतिक्रान्त करने की अपरिहार्य आवश्यकता पड़ती है। इस विन्दु पर आकर यदि हम 'गोदान' को देखें तो उसमें होरीं का गाँव बेलारी भारत के अस्सी फीसदी गाँवों का प्रतिनिधित्व करता है और यहीं पर यह कह देना बहुत अनुचित नहीं होंगा कि आज भी भारत उस माने में नागरिक सम्यता से आक्राँत नहीं हो सका है जिस माने में पश्चिमी देश। यह भी कहना अनुचित नहीं होगा कि गोदान का लखनऊ नगर भारत के आमनगरों के ढाँचे का एक स्वरूप खड़ा करता है। यहाँ गाँव का मतलब अच्छे किस्म के दूकानों-रेल-तार डाक सड़क मोटर आदि नागरिक सुविधाओं से शून्य और झोपड़ों-खपरेलों खेतों की हरियाली से भरी जगह ही नहीं बल्कि उसके साथ गाँव के जड़ित कुंठित संस्कार और जोक-सरीखी शोषक एजेंसियों का जाल। पटवारी, पुरोहित, कारिन्दा-कारकुन सहुआइन, पुलिस, पञ्च, जमींदार आदि से निरन्तर शोषित होता हुआ किसान और शहर से मतलब है रईस-मिल मालिक, प्रोफेसर डाक्टर, वकील छोटे-बड़े व्यापारियों का समाज। गाँव और शहर इन दोनों के बीच के क्रिया व्यापारों के शायद कुछ तत्कालीन रूप होगें, 'एलेक्शन' पिकनिक, नौकरी, सरकारी तहकीकात आदि।

अब यह देखना है कि बेलारी अगर भारत के समस्त गाँवों का प्रतिनिधित्व करता है तो किस तरह? सच्चाई यह है कि हजार भाषा और वेशभूषागत विभिन्नताओं के बावजूद आज का समूचा भारत न केवल एक सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित है बल्कि एक प्रकार की कृषि शैली से भी। एक ही प्रकार के कृषि के साधन, एक ही प्रकार की कृषि योग्य भूमि पर बहुसंख्यक जनता की आश्रयता, एक ही प्रकार की महाजनी व्यवस्था एक ही प्रकार की शोषक एजेंसियाँ और एक ही प्रकार से सारे श्रम के बावजूद श्रमिक की असंतुष्टि यदि आप किसी कन्नड़ किसान परिवार के तीर्थयात्री और एक देवरिया के किसान तीर्थयात्री को काशी के विश्वनाथ मन्दिर में मिलाकर देखेंगे तो अधिक अन्तर आपको नहीं मिलेगा। शिक्षा और संस्कृति का थोड़ा अन्तर आज से चौथे दशक की परिस्थिति की तुलना में कोई बहुत बड़ा अन्तर उपस्थित नहीं करता। अगर इस निष्कर्ष को मान लिया जाए तो होरी के गाँव बेलारी को आप जम्मू-काश्मीर से लेकर रामेश्वरम और बङ्गाल आसाम से लेकर पंजाब सौराष्ट्र तक के भारत के गाँव में से क्या एक नहीं स्वीकार कर सकते? मैं पुनः पहले कही हुई प्रतीक-शैली का स्मरण दिलाऊगाँ।

एक दूसरा आरोप फिर आड़े आता है कि गोदान की आधिकारिक कथा ग्राम कथा ही है। नगर कथा, कुछ लोगों के मत से प्रासंगिक और कुछ लोगों के मत से आरोपित और अनुपयुक्त है यह बात औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से यह मानकर कही जाती है कि प्रत्येक उपन्यास की बुनावट अनिवार्यतः सघन और अंत.सबद्ध होनी ही चाहिए। वस्तुतः यह अनिवार्यता महाकव्यात्मक उपन्यासों (एपिक नॉवेल्स) पर लागू ही नहीं होती। ऐसे ही उपन्यासों को पाश्चात्य आलोचकों ने शिथिल बध कथा वस्तु (लूज प्लाट) वाले उपन्यास कहा है। गोदान मे ग्राम और नगर कथा में अंतरावलम्बन की कमी अथवा बुनावट की विरलता का जो आरोप किया जाता है उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए भी यह कहने का तथ्यात्मक आधार है कि हिन्दुस्तान के चौथे दशक तक भारत में गाँव और शहर का अंत.सबध अत्यन्त क्षीण था। यदि प्रेमचन्द को समकालीन भारत की समग्र वास्तविकता का चित्रण करना था तो उन्हें इस क्षीण सम्बन्ध को ही उसकी यथातथ्यता में अंकित करना था।

वस्तुतः प्रेमचन्द भारत की भौगोलिक विविधता में सांस्कृतिक एकता देखकर विस्मित भाव से पुलकित होने वाले अतीत प्रेम कथाकार नहीं थे वरन उस एकता के मूल में स्थित वास्तविक परिस्थितियों के ऐतिहासिक और सत्सामयिक पक्षों को उद्घाटित करके भविष्य के सम्भावना-मार्ग की ओर इंगित करने वाले सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकार थे। मोटे तौर पर गोदान में ग्राम-चित्रण को ही प्रमुख मानने वाले आलोचकों को यह देखना चाहिए कि प्रेमचन्द ने अरस से सर्वथा करे ग्राम और नगर के बढ़ते अंतरावलम्बन को पहचाना और बहुत पहले से जमीदार और मील मालिक के अन्तः सम्बन्ध के स्तर से उतरकर गाँव के मामूली किसान के लड़के गोबर और बहू झुनिया के नगर की चुहिया नामक स्त्री के साहाय्य-सम्पर्क के स्तर पर चित्रित किया।

वस्तुतः प्रेमचन्द गाँव और नगर के अन्तस्सम्बन्ध को जिस वर्गीय धरातल पर चित्रित कर रहे थे वह उनकी सामाजिक यथार्थवादी प्रतिश्रुति का विस्तार कहा जा सकता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमें गाँव और नगर की वर्गीय सामाजिक और आर्थिक संरचना को समझना होगा। प्रेमचन्द के समय का गाँव मोटे तौर पर तीन वर्गों से संगठित था। पहला, बहुसंख्यक गरीब मिहनत कश किसान वर्ग, दूसरा, राजनीति से सामन्ती पूँजीवाद तक फैला अल्पसंख्यक किन्तु अत्यन्त प्रभावशाली जमीदार वर्ग तथा तीसरा मध्यवर्ती मध्यवर्गीय शोषकों का एक जटिल चक्र जिसमें जमींदार के कारिंदा-प्यादे, शासन से नियुक्त पटवारी तथा पुलिस, सूदखोर महाजन, पुरोहित, पंचायत के पंच आदि आते हैं। शहर का मतलब भी तीन प्रकार के स्पष्ट वर्गों की स्थिति थी। प्रथम, मजदूरों काम करों तथा साधारण रोजगारियों का बहुसंख्यक वर्ग, दूसरा मिलमालिक बैंकर और पुराने रईसों का अल्पसंख्यक किन्तु नगर ही नहीं ग्राम जीवन को भी शोषित करने वाला वर्ग, तीसरा डाक्टर, अध्यापक, बीमा एजेन्ट, और सम्पादक और राजनीतिक नेता आदि का हजारों पेशों से बनने वाला मध्यवर्ग। गाँव तथा नगर के इन वर्गीय रूपों के आपसी अन्तः सम्बन्ध की परीक्षा हमें ऐसी पहचान तक ले जाएगी जहाँ गोदान की महाकाव्यात्मकता पूरी तरह सिद्ध की जा सकेगी। गाँव के किसान मजदूर का सम्बन्ध नगर के मजदूर कमकर और रोजगारी से कैसे और कितना होता है यह देखने के लिए गाँव के होरी के पुत्र गोबर और बहू झुनिया के नगर-निवास में मिल मजदूर से खोमचा लगाने वाले छोटे रोजगारी जन की यात्रा को देखा जा सकता है। गांव के दूसरे वर्ग जमींदार का सम्बन्ध नगर के पूँजीपति, मिलमालिक और बैंकर से कितना घनिष्ट होता है यह देखने के लिए पूँजीपति खन्ना के मिल के शेयरों को जमीदार रामसाहब द्वारा खरीदने तथा अपने अन्यान्य कार्यक्रमों के लिए उनसे प्राप्त होने वाले ऋण पर आश्रित होने की स्थिति को देखना चाहिए। जहां तक गांव और नगर के उच्चवर्ग की शोषक वृत्ति का प्रश्न है: जमीदार राय साहब बेगार, शगुन, बेदखली आदि से तथा मिल-मालिक खन्ना किसानों के खेत ईख को सस्ते दरों पर खरीद कर तथा मजदूरों की मजदूरी मैं कटौती करके शोषण करते है। जहाँ तक गाँव और नगर के मध्यवर्गीय संरचना में साम्य का प्रश्न है गोदान के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि उनमें वैषम्य हो अधिक है। गाँव का मध्यवर्ग शिक्षा से शून्य होने के कारण एकान्त भाव से निम्नवर्ग के शोषण में लगा रहता है। नगर का मध्यवर्ग शिक्षा और संस्कृति से समन्वित और विनियमित होने, समृद्धि के नाम पर नाना प्रकार के अभावों की चिन्ता से ग्रस्त होता है तथा उच्चवर्ग के नजदीक पहुँचने की कोशिशों में लगा रहता है। मध्यवर्ग का एक छोटा सा वर्ग उन बौद्धिकों का होता है जो नई क्रान्तिकारी विचारधाराओं की बात करते हैं, लोकप्रिय आन्दोलनों में भाग लेते हैं और कई बार सर्वस्व त्याग करके जनान्दोलनों का नेतृत्व करते हैं। 'गोदान' में प्रो० मेहता, डॉ० मालजी, सम्पादक ओंकारनाथ; राजनीतिक नेता मिर्जा खूर्शेद बीमा एजेन्ट मि० तंखा आदि मध्यवर्ग के उस पक्ष को उजागर करते हैं जो नगर में मिलमालिक खन्ना और गाँव में जमीदार राय साहब की मैत्री में जीता है, जो आदर्शों की बात करता है किन्तु शोषण

के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों के परिवर्तन के लिए बहुत कम सक्रिय होता है। बाद में चलकर डॉ० मेहता और मालती ग्राम-आन्दोलन से जुड़े दिखलाई पड़ते हैं।

इस प्रकार गोदान ने अपने समय के हिन्दुस्तान के प्रमुख जीवन की समूची आर्थिक सामाजिक संरचना को प्रतीकात्मक ढंग से चित्रित किया है। इस उपन्यास में सामान्यतः यह यथार्थ अपनी समग्रता में चित्रित होता है। इतना अवश्य है कि ग्राम जीवन इस उपन्यास में जितनी समग्रता और पूर्णता में व्यक्त हुआ है नगर जीवन उस विविधता और पूर्णता में नहीं। यह प्रेमचन्द का उद्देश्य भी नहीं प्रतीत होता। वे तो वस्तुतः मजदूर-किसान को शोषित करने वाले गाँव-नगर के शोषकों के चक्र की कहानी कहना चाहते हैं।

गोदान के वस्तु-शिल्प की कमजोरियों में उच्च तथा मध्यवर्ग के पिकनिक और मनोरंजन को निरर्थक तूल देना है। इस तरह कई बार अनेक आंतर समस्याओं पर लम्बे भाषणों और निरर्थक बहसों की योजना गोदान की गहन त्रासदी में बहुत हल्की फुल्की 'कामेडी' बन जाती है। किन्तु एक बड़े उपन्यास में इस प्रकार की कमियों का आ जाना स्वाभाविक है।

5

गोदान का महत्व वस्तुतः दो बातों को लेकर है। प्रथम, चौथे दशक के भारत के गाँव-नगर की वास्तविकता का समग्र अंकन और दूसरे उस जघन्य वास्तविकता के भीतर से फूटते विद्रोह के अंकुरों की पहचान। गाँव-नगर की वास्तविकता के चित्रण के शक्ति पक्ष का ऊपर मूल्यांकन हो चुका है और यह स्थापित किया जा चुका है कि गोदान को महा-काव्यात्मक उपन्यास बनाने के लिए उतना काफी है। दूसरी बात, भविष्य की सम्भावनाओं की पहचान प्रेमचन्द की बहुत बड़ी देन है। सम्भावनाओं की पहचान में प्रेमचन्द कहीं भी अतिरचना से काम नहीं लेते। गोबर के रूप में प्रेमचन्द भविष्य के विद्रोही किसान और मजदूर का चित्रण करते हैं। जहाँ विधवा झुनिया को पत्नी बनाकर तथा सम्पूर्ण ग्रामीण शोषण-चक्र के प्रति होरी के आत्मसमर्पण की निन्दा करता है वहाँ वह स्वयं उस शोषण चक्र के आतंक को अस्वीकार करके एक विद्रोही किसान का पक्ष प्रस्तुत करता है। नगर में वह मजदूर की हैसियत से मिलमालिक के शोषण, कटौती और 'लाक आउट' के विरुद्ध हड़ताल में भाग लेता है और पुलिस के डन्डे का शिकार होता है। गोदान के लगभग अन्त में किसान से मजदूर बन गया होरी एकबारगी भाग्य और भगवान को भुलाकर कहता है 'इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला कर के जब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख ? सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।' गोबर के रूप में प्रेमचन्द कम से कम एक ऐसे पात्र का सृजन करते हैं जो भावी किसान-मजदूर की नियति और एक संघर्षोन्मुख यथार्थ की सम्भावना है।

गोदान से कुछ और नौजवान और नवयुवतियाँ विद्रोह करती हैं जिधर लोगों का कम ध्यान गया है। धर्म और कर्म के अवतार दातादीन का पुत्र मातादीन सिलिया चमारिन से प्रेम करता है, उससे पुत्र उत्पन्न होने पर ब्राह्मणत्व के कृत्रिम दंभ से मुक्त होने

लगता है और उस लड़के के मरने के बाद अपने को चमार के रूप में, सिलिया के प्रकट पति के रूप में सामने रखकर दातादीन की समूची वर्ण–जाति व्यवस्था के मुंह पर तमाचा जड़ देता है। इधर जमीदार के घर में भी विद्रोह की विस्फोटक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। राय साहब का पुत्र राजा सूर्यप्रताप सिंह की कन्या के विवाह–प्रस्ताव को ठुकरा कर डॉ० मालती की बहन सरोज से प्रेम कर लेता है और उनकी पुत्री मीनाक्षी भ्रटाचारी कुंअर दिग्विजय सिंह के खून की प्यासी हो जाती है और क्रन्तिकारी पार्टी में काम करने लगती है। ध्यान देने की बात है कि जमींदार पिता राष्ट्रवादी होकर 'राजा' की उपाधि के लिए प्रयत्न करके उसे उपलब्ध करता है और पुत्र दो राजाओं की आकांक्षाओं के विरुद्ध जाकर एक मध्यवर्गीय भिन्न कुलशील की लड़की से प्रेम करता है इसी प्रकार पुत्री असन्तोष और प्रतिक्रिया में ही सही साम्राज्यवाद को उखाड़नेवाली सशस्त्र क्रान्ति में सम्मिलित हो जाती है। मध्यवर्गीय विद्रोह का एक रूप सरोज के जातिमुक्त प्रणय और दूसरा रूप मालती और मेहता के सम्बन्धों में दिखलाई पड़ता है।

इस प्रकार उच्च मध्य और निम्न तीनों वर्ग में नई पीढ़ी द्वारा आर्थिक संबंधों और सामाजिक (वैवाहिक) संबंधों के क्षेत्र में विद्रोह की विस्फोटक स्थितियों को अंकित करके प्रेमचन्द अपने बाद के दशकों की संभावनाओं की ओर सशक्त संकेत कर रहे थे।

गोदान उसन्यास का समापन स्तब्ध कर देने वाली त्रासदी में होता है। प्रेमचन्द के पुराने उपन्यासों का पाठक अनुमान करता है कि गोदान में भी किसी सेवासदन, किसी प्रेमाश्रम और किसी महिलाश्रम की प्रतिमा मिलेगी लेकिन गोदान के होरी को जब किसान से मजदूर और मजदूरी से मृत्यु तक पहुँचते हुए देखता है तो उसे एकबारगी गहरा झटका लगता है और वह प्रेमचन्द की नई कला का साक्षात्कार करता है जिसमें अनारोपित यथार्थ अत्यन्त सघन और दारुण रूप में सामने आता है। उससे भी बड़ा व्यंग्य ब्राह्मण के गोदान में होता है जिसमें धनिया सुतली की बेच के बीस आने ब्राह्मण देवता को समर्पित कर देती है। अपने वर्तमान की समस्त जड़ता, सम्पूर्ण शोषण, और समूचे उत्पीड़न की कहने वाले उपन्यास के लिए यह दुर्भाग्य की बात होती यदि उसका अन्त एक गहरे-तीखे व्यंग के रूप में न होता।

———

प्रेमचन्द और आज का कथाकार

श्री रामदेव शुक्ल *

मायकोव्स्की की पंक्तियाँ हैं—

शताब्दियों बाद, कागज़ पर लिखी हुई एक पंक्ति को उठाएगा और आज के दिन को वापस बुला लेगा। अपने तमाम टैक्स इन्स्पेक्टरों और चमत्कारों के साथ। और आज की स्याही की गन्ध चमक उठेगी। तुम जो सिर्फ अपने-अपने युग के ही निवासी हो। जाओ और जन परिवहन विभाग से अमरता का एक टिकट ले आओ। और मेरी कविताओं के प्रभाव को गणनाकर मेरी उपलब्धि को आने वाले तीन सौ वर्षों में विभाजित कर दो। पर किसी कवि की शक्ति सिर्फ इसी बात में नहीं है कि भविष्य में लोग हिचकियों के साथ उसे याद करते हैं। नहीं, आज भी कवि का एक शब्द, एक आलिंगन है। और एक नारा, और एक संगीन, और एक कोड़ा।

साहित्यस्रष्टा जब अपनी सम्वेदना के माध्यम से अपने समय की धड़कनों से जुड़ा होता है तभी उसमें वह शक्ति भी आती है कि उसकी कृतियाँ शताब्दियों के बाद भी उतनी ही ताजी बनी रहती हैं जितनी वे अपने सृजनकाल में होती हैं। इससे भी आगे बढ़कर ऐसी कृतियाँ आने वाली पीढ़ियों के संघर्ष में, उनकी चिन्ता में, उनकी स्वीकृतियों और अस्वीकृतियों में साझीदार होकर उनके भीतर शक्ति संचार करती हैं, जैसे बैटरी चार्ज करने वाली मशीन। इस रूपक को आगे बढ़ायें। मनुष्य, जो प्रतिपल बदल रहा है, अपनी मूल संरचना में आदिम है। उसे युगों की यात्रा के बाद नयी शक्ति से अनुप्राणित होना पड़ता है। तभी यह महायात्रा निरन्तर गतिशील रहती है। शक्ति संचार का यह कार्य साहित्य करता है। बैटरी वही है। नये-नये कारखानों में नयी-नयी डिजाइनों में वह आती है। नित्य उसकी शक्ति का उपयोग होता है। शक्ति क्षीण हो जाने पर उसे चार्ज होना पड़ता है। चार्ज करने वाली मशीन का आकार प्रकार भी बदलता रहता है, किन्तु काम उसका वही रहता है, बैटरी को पुनः शक्ति प्रदान करना। साहित्य और मनुष्य का रिश्ता ठीक यही है। इसीलिए नयी सृष्टि के अभिनन्दन के साथ-साथ पुरानी सृष्टि का स्मरण और उसकी प्रासंगिकता अर्थात् शक्ति संचार की उसकी क्षमता का बार-बार आकलन होता रहता है। स्मरण और आकलन का यही अर्थ है।

इधर सूर, तुलसी, जायसी की कृतियों के मूल्यांकन–क्रम में सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है—प्रेमचन्द शती और उसके नाम पर होने वाला अगणित आयोजनों और प्रकाशनों

---

* हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

ने। इन सब में सम्मिलित होना उबाऊ हो सकता है, यदि मूल प्रेरणा उस शक्ति से अनुप्राणित होने से 'इतर' कुछ हो। सब कुछ को भुना लेने वाले इस युग में 'उस इतर' के प्रबल हो जाने की सम्भावना से इनकार नहीं हो सकता, किन्तु 'वह' जो भी हो, प्रेमचन्द के साहित्य की ओर देखने का मतलब हमारे लिए अपने को चार्ज करना, शक्ति से अनुप्राणित करना ही है।

प्रेमचन्द के उदय काल में हिन्दुस्तान की जिन्दगी का अहम मसला था आजाद होना। सिर्फ अंग्रेज की गुलामी से आजाद होना नहीं, उन तमाम तरह की गुलामियों से आजाद होना जो हमारी अस्मिता को जकड़ चुकी थीं। जमीन और किसान के रिश्ते, दोनों के बीच घुस पैठ करने वाले जमीदारों, राजाओं और उनके ऊपर सरकार के साथ इन सबके रिश्ते, मालगुजारी, लगान, नजराना और वेगार के रिश्ते, महाजनी सभ्यता की फैलती हुई राक्षसी, दमघोंट बाँहों में कसमसाते लोगों के साथ नये धनिक वर्ग के रिश्ते; अन्धविश्वासों में जकड़े पुरुषों के अज्ञान की जड़ दीवारों में कैद बेपढ़ी लिखी, बेजुबान औरत के साथ उसके रिश्ते, व्यक्ति की चेतना पर प्रहार करते रहने वाले लँगड़े लुले समाज के साथ व्यक्ति के रिश्ते—ये सब के सब जिन जँजीरों में जकड़ गये थे, उनको तोड़ फेंकने की आकांक्षा—यही उस युग की सबसे बड़ी आकांक्षा थी। इसी के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में राम कृष्ण विवेकानन्द काम कर रहे थे, इसी के लिए दयानन्द सरस्वती काम कर रहे थे, इसी के लिए गोखले, तिलक और बाद में महात्मा गान्धी कार्य कर रहे थे और इसी के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महाबीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द कार्य कर रहे थे। सबके क्षेत्र अलग-अलग थे, सबके कार्य और उसके तरीके अलग-अलग थे, मगर लक्ष्य सबका एक ही था–आजाद होना।

वह आजादी आयी। जो बाहर की जंजीर थी वह टूट गयी। भीतर वाली जंजीरें उस झटके में टूट गयी होतीं तो हिन्दुस्तान आज पूरी तरह आजाद मुल्क होता। यह नहीं हुआ। इस देश में किसान और उस धरती के बीच में दलाल आज भी किसी न किसी शकल में मौजूद हैं। इस देश में जाति की बदबूदार प्रथा आज भी है। यह बीमारी जितनी विकृत होती जा रही है उतनी पहले कभी नहीं थी। औरत आज भी इस देश में पुरुष से अलग तरह की मानवी सृष्टि मानी जाती है जिसपर बलात्कार करने वालों और प्रचारित करने वालों-दोनों को समान आनन्द मिलता है। 'समाज क्या कहेगा' जैसे प्रश्न आज भी व्यक्ति की चेतना पर प्रहार कर रहे हैं। इन सब भीतरी जंजीरों में जकड़े हिन्दुस्तान को और विवश बना रही है राजनीति का पेशा करने वालों की कुत्सित लिप्सा। अब लग रहा है कि बाहरी जंजीरें टूट जो गयी थीं किसी न किसी शकल में फिर अपनी काली छाया फेंकने लगी हैं।

ऐसी स्थिति में आजादी के लिए किये गये प्रयत्नों की प्रासंगिकता हमारे सामने नये सिरे से उजागर हो रही हैं। यह गुलामी कुछ ज्यादा जटिल है, अतः इसकी जंजीरों को तोड़ना और कठिन काम है। पहले अंग्रेज को भगाना था। अब उन्हें भगाना है जो खुद ही दहाड़ रहे हैं कि कोई है जो हमारी आजादी छीने ले रहा है।

इस विषम स्थिति में हमारे समाज की जटिल संरचना से परिचित कराने वाला साहित्य ही सर्वाधिक प्रासंगिक है। पिछले दौर के जिस-जिस लेखक ने हमारी आकांक्षाओं और उनके मार्ग की बाधाओं को ठीक-ठीक पहचानकर रचनात्मक स्तर पर मुक्ति की दिशा में सक्रियता दिखायी है, वे आज पहले से ज्यादा प्रासंगिक हो उठे हैं। प्रेमचन्द उन्हीं लेखकों में से हैं।

प्रेमचन्द के हजारों पात्रों के माध्यम से हम अपने समाज की जटिल संरचना को समझ सकते हैं और चेतना पर पड़ने वाले दबावों को महसूस कर सकते हैं। 'कफन' के घीसू-माधव, पूस की रात के ठिठुरते कंकाल, जन्म से मरण तक अतृप्त होरी, बूढ़ी काकी, आत्माराम, धनिया, झुनिया, सिलिया, गोबर, जालपा, रमानाथ—और इस तरह के हजारों पात्रों की धड़कनों के माध्यम से प्रेमचन्द परत दर परत इस समाज को उघारते चलते हैं।

प्रेमचन्द की विरासत के लिए ताल ठोंककर लड़ने वाले सचमुच रचनात्मक स्तर पर कुछ करना चाहें तो प्रेमचन्द की प्रासंगिकता सबसे ज्यादा उन्हीं की समझ में आने की चीज है क्योंकि रचनात्मक स्तर पर वे भी वही काम कर रहे हैं या कम से कम करना चाह रहे हैं, जिसे प्रेमचन्द ने चुना था। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि आज के कथाकारों को पुनः उन्हीं पात्रों और मनः स्थितियों परिस्थितियों को प्रस्तुत करना चाहिए। आज समय जितना आगे सरक आया है, हमारी चेतना के दबाव जिस तरह बढ़ गये हैं, समाज संरचना की जटिलता जिस तरह बढ़ गयी है, शत्रु जिस तरह ज्यादा चालाक हो गया है—इन सबको रचनात्मक स्तर पर उतारने की सच्ची कोशिश करने वाले कथाकारों के लिए प्रेमचन्द आज पहले से ज्यादा प्रासंगिक हो गये हैं। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हम प्रेमचन्द की तरह अपने युग को, उसकी आकांक्षाओं को उसकी दृष्टि को सम्पूर्णता में पकड़ने की चेष्टा करें। निश्चय ही यह कठिन रास्ता हैं, किन्तु सिर्फ यही रास्ता है जिस पर चलकर हम प्रेमचन्द के साथ जुड़ सकते हैं, अपने को उस चार्जर से जोड़कर अनुप्राणित कर सकते हैं।

———

युग प्रवर्तक रचनाकार मुन्शी प्रेमचन्द

डा० सूर्य नारायण द्विवेदी *
साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्०

महत्वपूर्ण एवं विश्वसनीय अभिव्यक्ति देना अलोकसामान्य प्रतिभाओं के ही वश की बात होती है, जो अतीत एवं वर्तमान के अवधानबद्ध पर्यवेक्षण के आधार पर वर्तमान एवं अनागत के मानव समाज के लिए संरचनात्मक एवं यथार्थ प्रेरणाएँ प्रदान करने का महान् दायित्व निभाती हैं। इन अर्थों में सामान्य कलाकारों से अलग वे अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के साथ साथ जाने अनजाने एक विशिष्ट युग प्रवर्तक की भूमिका भी अदा कर जाती हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य की बीसवीं शती के द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थार्द्ध दशक के महान् रचनाकार मुन्शी प्रेमचन्द वैसे ही कतिपय शलाका पुरुषों में से रहे हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा अपने समसामयिक परिवेश को न केवल आलोकित किया अपितु अनागत के रचनाकारों एवं सहृदयों के लिए भी यथार्थोन्मुख आदर्श प्रेरणा देने का कार्य किया। इस रूप में मुंशी प्रेमचन्द अपनी भावना एवं कृतियों में एक महत्वपूर्ण युगप्रवर्तक साहित्य स्रष्टा के दायित्व का प्रतिनिधित्व करते हुए आधुनिक युग के सामने आए।

विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार को स्वयं अपने उद्देश्य के अनुरूप क्षेत्र चयन करना होता है, जहाँ वह अपने इच्छित को अभिव्यक्ति दे सके। यदि वह क्षेत्र जिसको वह चुनता है, स्वयं रचनाकार का भोगा जाता हुआ हो, अभिव्यक्ति अधिक सहज और यथार्थ भी हो पाती है। मुंशी प्रेमचन्द भारतीय ग्रामांचल के तो थे ही, साथ ही वाराणसी के नगर जीवन से भी उनका परिचय अत्यन्त निकट का था। अतएव उनके लिए दोनों परिवेश थे, फिर भी उनकी कृतियाँ अधिकांशतः भारतीय ग्रामों में पनपती मानवीय चेतना का विश्वसनीय प्रतिनिधित्व करती देखी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के विकास में ग्राम एवं नगर दोनों का योगदान रहा है फिर भी यहाँ संख्या ग्रामो की ही अधिक है। नगरों के विकास मे जहाँ औद्योगिक एवं सामन्तवादी प्रक्रिया का हाथ रहा है, चाकचिक्य की प्रधानता के कारण रचनाकारों का एक बड़ा दल उससे सम्बद्ध अभिव्यक्तियों में रुचि लेता था। बहुत थोड़े लोग थे जो देश की ग्रामीण जन चेतना के जलते बुझते जीवन को अपनी कृतियों में विशिष्टता देकर सामने आना चाहते थे। मुंशी प्रेमचन्द ने ऐसे रचनाकारों का साहस पूर्ण ढंग से मार्ग दर्शन किया। अर्थात् भारतीय ग्रामों पर तत्कालीन परिवेश में बीतती स्थितियों, उभड़ती समस्याओं, टूटती आस्थाओं, प्रतिदिन बढ़ती कठिनाइयों एवं दुर्बलताओं की ओर ध्यान देने की एवं उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति देने की प्रेरणा दी।

---

* प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मुंशी प्रेमचन्द का काल एक संक्रमण काल था, जहाँ राष्ट्रीय सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक; पारिवारिक एवं वैयक्तिक सभी दिशाओं में परिवर्तन परिवर्द्धन का तूफानी दौर चल रहा था। प्रथम विश्व युद्ध के वाद से विश्व के कुछ राष्ट्रों ने स्वाधीन वातावरण में साँस लेनी शुरु की; कुछ उस दिशा में प्रयत्नशील थे और कुछ भयंकर संघर्ष के रास्ते पर अग्रसर थे। भारत भी उनमें से एक था, जिसपर गोरे शासकों का शिकंजा जितना गाढ़ होता जा रहा था, भारतीय जननेता उतनी ही आकुलता से राष्ट्रीय जन चेतना को जागृत करने की ओर बढ़ रहे थे। तिलक के बाद गान्धी जैसे अहिंसावादी नेतृत्व में आकर देश ने क्रान्ति की दिशा में विश्व के समक्ष एक नया मार्ग खोला। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति, समाज, राजनीति एवं परिवार परिकल्पना में भी अनन्त विकृतियों का साम्राज्य था। ग्राम एवं नगर अपनी इन विकृतियों से इस प्रकार जकड़े थे कि एक तरह की दुर्वार जड़ता के कारण राष्ट्रीय चरित्र का अग्रगमन अत्यन्त कठिन सा लगने लगा था। विशेष रूप से ग्रामों का जीवन अत्यन्त दुर्वह यातनाओं से गुजर रहा था। मुंशी प्रेमचन्द जैसे रचनाकारों को यह समझते देर नहीं लगी कि साहित्य के शास्त्रीय अथवा आभिजातीय स्वर इस वातावरण में बेसुरे बैठेंगे। अतएव युग की अपेक्षा एवं आवश्यकता का अन्दाजा लगते ही उन्होंने अपने साहित्य की दिशा लोक चेतना से सम्बद्ध चिन्ता की ओर मोड़ दी। संक्रमण काल की सीधी एवं सहज पहचान ने ही प्रेमचन्द जैसे रचनाकारों की सृष्टि को जीवन्तता प्रदान की, जिससे वे विशिष्ट एवं लोक चिन्तन का सही प्रतिविम्ब, प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकीं।

बीसवीं शती का भारतीय, युग की जिन विकट विषमताओं के बीच जी रहा है, उनमें रहकर विशुद्ध आदर्शों पर आस्था रखकर यथार्थ जीवन की अनदेखी संभव नहीं। मुंशी प्रेमचन्द के दशकों का समाज भी इन विषम स्थितियों की कटु अनुभूतियों से दूर का नहीं था। फिर भी तत्कालीन लेखकों में कई ऐसे लोग थे जो युगीन यथार्थ पर भारतीय अतीत के स्वर्णिम आदर्श एवं कल्पना का आवरण चढ़ाकर मोहक साहित्य की सृष्टि में लगे थे। इसमें संशय नहीं कि इस प्रकार के साहित्य से जनता के मनोवल को उन्नत रखने में सहायता मिलने की संभावना ही वहाँ काम करती थी, फिर भी युग के यथार्थ का अपना एक निश्चित महत्व होता है, जिसकी सही पहचान के विना साहित्य परिवेश की आवश्यक समस्याओं से जुड़ नहीं पाता। प्रेमचन्द जैसे रचनाकारों की दृष्टि इधर गई और इसीलिए उन्होंने युग के यथार्थ से सीधे जुड़ने का प्रयत्न किया। केवल यही नहीं उसे अपनी रचनाओं में उन्होंने जैसे अभिव्यक्ति दी उससे सर्वथा स्पष्ट है कि वे अपने परिवेश की यथार्थ समस्याओं से सीधे और सही रूप में जुड़े थे। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों एवं कहानियों में विखरी समस्याओं का जाल कल्पना एवं आदर्श का ताना वाना न होकर भोगे हुए यथार्थ सत्य का अनावृत अंकन है। सेवासदन से गोदान तक का सारा आयाम साक्षी है कि उन्होंने उन रचनाओं में वही आने दिया है, जो उनकी दष्टि में भारतीय ग्रामों एवं नगरों में उभड़कर सामने आ रहा था। वह नहीं जिनका आदर्श और मोहक कल्पना थोथी भावुकता और खोखले बड़प्पन के भुलावे से जन चेतना को जोड़ती है। सही तो यह है कि प्रेमचन्द के युग

में जैसे-जैसे आदर्शों एवं मोहक कल्पनाओं का मोहक आकर्षण खोखला थोथा एवं सारहीन रूप में स्पष्ट होता गया और विकट यथार्थ की भयंकरता सामने आती गई प्रेमचन्द जैसे रचनाकारों के साहित्य के स्वर में भी परिवर्तन आता गया और स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में यह परिवर्तन क्रमशः बहुत साफ-साफ उभड़ा है और अपनी सम्पूर्ण यथार्थता में।

मुंशी प्रेमचन्द का साहित्य और विशेष रूप से उनका वृहत् एवं लघु कथा साहित्य युगीन चेतना को प्रतिविम्बित करने में विशेष रुचि लेता देखा गया, जिसकी मूल शक्ति यथार्थ चेतना ही है। यथार्थ चेतना की अभिव्यक्ति को मुंशी प्रेमचन्द ने व्यापक अर्थों में ग्रहण करते हुए राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं को सांग एवं स्पष्ट रूप में सामने रक्खा। अतएव उनकी कृतियों में एकांगिता के स्थान पर व्यापकता की प्रवृत्ति मिलती है, जो तत्कालीन समाज का राष्ट्रीय परिवेश में सर्वांगीण रूप तो प्रस्तुत करती ही हैं, युग की वैयक्तिक भावनाओं परिकल्पनाओं, आस्थाओं और दुर्बलताओं को भी साफ-साफ उजागर करती रहती है। यही क्यों वहाँ तत्कालीन सामन्तवादी, समाजवादी और पूंजीवादी ताकतों की परस्पर एक राष्ट्र एवं उनमें पिसते मध्यम एवं निम्नवर्ग की पीड़ा और अक्षम-ताओं का भी सफल अंकन मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों एवं कहानियों का आयाम साक्षी है कि परिवेश के अंकन के साथ ही युगीन समस्याओं के प्रत्येक रंग को स्पष्ट करने के लिए वे जल्दवाजी से काम नहीं लेते अपितु क्रमशः उनकी समग्र आकृति और उनसे व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के चरित्र पर पड़ने वाले प्रभावों को सामने लाते हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं का समस्त फलक पाठकीय चेतना के लिए समाज एवं व्यक्ति का विश्वसनीय दस्ता-वेज प्रस्तुत करने में सक्षम देखा जाता है।

यह ठीक है कि मुन्शी प्रेमचन्द के साहित्य (विशेषकर कथासाहित्य) में युग की सचाई अंकित है फिर भी यह समझना भूल होगी कि वहाँ प्रकृतिवादियों की तरह नग्नतम यथार्थ के अंकन की प्रवृत्ति है या फिर मनोविश्लेषणवादियों की तरह रहस्यमय यथार्थ की अभिव्यक्ति की। वास्तव में उनका यथार्थ चित्रण अनुभवों के बीच से छन कर आने वाला अभिव्यंजित होने वाला यथार्थ है, जहाँ रूप, गुण, भाव, विचार परिवेश एवं प्रभाव सभी कुछ इस प्रकार सन्निहित होता है कि वह अभिधा से साथ होता हुआ भी—व्यंजित ही अधिक करता है, जो ही साहित्य का अपना पथ है, साहित्य श्रष्टा का अपना राज पथ। यथार्थ अंकन माध्यम होता है; लक्ष्य तो होती है अपेक्षित प्रभाव सृष्टि, जिसके द्वारा रचनाकार समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व के स्तर पर अपना उदात्त स्वर प्रसारित करता है और इस प्रकार वह युग चेतना के बीच उत्क्रान्ति उत्पन्न करने में समर्थ हो पाता है। मुन्शी प्रेमचन्द के कथा साहित्य में उनके वे उदात्त स्वर प्रसारित हैं, जिनके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन एवं अनागत के करोड़ो लोगों के लिए नवीन जीवन चेतना के प्रति अवधानवद्ध होने एवं मानव समाज को दुर्बल बनाने वाली विषमताओं के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए नए एवं विषमता विहीन समाज की सृष्टि करने की दिशा में अग्रगमन का सन्देश दिया है।

किसी भी राष्ट्र एवं समाज का अतीत उसके वर्तमान की पृष्ठभूमि होता है, किन्तु वहीं सम्पूर्ण रूप में वर्तमान पर छाया रहे, नहीं यह आवश्यक है और न श्रेयस्कर ही।

इसी लिए सतर्क रचनाकार अतीत की विरासत का उतना ही अपनी रचनाओं में आने देता है, जिससे समाज एवं राष्ट्र की गतिशील चेतना पर अनावश्यक भार न पड़े। यही क्यों वह अतीत के 'ऐसे मूल्यों, महत्वों, मान्यताओं, परम्पराओं एवं अन्वितियों को भी नकारने में आनाकानी नहीं करता, जिनका राष्ट्र की गतिशीलता में नगण्य महत्व रह गया हो। हाँ; वह ऐसे मानव मूल्यों को अपनी रचना में अवश्य स्थान देता है जिसके बिना मानव जीवन ही नीरस एवं नगण्य स्थिति में पहुँच सकता है। मुन्शी प्रेमचन्द के कथासाहित्य में अतीत की अन्धपरम्पराओं, जीर्ण—शीर्ण सामाजिक एवं वैयक्तिक मूल्यों, मान्यताओं और अन्वितियों को नकारने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में मिलती है। उन्होंने अपने कथा साहित्य में यथा समय वर्तमान को ही किया है उसकी समग्र यथार्थ में अंकित प्रकृति एवं विकृति के साथ। भारत के मध्यम वर्गीय एवं निम्नवर्गीय समाज के जीवन से सम्बद्ध जो कुछ वहाँ आया है उस सारे सन्दर्भ में प्रेमचन्द का प्रयास रहा है, अपने युग की यथास्थिति को सामने रखना ताकि अतीत की गरिमा के गर्व में वर्तमान के कटु यथार्थ को नजर अन्दाज न किया जा सके। इसका अर्थ उनका समसामायिक समाज की समस्याओं का उनकी वास्तविकता के साथ चित्रण उन्हें अवश्य काम्य था किन्तु उन्ही चित्रणों के बीच उन्होंने उन राष्ट्रीय एवं साँस्कृतिक महान् चरित्रों एवं उनके उदात्त मानव मूल्यों को भी अंकित किया है, जो कठिन पीड़ा के क्षणों में भी प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के पात्रों के भीतर जागृत रहते हैं। अर्थात दया, माया, ममता, परिवार के प्रति प्रणय भावना, देश प्रेम, सेवाभाव, सहानुभूति, एवं अध्यात्म निष्ठा, ईमानदारी, सहिष्णुता, त्याग, अलोलुपता, आदि को उन्होंने अपने कथानकों के उन पात्रों में उनकी अत्यन्त पीड़ा के क्षणों में भी अंकित किया है, जब मनुष्य की विवेक क्षमता प्रायः मरती सी जान पड़ती है। प्रेमचन्द के इस अंकन से साफ जाहिर होता है कि उन्होंने अतीत से अनावश्यक त्याग कर आवश्यक का परिग्रहण किया था, उन मूल्यों का त्याग वे करना नहीं चाहते थे जिनमें राष्ट्रीय सामाजिक एवं वैयक्तिक चरित्र को उदात्त, उदार और पावन बनाने की शक्ति है।

अत्यन्त मूल्यवान तत्व भी अस्थान में पड़कर मूल्य विहीन सा हो जाता है। मूल्यों के लिए अस्थान वही नहीं, जो किसी कारण से अक्षम हों बल्कि वे भी होते है जहाँ वास्तविकता के स्थान पर प्रदर्शन अधिक होता है। कारणों के दूर होने पर अक्षम-सक्षम होकर मानव मूल्यों को धारण करने में समर्थ हो जाते है, किन्तु प्रदर्शन करने वाले में तो वह शक्ति अन्त तक नहीं देखी जाती। मुन्शी प्रेमचन्द को इस सत्य की पहचान थी। इसीलिए उन्होंने मानव मूल्यों को अपने में प्रदर्शित करने वालों का पर्दाफाश करने की आवश्यकता का अनुभव किया एवं तथा-कथित आभिजात्य वर्ग के चरित्रों में उसके प्रदर्शन परक रूपों का उद्घाटन किया ही, साथ ही समाज के उपेक्षित और विभीषिका ग्रस्त, अर्थ विहीन चारित्रों के बीच अत्यन्त, पीड़ामय स्थितियों को उजागर करने का प्रयत्न किया। इस उद्घाटन एवं मूल्य स्थापना का मूल कारण है रचनाकार में मानवीय मूल्यों के प्रदर्शन एवं ह्रास के प्रति चिन्ता का भाव।

मुन्शी प्रेमचन्द की रचनाओं की सर्जना यद्यपि पाश्चात्य कलात्मक आदर्शों से अनुप्रेरित थी, इसमें सन्देह नही । फिर भी इसका सम्पूर्ण आन्तर पक्ष भारतीय प्रवृत्ति एवं परिवेश के स्वरूप से अनुप्राणित रहा । कलात्मक आदर्श इसलिए लेने पड़े कि भारतीय कथा सिद्धान्तों का लक्ष्य वहुत पुराना पड़ चुका था और महान् लेखक गतानुगतिक नहीं होता । मुंशी प्रेमचन्द ने पाश्चात्य कलात्मक आदर्शों में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्द्धन कर अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया । "उपन्यास कला" आदि निबन्धों से इन कलात्मक आदर्शों से सम्बद्ध उनके परिष्कृत विमर्शों का साफ–साफ पता चलता है । सच तो यह है कि कलात्मक माध्यम स्वय लक्ष्य नही माध्यम मात्र होते हैं, जिनके द्वारा रचनाकार अपनी वातें पाठक तक पहुँचाता है । ऐसा रचनाकार युग को बुनियादी समस्याओं को उठाता एवं अपेक्षित समाजान से पहले उसे जनमानस के बीच उभाड़ कर विचारजीय प्रश्न के रूप में उपस्थित करता और तब कहीं–कहीं उसका स्वयं समाधान देता और कहीं–कहीं पाठक पर समाधान के सम्बन्ध प्रश्न छोड़ता है । मुन्शी प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में तत्कालीन दशक त्रय के व्याप्त राष्ट्रीय, सामाजिक नैतिक एवं वैयक्तिक ज्वलन्त प्रश्नों को उभाड़ा एवं कहीं समाधान देने का प्रयत्न किया एवं कहीं पाठक पर छोड़ा । सेवासदन से गोदान तक सम्पूर्ण कथा-यात्रा में प्रेमचन्द की कोशिश रही कि पाठक अपने युग की समस्याओं को देखे परखे एवं राष्ट्रीय चरित्र निर्मात्र के लिए आगे वढ़े । इस रूप में उनका दृष्टिकोण कलात्मकता के मोह से हटकर उसकी लोक से सम्बद्ध उपादेयता के पक्ष में ही अधिक लगा । वास्तव में महान रचनाकार केवल कलात्मक कलावाजियों मात्र में रुचि न लेकर युग की अनिवार्य आवश्यकता एवं उपादेयता को भी ध्यान में रखता है । फलत: उसकी रचनाएँ विशेष रूप में उपयोगिता पर केन्द्रित हो जाती है । मुन्शो प्रेमचन्द को साहित्य से कम लगाव न था पर उन्हें सबसे अधिक लगाव अपने देश में वर्तमान एवं अनागत से था जिसे छोड़कर वे साहित्यिकता को भी बहुत महत्व देना पसन्द नहीं करते थे । कला हो या विज्ञान उनकी दृष्टि में वे मानव हित के लिए ही हैं । उनका वैशिष्ट्य स्वयं में मुख्य नहीं, मुख्य है उनकी मानव से सम्बद्ध श्रेयस्करता ।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में आई समस्याएँ तत्कालीन भारत के समाज की राष्ट्र-व्यापी समस्याएँ है, जो भारतीय संस्कृति की उपज रही हैं । समस्याओं का उद्घाटन इस वात का सबूत है कि रचनाकार का अन्तर समाजव्यापी इन विकृतियों के शिकार मध्यम एवं निम्न वर्ग की पीड़ा एवं घुटन से वह स्वयं कितना अभिभूत था । चाहे वह किसान; मजदूर समस्या हो या स्त्री; पुरुष, समाज; व्यक्ति, व्यक्ति एवं परिवार तथा व्यक्ति और राष्ट्र समस्या हो प्रत्येक स्तर पर वह रेशे-रेशे उद्धाटित करता है, जो भारतीय समाज को घुन की तरह चाल रहे हैं । पहले तो वह उनके सम्भावित समाधानों की ओर भी देखता है पर ज्यों-ज्यों चिन्ता गहरी होती जाती है, समाधानों से अलग वह केवल समस्याओं की गम्भीरता एवं मध्यम एवं निम्नवर्ग के दैन्य एवं अवसाद को अंकित करता एवं चारित्रिक पतन की पराकाष्ठा की ओर संकेत कर चुप हो जाता है । उनके कथा-साहित्य का यह गाम्भीर्य गोदान जैसे उपन्यासों एवं कफन और पूष की रात जैसी कहानियाँ में देखा जाता

है, जहाँ समस्याओं में अधिक-पीड़ा एवं पीड़ितों के चारित्रिक पतन की पराकाष्ठा पर लेखक के चिन्ता गम्भीर्य का स्वर पाठक से छिपा नहीं रहता है, क्योंकि वहाँ सेवा सदन एवं कायाकल्प का रचनाकार थका, हारा, पीड़ित, चिन्तित एवं व्यथित सा धम्म से धरती पकड़कर बैठता दीखता है। समस्याओं के समाधान से असमाधान तक की उसकी कथायात्रा पाठक की भी स्वयं की पीड़ा बन जाती है।

श्री प्रेमचन्द जिस युग से गुजर रहे थे उसके प्रवृत्तिगत-विस्तार का तकाजा उनकी प्रज्ञा की सूक्ष्मता से छिपा न रह गया था अर्थात् समाज एवं व्यक्ति के चरित्र का केन्द्र विन्दु धर्म से खिसक कर "अर्थ" पर पहुँचा था। व्यवहारों, विचारों एवं भावों की समस्त शृंखला इस अर्थ की धुरी पर घूमने लगी थी। पाश्चात्य बनियों के सम्पर्क का यह अचूक प्रभाव भारतीय जन-जीवन मे इस तरह घर करता जा रहा था कि भारतीय चेतना का विवेक धर्म परकता के स्थान पर अर्थ-विवेक से शासित होने लगा था। क्या देश, क्या समाज, क्या परिवार, क्या व्यक्तिगत सम्बन्ध परिकल्पनाएं एवं उनके आश्रित व्यवहार सभी कुछ इसके दायरे में आता जा रहा था। राष्ट्र में पाश्चात्य शासको के पिठ्ठू एक ओर अर्थ लोलुपता वश देश की स्थिर सम्पदा की सौदेबाजी में लगे थे। दूसरी ओर अर्थ के कारण देशी समाज दो विशेष वर्गों में साफ-साफ बँटा दिखाई दे रहा था।—शोषक और शोषित। एक जहाँ—शोषण एवं अन्याय पूर्वक धन अर्जित कर विलासिता के क्रोड में हिलकोरे लेने में रुचि ले रहा था, दूसरी ओर का समाज शोषित, पीड़ित, उपेक्षित त्रस्त, अभाव ग्रस्त, अशिक्षित, अनाश्रित, निराश और पतन शील—स्थितियों में पड़ा बिल-बिला रहा था। मुन्शी प्रेमचन्द को पहले वर्ग से—यदि दयावश सहानुभूति थी कि वे भी इस देश के वासी हैं इनकी प्रवृत्ति में सुधार होना ही चाहिए तो दूसरी ओर मध्यम एवं निम्न वर्ग के लोगों से इसलिए कि उनकी पीड़ा मुन्शी जी की स्वयं की पीड़ा थी। अर्थ की केन्द्रीयता ने समाज को ऐसे विन्दु पर ला दिया था कि स्थिति प्रतिपल विस्फोटक होने की अवस्था में थी। भारतीय परिवार—विशेष रूप से मध्यम एवं निम्न वर्ग इस अर्थ तन्त्र का सबसे सीधा शिकार बन रहा था, जिसके कारण भारतीय मनीषा की परिवार परिकल्पना का मूल सूत्र 'स्नेह सम्बन्ध और सह अस्तित्व की भावना" का मूलोच्छेद शुरू हो गया था। पुरानी पीढ़ी यदि उन सारी विषमताओं कुण्ठाओं और अन्याय को चुप-चाप सह रही थी तो नयी पीढ़ी नए सिरे से प्रतिरोध पर उतारू होने जा रही थी। विचारों का यह भेद गहराता जा रहा था। इस प्रकार वर्तमान समाज का लगातार अर्थ सापेक्ष चेतना से प्रेरित होकर चलने लगा था। अत एव उसमे उपजी अधिकांश – समस्याएं मूलतः अर्थ से सम्बद्ध समस्याएं थी। पूर्ववर्ती भारतीय समाज में धर्म के वाद ही अर्थ काम जैसे पुरुषार्थों का क्रम आता था। वर्तमान युग में यह क्रम विपर्यय न तो—अप्रत्याशित हुआ और न अप्रासंगिक ही। अपितु युगों से आती सामाजिक रूढ़ियों अन्धपरम्पराओं के साथ-साथ वर्तमान कालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था ने इसे इस तरह की स्थिति में ला खड़ा कर दिया था कि वाध्य होकर समाज अर्थ केन्द्रित हुआ और उसकी बुराइयों से बुरी तरह आक्रान्त भी। मुन्शी प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति को लक्ष्य किया और अपने कथा-साहित्य में इसे सहज रूप में प्रतिविम्बित किया।

प्रेमचन्द का कथा-साहित्य वास्तव में एक ऐसा दर्पण है, जहाँ तत्कालीन युगीन दर्शन, सामाजिक गति विधि वैयक्तिक प्रगति निगति के प्रायः सभी उतार चढ़ाव—सामने आए। इसके पीछे प्रेमचन्द का मूल भाव था युगीन यथार्थ को पूरी ईमानदारी के साथ अंकित करना। अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में उन्होंने समस्याओं के समाधान के प्रति—समाधान एवं आदर्श स्थापना का प्रयत्न अवश्य किया किन्तु ज्यों उन्हें यह आभास होने लगा कि आदर्शों का यथार्थ समस्याओं के समाधान से अब दूर का भी नाता नहीं बन पा रहा है, वे सीधे यथार्थ चित्रण पर उतरे और केवल वही कहा जिसकी परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करने के क्रम में परम आवश्यकता थी। इस प्रकार मुन्शी प्रेमचन्द की कथा-साहित्य यात्रा समस्याओं के समाधान से असमाधान तक देखी गई। इसका वास्तविक कारण था, समस्याओं का हद से गुजरना। जहाँ हर प्रकार की विषमताएं एवं कठिनाइयाँ मुँह बाये खड़ी है किसका-किसका समाधान किया जाय? जब कुए में ही भाँग पड़ी हो। यह वह बिन्दु होता है, जहाँ युग प्रवर्तक रचनाकार और विचारक यह सोचने को बाध्य होता है कि जब व्यवस्था की सारी चूलें ढीली हो चुकी हों, प्रत्येक अवयव में घुन लग चुके हों, आमूल चूल परिवर्तन क्यों न किया जाय। मुन्शी प्रेमचन्द की अन्तिम क्षणों की कृतियों में यह धारणा पक्की होती दीखती हैं।

अर्थ केन्द्रित वर्तमान भारतीय चेतना का स्वरूप अपने साहित्य में देकर मुन्शी प्रेमचन्द ने युग की प्रवृत्ति की ओर संकेत अवश्य किया फिर भी अपने देश की वर्तमान पीढ़ी को मिली अतीत की विरासत अर्थात् मानवीय महान् मूल्यों के प्रति उनमें अनास्था नहीं थी। अपने देश की महान आध्यात्मिक उपलब्धियों, उदात्तभावनाओं, महान विचारों के प्रति भी उनमें सम्मान का भाव अवश्य था, जिसे उन्होंने समय पर अपने कथा-साहित्य के पात्रों के माध्यम से सामने भी रक्खा। अतएव यह समझना भूल होगी कि वे युग के यथार्थ को प्रतिबिम्बित कर ही सन्तुष्ट थे। सच तो यह है कि वे भारतीय जन चेतना का विकास भारतीय परिवेश, परिस्थिति और पर्यावरण के संशोधन परिवर्तन द्वारा चाहते थे। इसके लिए वे न तो दूसरे देशों और संस्कृतियों द्वारा उधार ली गई व्यवस्था के पक्षपाती थे और न ऐसे अनुकरण के द्वारा अपने देश की समस्याओं के समाधान के प्रति आशान्वित ही। जैसे कि आजकल उनके साहित्य को सामने रखकर विमर्श प्रस्तुत किए जाते है अर्थात् वे मार्क्सवादी दृष्टि के थे। जिन्हें प्रेमचन्द के मानस कीं ठीक-ठीक जानकारी करनी हो वे उनके स्वप्नों के मुख्य स्थल गावों में पहुचें, जहाँ परिवर्तन या संशोधन उन गाँवों के अपने स्वरूप के भीतर ही होना वहाँ अपेक्षित है, फौजी शिकजो में बँधकर कोई परिवर्तन संशोधन उनका एकदम काम्य नहीं था।

मुंशी प्रेमचन्द के साहित्य में एक महान युग प्रवर्तक साहित्य स्रष्टा की वाणी थी, जो जन भावना को जन वाणी में मुखरित करती हुई साहित्य को मात्र कतिपय बोद्धाओं तक पहुँच कर विराम लेने एवं प्रशंसा प्राप्त करने के लिए न लिखी जाकर करोड़ों-करोड़ों देशवासियों की आस्थाओं आकांक्षाओं, पीड़ाओं एवं अमृत मानव मूल्यों की प्रायः कड़ियों को अभिव्यक्ति देकर विराम लेती है। उसमें अतीत की बहुत कुछ इतिहास जैसी सत्यता,

वर्तमान की बहुत कुछ यथार्थ जैसी मुखरता और अनागत के समाज एवं साहित्य के लिए बहुत दिशा निर्देश मिलेंगे। आज के कथात्मक मानदण्डों के अनुसार उसमें दुर्बलताएँ ढूढी जा सकती हैं, आज की एवं अनागत की मानसिकता में रहकर उसे अपने रुचिकर वादों में समेटने का प्रयत्न किया जा सकता है किन्तु सच यह है कि ऐसे महान् रचनाकारों की कृतियों का सत्य सूक्ष्म, व्यापक एवं हर स्थिति में जीवन्त होता है। उसे वादों में बाँध कर कलुषित नहीं किया जाना ही ठीक है। उससे प्रेरणाएँ ली जाएँ और अनागत की सुव्यवस्थित एवं जनकल्याणमयी कार्य व्यवस्थाओं में उसकी सहायता से सही दिशा में अग्रगमन किया जाय यही अधिक अच्छा है यही अधिक श्रेयष्कर है।

प्रेमचन्द : स्मृति के वातायन से

राय कृष्ण दास *

मैं प्रेमचन्द के लेखन से परिचित था। "सरस्वती" में उनकी कहानी, पंच-परमेश्वर छपी थी। वह प्रेमचन्द की तीन सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। शेष दो हैं, शतरंज के खिलाड़ी और कफ़न। मैं पंच-परमेश्वर से प्रभावित था। क्यों? शायद इसलिए कि उसमें उनका अपना निश्छल स्वभाव बड़े सुन्दर ढंग से झलकता है। वे बड़े अकृत्रिम आदमी थे, ईमानदार और मेहनती। उसी प्रकार जैसा परम्परागत भारतीय गृहस्थ होता है—कर्मठ और दृढ़ पर सहज। दुलारे लाल भार्गव के यहाँ उनकी हलकी सी झलक देखी तो मुझे उनके यही सब गुण छू गए। जिन लोगों ने प्रेमचन्द की उन्मुक्त ठहाकेदार हँसी सुनी है, वे उसके पारदर्शी स्तर को भूले न होंगे।

दुलारे लाल और प्रेमचन्द : दोनों दो विन्दुओं पर। दुलारे लाल को लोग साहित्यकारों का चौधरी मानते, उसी आसन पर स्थित होकर वे बाद में दुलारे सतसई के रचयिता थे, देव पुरस्कार से मंडित। प्रकाशक के रूप में उनकी ठीक वैसी ही ख्याति थी, जैसी उस समय हिन्दी के किसी भी बड़े प्रकाशक की हो सकती थी, बड़े-बड़े साहित्यकार जैसे प्रेमचन्द और निराला उनके प्रकाशन 'गंगा पुस्तक माला' के अपने लेखक थे। वे उनके लिए लेख-कर्म करते रहते। उस प्रकार स्थिति के सामने निरीह प्रेमचन्द। उन दिनों मैं लखनऊ में दुलारे लाल के यहाँ ही रुकता था। दुलारे लाल से मेरा परिचय मैथिलीशरण और गणेश शंकर विद्यार्थी द्वारा हुआ। फिर बहुत घनिष्टता हो गई, कुछ ही वर्षों में आपसी संबोधन 'आप' से 'तुम' हो गया।

प्रेमचन्द तो बनारस (लमही) के ही रहने वाले थे। मैं उनकी ख्याति से परिचित था। पर मेरा उनसे कोई ख़ास परिचय न था। उनसे मेरा बनारस में संपर्क नहीं हुआ था। 1918 के लगभग एक बार मैथिलीशरण आए। उन्होंने प्रेमचन्द से मिलने की इच्छा प्रकट की। हम लोग साथ ही प्रेमचन्द के यहाँ गए। उन दिनों वे स्थानीय छोटी पिसनहरिया मुहल्ले की एक गली में रहते थे। उधर मैं उन दिनों अपने बग़ीचे, हेस्टिंग्ज़ हाउस में रहता था। संयोग की बात, ठीक उसी समय वे मैथिलीशरण से मिलने हेस्टिंग्ज़ हाउस गए थे। मिलना न हुआ, इतना ही नहीं, यह क्रम दो-तीन बार चला। फिर मुलाक़ात हुई।

प्रेमचन्द से मेरा बहुत अधिक मिलना जुलना न था। प्रायः वे प्रसाद जी के साथ आते। थोड़ी देर गपशप के बाद दोनों व्यक्ति चले जाते। बस इतना ही था।

मैथिलीशरण, दूसरी बार प्रेमचन्द्र से मिलने क्यों गए? क्या वे प्रेमचन्द का लोहा मानते थे? शायद यह कहना इतिहास के परे होगा। प्रेमचन्द्र की क़लम से तो कभी क़ायल न थे। कभी प्रेमचन्द की उनसे चर्चा भी न हुई। प्रेमचन्द ने अपने आपको बाहुबल से हिन्दी संसार में प्रतिष्ठित कर लिया था, किसी की बैंकिंग से नहीं अपनी कर्मठता से। हिन्दी में उस समय वे सबसे बड़े किस्सागो थे, असंदिग्ध रूप से सबसे बड़े किस्सागो।

---

* भूतपूर्व संस्थापक निदेशक भारत कला भवन
का० हि० वि० वि०

यहाँ फिर उनकी ठेठ और खुरदुरी ईमानदारी की दाद देनी होगी। वे उस समाज का चित्रण कर रहे थे, जिसमें वे जीते थे। इसके चित्रण के लिए उन्हें न किसी साहित्य शास्त्र का अध्ययन करना था, न किसी रीति या अलंकार शास्त्र का। वे आम आदमी की बात आम आदमी के लिए लिख रहे थे। उन्होंने अपने ऊपर कोई राजनीतिक-वाद ओढ़ा न था। गांधीवाद उनकी अपनी निजी चीज़ थी। अतएव वह बड़े सहज ढंग से प्रतिविंबित होती। पाठक वर्ग ऐसी ही चीज़ चाहता था। यह प्रेमचन्द ही दे सकते थे।

क़िस्सागो के सिर्फ किस्सागो के रूप में शायद देवकीनंदन खत्री प्रेमचन्द से भी बढ़ चढ़कर थे। उनके उपन्यासों में विशेष रूप से चंद्रकांता (चार भाग) में कथा प्रवाह संसार के बड़े से बड़े लेखक के कथा प्रवाह का टक्कर ले सकता है। परन्तु उसका ज़माना बीत चुका था। प्रेमचन्द हिन्दी कथा साहित्य को किसी भी प्रकार के रूमानी वातावरण से निकाल कर वास्तविक जीवन के धरातल पर लाने में सक्षम थे। स्वयं मुझ में उनके बड़े-बड़े उपन्यासों को पूरा पढ़ सकने का धैर्य न था। मैं उनसे और भी अधिक कसावदार लेखन की अपेक्षा करता था। परन्तु मेरी छोटी बहन मुझे उनके उर्दू उपन्यास प्रेमा का हिन्दी अनुवाद पढ़कर सुनाती और हम दोनों उसके अंशों पर रोते जाते।

प्रेमचन्द ने हिन्दी गद्य को भी बहुत अच्छी तरह समझा था वैसा उस काल में बहुत कम लोग समझ सकते थे। इसका कारण मैं उनकी उर्दू पृष्ठभूमि को मानता हूँ। उर्दू के शब्द विन्यास के वे माहिर थे। पर तारीफ़ यह है कि उनकी हिन्दी पर उर्दू का दबाव न था वह स्वच्छन्द भाषा थी। मुहावरे ज्ञान में भी वे सिद्धहस्त थे। भाषा पर उनकी पकड़ थी, पर वे अपनी इस क्षमता का दुरुपयोग नहीं करते। उससे वे भाषा का चमत्कार न दिखाते, जैसे कुछ आधुनिक लेखनों में भी मिलता है।

मैथिलीशरण के साथ प्रेमचन्द से मैं मिला, पर प्रेमचन्द से मेरा मिलना उतना न हुआ, जितना होना चाहिए था। वे "सभा" (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) के कार्यक्रमों में भाग न लेते। "सभा" हम लोगों के मिलने जुलने का एक केन्द्र था। शायद प्रेमचन्द कुछ शर्मीले भी थे। पर यह शर्मीलापन आरोपित न था। यह उनका सहज स्वभाव था, कुंठाग्रस्त न था। इस प्रकार प्रेमचन्द अपनी दुनिया में मस्त थे, बाहर की साहित्यिक दुनिया से निश्चिन्त। मेरा कुछ यह भी विचार है कि उन्हें अपने लेखन कार्य से छुट्टी ही न मिलती कि वे बहुत मिलना जुलना कर सकें या सभा सोसायटियों में जा सकें। जयशंकर (प्रसाद) की दुकान पर साहित्यिक जमघट होती। बनारस के सभी साहित्यकार उसमें जुटते। पर प्रेमचन्द कभी दिखाई न पड़े। इतना ही नहीं, बनारस के साहित्यिक वातावरण में प्रेमचन्द की कोई कृति चर्चा का विषय होती हो इसका भी विशेष ध्यान नहीं आता। क्योंकि वे उपर्युक्त किसी भी एक धारा में फिट नहीं होते थे।

फिर भी बनारस क्या, समूचे हिन्दी जगत में उनका निर्विवाद स्थान था। वे हमारे "उपन्यास सम्राट" थे। व्यक्तिगत रूप से उनकी हम सब से समान रूप से मैत्री थी। जयशंकर के साथ तो वे नित्य प्रातः स्थानीय बेनिया बाग में टहलते। साथ में कुछ और साहित्यिक भी विशेष रूप में ब्रेढ़व जी (श्री कृष्ण देव प्रसाद गौड़) होते। मेरी कुटिया पर प्रेमचन्द

कभी-कभी पधारते, प्रसाद के ही साथ। वे आकर सीधे बड़ी तकिया के सहारे बैठ जाते। उनकी बातें कम सुनने को मिलती, पर अकसर अट्टहास लेते, उन्मुक्त अट्टहास। वह आज तक कानों में गूँजता है।

उनका गाँव मेरे चचेरे भाई राय कृष्ण जी की जमीदारी में था। उन्होंने उस कुल का कई बार अपनी कृतियों में उल्लेख भी किया है परिवेश के रूप में। कहीं उन्होंने लिखा है "पांडेपुर के बिगड़े रईस।" यहाँ विलासिता में पड़े तथा पैसे से टूटे दोनों ही भाव हैं।

उन दिनों हिन्दी लेखकों पर अन्य भाषाओं के लेखन का बहुत प्रभाव था। कुछ लेखकों के विषय में आम शिकायत थी कि वे बंगला (या अन्य भारतीय भाषाओं) अथवा अंग्रेज़ी के कृतित्व को ज्यों का त्यों आत्मसात कर लेते हैं। प्रेमचन्द अंग्रेज़ी उपन्यास, कहानी से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। मैंने उनके यहाँ अंग्रेज़ी उपन्यास कहानियों का एक एडिशन (ग्रंथावली) देखा भी था। वे स्वयं कहते कि मैं अंग्रेज़ी कथा साहित्य खूब पढ़ता हूँ क्योंकि इससे मुझे इंस्पिरेशन होता है। परन्तु आश्चर्य है कि उनका लेखन इन सभी प्रभावों से पूर्ण रूप से मुक्त था।

प्रेमचन्द बड़े खुले जी के आदमी थे। एक बार उन्होंने मुझ से कहा: ' मैं अंग्रेज़ी स्टोरीज़ पढ़ता हूँ और खूब पढ़ता हूँ। जितनी मिलती है उतनी पढ़ता हूँ इससे मुझे नाना भाव मिलते हैं।"

उन दिनों साहित्यिक विवाद खूब चला करते। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी की एक एक चूल दुरुस्त रखते थे पर न जाने किसी झोंक में भाषा की अनस्थिरता (अस्थिरता नहीं) लिख डाला। प्रसिद्ध लेखक बाल मुकुन्द गुप्त ने "आत्मा राम" के छद्म नाम से उस पर प्रहार किया। द्विवेदी जी ने तुलसीदास के अनहित (आहत नहीं) आदि उदाहरण दिये। (हित अनहित पसु पच्छिहु जाना)। यह विवाद चल पड़ा। द्विवेदी जी ने उक्त "आत्मा-राम" पर प्रहार किया: "आत्मा राम की टें-टें"। देव विहारी को लेकर भी खूब चर्चा रही। देव के प्रशंसक मिश्र बन्धु थे तो विहारी के पद्म सिंह शर्मा। इसी प्रकार हिन्दी के विद्वान हेमचन्द जोशी ने प्रेमचन्द पर यह आरोप लगाया कि उनकी कोई रचना पर अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध उपन्यास "वैनिटी फेयर" की छाया है। यह निर्मूल था। पर कुछ समय तक दोनों ओर से पक्ष–विपक्ष में लेख निकलते रहे। जहाँ तक स्मरण आता है स्वयं प्रेमचन्द ने विशेष सफ़ाई न दी पर उनके प्रशंसक लिखते रहे। हेमचन्द जोशी अपने पक्ष को प्रति-पादित न कर सके।

समाज ने शायद प्रेमचन्द के साथ अच्छा सलूक न किया। घर हो या बाहर वे प्रहार सहते ही रहे। पर उन्होंने इसे बड़ी बहादुरी से सहा कभी उफ़ तक न की। ऊपर से अभाव ही अभाव। यह बात पक्की है कि लेखन उनकी रोज़ी थी। पर यह मानना नितान्त अनैतिहासिक होगा कि वे समय के लिये लिखते थे। उस काल में अधिकांश साहित्यिक स्वांतः सुखाय लिखते, जो छपाते वे यह मानकर चलते कि पैसे वापस मिल जाँय तो मिल जाँय। अपवादों को छोड़ कर हिंदी लेख–प्रकाशन की यही सामान्य स्थिति थी। प्रेमचंद उससे तनिक ही अच्छे थे। उनकी रचनायें हिंदी पाठक को रुचिकर लगतीं अतः उनकी

विक्री सामान्य थी। परन्तु विक्री की दृष्टि से मैथिलीशरण के खंड काव्यों जैसी लोकप्रियता न थी। अतः प्रेमचंद का प्रकाशन व्यवसाय कभी नाम का सौदा हो ही नहीं सकता था। वे उसे किसी तरह जिलाये भी रहते। उनकी बात सीधी सादी थी, उनकी अभिव्यक्ति में बनावट का नाम न था। शायद उसका खुरदरापन भी एक आकर्षण था।

प्रकाशन में उन्हें एक अद्भुत सहायक मिल गए। सौभाग्यवश वे हमारे बीच वर्तमान हैं, सुना है कि इलहाबाद के किसी अज्ञात कोने में पड़े हैं ये हैं प्रवासी लाल वर्मा मालवीय। उनके पास प्रेमचन्द के सैकड़ों बहुमूल्य संस्मरण होंगे। इतना ही प्रायः 1925 से 1935 तक के हिन्दी आन्दोलन के वे जीते जागते विश्वकोष हैं। मैंने कई लोगों से अनुरोध किया कि उनकी सामग्री को लिख डालिये, उनके साथ कितनी ही निधियाँ चली जायेंगी। हम हिन्दी वाले ऐसे कृत्घ्न हैं कि उन जैसे व्यक्ति को बिलकुल भुला बैठे हैं।

प्रवासी लाल जी काम काज की तलाश में बनारस आये। वे प्रेमचन्द के सहायक नियुक्त हुए। प्रेमचन्द के प्रकाशन सरस्वती प्रेस के निर्माण में उनका बहुत बड़ा हाथ था। इतनी ही नहीं, उस समय प्रवासी लाल जी ने सरस्वती प्रेस के माध्यम से हिन्दी प्रकाशन छपाई साज सज्जा आदि को नये मानदंड दिये। उनका प्रत्येक प्रकाशन उत्तरोत्तर विशिष्टता की ओर बढ़ता गया। "हंस", "जागरण" आदि के लिये साप्ताहिक सामग्री एकत्र करना प्रवासी लाल जी का ही काम था। इस प्रसंग में वे नियमित रूप से मुझे भी दर्शन देते रहते। एक तरह से प्रेमचन्द और मेरे बीच की वे कड़ी थे।

प्रेमचन्द और प्रवासी लाल जी के आग्रह पर मैंने हंस में "अतीत" नाम से अपने संस्मरण धारावाहिक रूप में देना प्रारम्भ किया। इसके कुछ अंक प्रकाशित हुए। मैं सदैव से आरम्भ शूर। कुछ अंकों के बाद मैं किसी और काम में लग गया। वह रुक गया, मुझे इससे विशेष खेद न हुआ। उसके लेखन में एक त्रुटि थी। उसमें "मैं" की प्रधानता थी जिसे मैं संस्मरण लेखन का बहुत बड़ा दोष मानता हूँ। पर हंस ने संस्मरण अंक ही निकाला। उसमें "प्रसाधिका की प्राप्ति" नामक मेरा संस्मरण छपा। उसके मुखपृष्ठ पर प्रसाद जी की मार्मिक कविता थी।

कालान्तर में प्रेमचन्द्र ने "जागरण" (साप्ताहिक) निकाला। वस्तुतः इसमें प्रसाद जी की ही प्रेरणा थी। जहाँ तक स्मरण आता है, विनोद शंकर व्यास इसके संपादक थे। प्रेमचन्द बहुत अच्छी टिप्पणियाँ लिखते। ग्रन्थों की समीक्षा भी प्रायः वे ही करते। सदा की भाँति प्रवासी लाल जी दौड़ धूप कर अन्य सामग्री जुटाते। प्रेमचन्द के आग्रह पर मैंने उसमे अपना अधूरा उपन्यास "शैवालनी" प्रकाशनार्थ दिया। वह धारावाहिक रूप में चला। पर वह भी बीच-बीच में रुका। मैं आगे के खंड न दे सका। प्रेमचन्द का आग्रह था कि वह चलता रहे। उन्होंने मुझे एक पत्र भेजा आशय था "वह अच्छा तो था बन्द क्यों कर दिया।" पत्र अब कला-भवन संग्रह में है।

बनारस में शान्तिप्रिय द्विवेदी नामक एक अद्भुत साहित्यिक थे। जयशंकर ने उन्हें मेरे यहाँ रख दिया था। घर पर ही रहते, साथ खाते पीते। उस समय से ले कर अन्त तक हिन्दी साहित्यिक जगत को शांतिप्रिय के विवाह कराने की बड़ी चिन्ता थी। पर वे रहे

चिर कुमार ही। काशी में एक सुप्रसिद्ध चित्रकार थे। वे स्वयं ब्राह्मण थे और उनकी पत्नी भी ब्राह्मण कुल की थीं पर लोक में तथाकथित था कि उनका शास्त्रीय रीति से विवाह न हुआ था। अस्तु, कुछ मित्रों ने उनकी कन्या से शान्तिप्रिय का विवाह ठीक कराया। सब बातें तय हो गईं समस्या यह थी कि शान्तिप्रिय की ओर से खर्चे का प्रबन्ध कैसे हो, अथवा आगे गृहस्थी चलाने के लिये पूंजी की क्या व्यवस्था हो। विचार यह हुआ कि दस साहित्यिक मित्र एक-एक सौ रूपये चन्दे में दें। जयशंकर, प्रेमचन्द और मैं ये तीन तो पक्के हो गये थे। ऐसा याद आता है कि शेष सात व्यक्ति भी हो गये थे।

इस मामले में काफ़ी समय लग गया। एक दिन हम सभी लोग जयशंकर की दुकान पर बैठे थे, शान्तिप्रिय भी थे। सहसा प्रेमचंद ने एक ऐसा प्रश्न किया कि सभी लोट-पोट हो गये। वह वर्षों तक चर्चा का विषय रहा। उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा, "इनसे यह तो पूछिये कि क्या इनकी कमर में ताकत है?" इसके तीन अर्थ हो सकते हैं जिनमें दो अवान्तर इस प्रकार हैं: क्या इनके पास धन की व्यवस्था है, और क्या ये अपनी बिरादरी का सामना कर सकेंगे।

दुर्भाग्यवश शान्तिप्रिय का विवाह न हो सका। उनकी यह साध अतृप्त बनी रही। गड़बड़ी यों हुई: सब ठीक हो गया था। उन्होंने आचार्य केशव प्रसाद मिश्र से सलाह ली। केशव जी कभी-कभी बड़े रूढिवादी हो जाते। उन्होंने कहा "भला अपनी जात दोगे।" जयशंकर, प्रेमचंद और मैंने शान्तिप्रिय को बहुत समझाया पर वे न माने। ब्याह टूट गया फिर वे वर्षों तक पछताते रहे। इस घटना से प्रेमचंद के प्रगतिवादी विचारों का पता चलता है।

हाल में एक सज्जन ने मुझसे पूछा:—क्या प्रेमचंद किसी राजनीतिक या साहित्यिक "वाद" से संबधित थे। क्या वे साम्यवादी विचारों से प्रभावित थे? मैं इन प्रश्नों के उत्तर देने का अधिकारी नहीं हूँ। मेरी समझ में वे किसी "वाद" से सम्वद्ध न थे। उनमें सहज राष्ट्रीय भावना थी जो गाँधीवादी विचार धारा के निकट थी। उनके पास जैनेन्द्र कुमार भी रहते। पर उस समय जैनेन्द्र युवक थे वे प्रेमचंद को प्रभावित कर सकने की स्थिति में न थे। जयशंकर जैनेन्द्र का बड़ा सुन्दर चित्र खींचते "जैसे साधुओं के पीछे उनके चेले झोला लेकर चलते हैं, वैसे प्रेमचन्द के पीछे ये...........।" जैनेन्द्र और प्रेमचन्द में सन्निकटता थी, परन्तु किसी "वाद" के स्तर पर नहीं। जैनेन्द्र को प्रेमचन्द का आशीर्वाद प्राप्त था।

हम लोगों के परिवार में काफ़ी जायदादें स्थानीय विसेसरगंज मुहल्ले में अथवा आस-पास में थीं। वे विभिन्न शाखाओं में बँट गईं। मेरे हिस्से में एक अस्तबल आया जो वृद्धकाल मुहल्ले में था। 1930 या उससे कुछ पहले से ही उसे प्रेमचन्द ने किराये पर ले लिया। उसमें उन्होंने अपना "सरस्वती प्रेस" बैठाया। संयोगवश उसे लेकर एक विवाद भी हो गया। उस अस्तवल में म्युनिसपैलिटी की पानी की टोंटी लगी थी। कुछ समय बाद म्युनिसपैलिटी ने उस पर मीटर लगा दिया। मीटर के कारण पानी का अतिरिक्त बिल आने लगा। मेरा पक्ष था कि यह अतिरिक्त बिल "सरस्वती प्रेस" को देना चाहिये, प्रेमचन्द का पक्ष था कि पानी का खर्च किराये में शामिल है। दुर्भाग्यवश यह मतभेद

बढ़ता गया। शायद यही कारण था कि उनके कार्यकर्त्ता और मेरे कार्यकर्त्ता आपस में गुत्थी बढ़ाते जाते थे। इसका यह दुष्परिणाम हुआ कि मामला अदालत में चला गया। थोड़े दिनों में कोई हल निकल आया, वह क्या था यह ठीक-ठीक याद नहीं। पर उस समाज में इन सब बातों को लेकर आपसी मनोमालिन्य न होता। प्रेमचन्द और मेरे बीच वैसा ही सम्बन्ध बना रहा।

वृद्धकाल पर उनका प्रेस स्थानीय काशी नागरी प्रचारिणी सभा के निकट ही था। उन दिनों दोपहर के अवकाश के समय में वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा भवन में आ जाया करते। वहाँ प्रसाद जी होते मैं होता ही, अच्छी गपशप होती।

प्रेमचन्द अपने प्रकाशन को लेकर संघर्ष करते थे। अपने कर्मचारियों के विषय में प्रायः कहते "मुझे इतने मुंह (लोगों) के लिये भोजन जुटाना है।" परन्तु परिस्थिति हाथ के बाहर ही होती जाती थी। मैं भी कुछ वर्षों से "भारती भंडार" नामक प्रकाशन चला रहा था। इसमें जयशंकर प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी की रचनायें छपी थीं, अन्य साहित्यकार बन्धुओं ने भी सहयोग दिया था। "भारती भंडार" एक अन्यतम प्रकाशन था। उस समय प्रायः प्रकाशकगण बहुत स्वल्प में लेखकों के कापीराइट प्राप्त कर लिया करते। मैंने लेखकों को पूरे पच्चीस प्रतिशत रायल्टी की व्यवस्था रखी थी। यह हिन्दी प्रकाशन के क्षेत्र में एक क्रांति ही थी। आज भी कोई प्रकाशक पच्चीस प्रतिशत रायल्टी देने की स्थिति में नहीं है। वर्षों तक संघर्ष करने के बाद मैं इस आर्थिक स्थिति में न था कि उसे चला सकता। बाद में तो मैंने उसे "लीडर प्रेस" इलाहाबाद के हाथ सशर्त बेच दिया, पर उन दिनों वह लीडर प्रेस के पास केवल व्यवस्था के लिये था। "भारती भंडार" के जन्म से ले कर उसकी बिक्री तक सभी कार्य जयशंकर की सलाह से होते।

प्रेमचन्द की यह स्थिति देख जयशंकर ने एक योजना बनायी—उसमें उन्होंने एक और प्रकाशक-साहित्यिक को भी सम्मिलित किया था, अब उनका नाम ध्यान में नहीं आ रहा है। प्रस्ताव यह था कि ये तीन प्रकाशन एक में मिला दिये जाँय, और एक नया प्रकाशन खोला जाय। जहाँ तक स्मरण आता है, उसका नाम "साहित्य संघ" अथवा "साहित्यिक संघ" होने वाला था। यह योजना हम लोगों के मन में महीनों से पक रही थी। मुख्यतः जयशंकर और प्रेमचन्द का ही विचार विमर्श चल रहा था। मैं तो जयशंकर के साथ था। वे जो भी तय कर देते वह मुझे स्वीकार्य था। अन्त में प्रेमचन्द पूरे हृदय से इस योजना से सहमत हो गये। बात काफ़ी आगे बढ़ गई। पर एक दिन सहसा प्रेमचन्द और जयशंकर आये। प्रेमचन्द ने वह योजना समाप्त कर दी थी। उन्हें और कोई आपत्ति न थी, पर उनका मानवीय पक्ष इसे स्वीकार न कर सका। उन्होंने कहा, "यदि यह योजना स्वीकार हुई तो इतने लोग जो यहाँ काम में लगे हैं, वे बेकार हो जायेंगे फिर जैसे ये दोनों लड़के बढ़ रहे हैं इनके लिये भी कुछ काम चाहिये।" क्यों कि तब यह काम "भारती भंडार की भाँति लीडर प्रेस के व्यवस्थापन में इलाहाबाद से होता।

———

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में दाम्पत्य : एक परिदृश्य

डॉ० सरला शुक्ल *

प्रेमचन्द के पूर्व जो उपन्यास परम्परा थी उससे प्रेमचन्द सन्तुष्ट नहीं थे। पूर्व रचित उपन्यासों में रंजक तत्व अधिक थे अतः उन्हे रम्याख्यान कहा जा सकता है। उनमें गठित शिल्प, निश्चित जीवन दृष्टि तथा सामाजिक परिवर्तन की चेतना लुप्त थी। श्रद्धाराम फुल्लौरी, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि उपन्यासकारों के विचारों पर आर्यसमाजी आन्दोलन का प्रभाव था किन्तु युगानुकूल परिवर्तनवादी एवं सुधारवादी चेतना का अभाव था। इस कमी को प्रेमचन्द ने आदर्शवादी, सुधारवादी तथा द्विवेदी युगीन नव जागरणवादी प्रवृत्तियों को ग्रहण करते हुए अपने उपन्यासों के द्वारा पूरा किया।

आज के द्रुतगामी जीवन की मुख्य समस्या दाम्पत्य जीवन है। आर्थिक क्षेत्र में समानता, पति-पत्नी के प्राचीन वैवाहिक मूल्यों को तोड़ रही है। दाम्पत्य जीवन की दृष्टि से एक क्रान्ति की स्थिति प्रेमचन्द काल में आई थी, जब नारी ने घर से बाहर अपना कदम निकाला था और वह स्वत्व के लिए संघर्ष करने को तैयार थी। दूसरी क्रान्ति की स्थिति आज है जब कि नारी पुरुष के समकक्ष खड़ी है और वह रूढ़िगत वैवाहिक मान्यताओं को अस्वीकार कर रही है।

विवाह विधान में बँधने के पश्चात् ही स्त्री-पुरुष दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते हैं, विवाह का लक्ष्य भारतीय प्राचीन मनीषी मोक्ष की प्राप्ति मानता है। विवाहित जीवन में भोग को स्वीकार करते हुए भी वह काम की प्रबलता को स्वीकार नहीं करता है। काम का लक्ष्य पुत्र प्राप्ति है और पुत्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

भारतीय विचारक विवाह को अस्थायी सम्बन्ध नहीं मानते वरन् वे वैवाहिक जीवन की पूर्णता पर बल देते हैं। पूर्णता से उनका अभिप्राय यही होता है कि पति-पत्नी इस जीवन में एक दूसरे को सहयोग दें, साथ रहें तथा धार्मिक कृत्यों को करते हुए मोक्ष प्राप्त करें।

विवाह के सम्बन्ध में हिन्दी उपन्यासकारों के विचार यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। कहीं ये विचार उपन्यासकारों के द्वारा प्रकट किये गये हैं, कहीं उनके विचारों का प्रकटीकरण उनके उपन्यासों के पात्रों द्वारा होता है। प्रेमचन्द पति पत्नी के मध्य भावना की सच्चाई और ईमानदारी पर बल देते हुए आदर्शवादी दृष्टिकोण रखते जान पड़ते हैं। प्रेमचन्द की जीवन दृष्टि मूलतः नैतिक थी। इसी नैतिक दृष्टि से प्रेमचन्द ने अपने युग की गति विधि को परखा है। प्रेमचन्द के साहित्य में नारी चरित्र की मूल अवधारणा इसी नैतिक दृष्टि की उपज है। उन्होंने अपनी 150 कहानियों में और लगभग सभी उपन्यासों में दाम्पत्य जीवन के अन्तर्गत नारी की हीन स्थिति का चित्रण किया है। वे उन सभी कुप्रथाओं की भर्त्सना

---

* अध्यक्ष हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

करते हैं जिनके कारण स्त्री जाति दुखी है। पुरुष की तुलना में प्रेमचन्द नारी को श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि उसमें उच्चकोटि के आध्यात्मिक गुण हैं, वह त्याग की मूर्ति है उसका प्रेम निस्वार्थ है। नारी चरित्र में सहनशीलता के साथ उन्होंने निर्भीकता तथा न्यायप्रियता का भी चित्रण किया है, वे नारी को मात्र सेबिका या विलासिता की वस्तु नहीं मानते।

प्रत्येक युग का तथा प्रत्येक स्थान का विचारक विवाह को स्त्रीपुरुष की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन तथा समाज को स्वस्थ नयी पीढ़ी देने का साधन मानता है। भारतीय मनीषी विवाह द्वारा मोक्ष प्राप्ति की कल्पना भी करता है यह भारतीय दृष्टि की मौलिकता है।

प्रेमचन्द ने मुख्य रूप से दो प्रणालियों का चित्रण किया है। अभिभावकों द्वारा किये गए विवाह तथा प्रेम विवाह। उन्होंने बाल विवाह अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, जातीय विवाह तथा अन्तः धार्मिक विवाह की समस्या उभारा है साथ ही उनके द्वारा किये गए चित्रणों से यह स्पष्ट होता है कि कथाकार विवाह के विषय में समयानुसार बदलती हुई धारणाओं के प्रति सजग रहा है। प्राचीन वैवाहिक रूढ़ियों को कथाकार उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर है परन्तु प्राचीन वैवाहिक आदर्श को वह नहीं छोड़ना चाहता है। समाज में अत्यल्प प्रचलित बलपूर्वक किए गए विवाह का चित्रण भी उन्होंने किया है। अन्तर्जातीय तथा अन्तः धार्मिक विवाह की भूमिका कई उपन्यासों में चर्चित हुई है किन्तु अन्तः धार्मिक विवाह कहीं भी सम्पन्न नहीं हुआ है।

अनमेल विवाह एक सामाजिक समस्या है, जिसे प्रत्येक काल के उपन्यासकारों ने उठाया है। अनमेल विवाह का प्रथम स्तर आयु है। प्रेमचन्द ने निर्मला उपन्यास में आयु की समस्या को प्रमुखता दी है। आयु का अन्तर पति पत्नी की दाम्पत्य भावनाओं में अन्तर उत्पन्न कर देता है शारीरिक स्तर पर होने वाले अनमेल विवाहों में दाम्पत्य तुष्टि अभाव में उत्पन्न होने वाली विसंगतियों को ध्यान में रख कर चित्रित किया गया है। कन्या का साधारण स्तर से उठकर सम्पन्न घर में आना, जिसका उदाहरण 'गोदान' की रूपा है। आर्थिक दृष्टि से अनमेल विवाह की समस्या वहीं अधिक जटिल होती है जहाँ कन्या सम्पन्न घर से दरिद्र घर में आती है। शिक्षा के स्तर पर होने वाले अनमेल विवाह की समस्या आज के परिवेश में, जबकि नारी शिक्षा का तीव्रता से प्रचार हो रहा है, अपने आप में महत्वपूर्ण है। आयु, शरीर, धन तथा शिक्षा के अतिरिक्त उपन्यासों में प्रकृति के स्तर पर होने वाले अनमेल विवाहों का चित्रण भी हुआ है। प्रकृति वैषम्य के कारण दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न होने वाले बिखराव को भी प्रेमचन्द ने उपन्यासों में विशेष महत्व दिया है।

विवाह के पश्चात् भारतीय परिवार में मात्र पति पत्नी ही नहीं होते हैं बच्चे, भाई-बहन, माता-पिता सभी होते हैं। आधुनिक व्यक्तिपरक जीवन प्रणाली का प्रचलन होते हुये भी संयुक्त परिवार की प्रथा का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है।

सन्तान के कारण माता पिता के सम्बन्धों में व्यवधान उत्पन्न होता है अथवा बहु-सन्तान उनके विशेष रूप से माता के विकास में बाधक होती है, इस तथ्य पर स्वतन्त्रता से पूर्व कथाकारों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। इसका एक कारण बहुपत्नीत्व भी था। दूसरा कारण था कि पत्नी सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंशवृद्धि का साधन मात्र मानी जाती थी।

सन्तान हीनता दाम्पत्य जीवन के लिए अभिशाप है। सन्तानहीनता के कारण सम्पन्न होने वाले बहु विवाह, तदाश्रित गृह कलह, विक्षोभ और जीवन से विरक्ति का सजीव चित्रण कायाकल्प' और 'सेवा सदन 'उपन्यासों में प्राप्त होता है। सौतेली सन्तान पति-पत्नी के जीवन की एक समस्या बन जाती है। 'निर्मला 'उपन्यास में माता का सौतेले पुत्र के प्रति स्वाभाविक प्रेम भी शंका का कारण बन जाता है।

परिवार के अतिरिक्त पति पत्नी का समाज के प्रति भी कुछ उत्तरदायित्व होता है। सामाजिक क्षेत्र में महिलाओं के आने से उनके, उनके परिवार और अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्मुख जो समस्याएँ आईं, उस ओर भी प्रेमचन्द का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। स्त्री पुरुष के विचार स्वतन्त्रता ने सबसे अधिक दाम्पत्य जीवन को प्रभावित किया है। प्रेमचन्द अनमेल, विवाह, पति के अविश्वास, सन्देह और सामाजिक अनादर जैसी समस्याओं से संघर्षरत स्त्री के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं किन्तु उसे पुरुष की समकक्षता नहीं प्रदान कर पाते और न ही उसे पुरुष निर्भरता से पूरी तरह मुक्त होकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हुये चित्रित करते हैं। उनके श्रेष्ठ उपन्यास गोदान से भी यह धारणा पुष्ट होती है। वे नारी जगत जाति के प्रति विशेष सहानुभूति रखते हैं। उनकी स्वतन्त्रता के भी पक्षधर हैं, किन्तु पुरुष की समकक्षता से घबराते हैं। पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण पर स्वतन्त्र जीवी नारी तथा परम्परागत मूल्यों मे जीवन यापन करती हुई नारी चरित्र को समानान्तर चित्रित करते हुये वे परम्परावादी नारी को ही श्रेष्ठ मानते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में समाज सेवा तथा राष्ट्रीय भावना का सात्विक रूप प्राप्त होता है। सेवा तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने वाले दम्पत्ति के विचारों में कथाकारों ने कहीं साद्दश्यता दिखाई है और कहीं असादृश्यता का चित्रण किया है। विचार वैभिन्न्य की स्थिति में अधिकतर दाम्पत्य जीवन के तनावपूर्ण चित्रण ही किये हैं। पत्नी के सन्दर्भ में बदलते हुए युवक पति के भावों का चित्रण भी वे करते हैं। 'कायाकल्प के चक्रधर और प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर अनुभव करते हैं कि यदि उनकी पत्नियाँ भी सामाजिक कार्य में सहयोग देतीं तो उनका कार्य सुचारु रूप से चलता। विचार स्वातन्त्र्य के क्षेत्र में पति का पत्नी के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण प्राप्त होता है। पति चाहता है कि पत्नी समाज सेवा में, पति के सिद्धान्तों को चरितार्थ करने में सहायता करे, परन्तु पत्नी का स्वतन्त्र विकसित होता हुआ व्यक्तित्व वह सहन नहीं कर पाता है।

पत्नियाँ घर से बाहर निकल कर स्वतन्त्र रूप से आन्दोलनों में भाग लेती थीं, जेल जाती थीं, सभाओं का सभापतित्व भी ग्रहण करती थीं। देश में एक व्यापक क्रान्ति की स्थिति थी और उस क्रान्ति में स्त्रियाँ भी सहयोग दे रही थीं, चाहे वह हिन्सात्मक क्रान्ति हो अथवा अहिन्सात्मक क्रान्ति हो। जहाँ उन्होंने पत्नियों को पति की अनुगता दिखाया है वहाँ दाम्पत्य जीवन सुखी दिखाया है और जहाँ पत्नियों को स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते हुए दिखाया है वहाँ दाम्पत्य जीवन का उखड़ापन उभर कर सामने आ गया है। प्रेमचन्द का मुख्य उद्देश्य, सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना था। उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में मानसिक संघर्ष की अपेक्षा वाह्य संघर्ष 'को अधिक

चित्रित किया है। यही कारण है कि मानसिक विश्लेषण कभी विशुद्ध आदर्शोन्मुखी हो गया है, कभी यथार्थ होते हुए भी उसे आदर्श की ओर मोड़ दिया गया है। पति पत्नी के ईर्ष्या, शका, क्रोध आदि भावों से उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द का चित्रण अवश्य हुआ है परन्तु वे भाव शीघ्र ही श्रद्धा, क्षमा, पश्चाताप, आदि उदात्त भावों में परिणत होकर पात्रों को उनके संस्कारों से अलग नहीं हटने देते हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यास में पारम्परिक पतिव्रता पत्नियों के चित्रण का बाहुल्य है। आदर्श की ओर उन्मुख प्रेमचन्द कहीं परिस्थितियों में पड़ी हुई पत्नी को पतित होते हुए चित्रित कर भी गये हैं; तो पतन की चरमसीमा पर पहुँचने से पहले ही पत्नी को बचा कर चरित्र की कसौटी पर खरा उतार देते हैं। 'गोदान' की सिलिया, गोविन्दी, और धनियाँ 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा, विद्यावती, 'पतिव्रता पत्नियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

पुरुषों की एक पत्नीव्रता की भावना को कभी स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है और कभी लगता है कि उपन्यासकार पति के चारित्रिक एखलन को बचा गया है, जिससे एक पत्नीव्रत आरोपित लगने लगता है। 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर, ऐसा पति है जो अपनी पत्नी के प्रति पूर्णरुपेण समर्पित है। पत्नियाँ ही उनके जीवन का केन्द्र हैं।

पुरुष के अनैतिक पक्ष को स्पष्ट करने वाले तीन मुख्य विन्दु उभरे हैं। पुरुष का मद्यपान, वैश्यागमन और विवाहेतर सम्बन्ध। वासनात्मक प्रवृत्तियों के साथ ही कथाकारों ने उन परिस्थितियों का चित्रण भी किया है; जिनके कारण पति अनैतिक जीवन की ओर उन्मुख होता है।, दाम्पत्य जीवन के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। भारतीय आदर्श पति, पत्नी के पृथक-पृथक 'हित स्वार्थों' को महत्व नहीं देता है। दाम्पत्य जीवन की पूर्णता व्यक्तित्व के एकान्तिक उत्थान में नहीं तद्रूप होने में है। भारतीय तद्रूपता के उत्कृष्ट उदाहरण 'प्रेमाश्रम', 'गोदान' 'आदि में प्राप्त होते हैं। सन्तान भारतीय दाम्पत्य जीवन का प्रयोजन ही नहीं, पति पत्नी के जीवन का एक अंग है। भारतीय जीवन में सन्तान और माता को अलग करने की कल्पना नहीं हो सकती है। इस आधार पर 'गोदान' की गोविन्दी' का चरित्र दृष्टव्य है। भारतीय परिवार के चौके का चित्रण भी दाम्पत्य जीवन में अनिवार्य है' भोजन परोसने का कार्य गृहिणी ही करती है। चौके में बैठ कर भोजन करने की परम्परा भी भारतीय है। जिसका सजीव चित्रण प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में है। शयन व्यवस्था का चित्रण करते समय भी प्रेमचन्द ने परिवार को अधिक महत्व दिया है। आमोद प्रमोद के चित्रण में व्रत त्योहारों का वर्णन है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में पति-पत्नी साथ-साथ भाग लेते हैं किन्तु पत्नी को सर्वत्र घर की मर्यादा से बँधा हुआ दिखाया गया है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण पति-पत्नी में समानाधिकार के भाव का चित्रण भी हुआ है। इसी प्रभाव के कारण सन्तान पालन में गवर्नेस की चर्चा भी यत्र-तत्र हुई है। पाश्चात्य संस्कृति का सर्वाधिक विकृत प्रभाव तब परिलक्षित होता है जब पति-पत्नी को भौतिक उन्नति का साधन मात्र मानने लगता है। प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप के प्रति श्रद्धालु हैं यही कारण है कि वे पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावान्तर्गत दाम्पत्य जीवन में निराश, कुण्ठा तथा परस्पर शंका का चित्रण करते हैं। वास्तव में प्रेमचन्द के उपन्यासों में दाम्पत्य जीवन का आदर्श रूप चित्रित मिलता है।

गोदान की त्रासदी

डॉ० कन्हैया सिंह *

त्रासदी सामान्य मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य अंग है। सुख और दुःख दोनों ही जीवन के दो पहलू हैं। आशावादी कलाकार जीवन के दुःखमय क्षणों में भी आने वाले सुख की किरण देखता है और निराशावादी इस द्विविध जीवन में दुखाक्रान्त क्षणों को ही देखता और उसे ही अपनी तूलिका से सवाँर कर एक अभिनव कृति का रूप प्रदान करता है। दुःख, पीड़ा, अवसाद के चितेरे यथार्थवादी और सुख, विलास और आशा के चित्रकार आदर्शवादी होते हैं। प्रेमचन्द जी वादों और सीमाओं से परे एक सृजनशील उपन्यासकार थे। उन्होंने आदर्श और यथार्थ दोनों को अतिवादी माना तथा कामदी या त्रासदी की पूर्व कल्पना या पूर्वाग्रह से युक्त होकर कुछ भी नहीं लिखा। इस दृष्टि से उनकी महान औपन्यासिक कृति गोदान का विचार करना चाहिए

"गोदान" में उपन्यासकार की मुख्य दृष्टि भारतीय कृषक जीवन का एक जीवन्त चित्र प्रस्तुत करने की है। समग्र जीवन और उसमें कृषक जीवन को आलोकित करने के लिए वह एक नगरीय संस्कृति के जीवन को समानान्तर लेकर चलता है। समूची कथावस्तु में जीवन की रंगीनी, वैभव–विलास और ग्राम सुधार की दीखावटी भावना से प्रेरित छलछद्म पूर्ण नगरीय संस्कृति की मनोरम झाँकी के साथ ही मुख्य कथा की वरूण धारा प्रवाहित होती रहती है। इस मूलकथा के केन्द्र में, कथा नायक होरी है और उसकी पत्नी धनिया उसके चरित्र को निखार प्रदान करती है।

"गोदान" नामकरण इस उपन्यास की त्रासदी का एक भारी प्रतीक और व्यंग्य है। होरी एक प्रतिनिधि है जो करोड़ों भारतीय किसानों के समान ही कुड़की, कर्ज, भाग्यवाद, अन्धविश्वास, गरीबी और रूढ़ियों से जकड़ा हुआ है। जीवन पर्यन्त दुःख के आघातों को सहता हुआ वह जीवन जीता है। वह कभी भी परिस्थितियों से टूटता नहीं, बल्कि सब कुछ अपने भाग्य का प्रसाद मान कर सहर्ष अंगीकार करता चलता है। प्रारम्भ में ही वह अपने जमींदार साहब राय अमरपाल सिंह से मिलने के लिए जाने की तैयारी करता है और उसी प्रसंग में धनिया से कहता है :

"तू जो बात समझती नहीं उसमें टाँग क्या अड़ाती है, भाई। मेरी लाठी ला दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते–जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गए। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई, किस पर कुड़की नहीं आई। जब दूसरे के पाँव तले अपनी गर्दन दबी है तो उन पाँवों को सहलाने में ही अपनी कुशल है।"

---

* प्राचार्य
महाविद्यालय भटवली बाजार
(उनवल) गोरखपुर

उसके इस कथन में उसकी पीड़ा झाँक रही है। 'पाँव तले गर्दन दबी है' इसी मुहावरे के ब्याज से वह अपनी रहनी को प्रकट कर देता है। उसके जीवन में सब कुछ ले देकर इतना हीं है कि महज "उसकी जान बची है"। शेष क्या—घुट-घुट कर जीवन व्यतीत करना, परिस्थितियों के थपेड़ों को झेलना और कमा-कमा कर कर्ज भरना यही तो उसकी नियति है। जमींदार साहब की कृपा से ही उसकी तथाकथित इज्जत-आबरू बची है। कुड़की-बेदखली अभी उसके यहाँ नहीं आई पर इसकी मँहगी कीमत तो उसे चुकानी ही पड़ रही है। इन परिस्थितियों में उसकी आर्थिक दशा कैसी है यह भी देखने ही योग्य है। उसमें आत्यान्तिक अभाव और विवशता है पर विद्रोही नहीं। वह घुटन को भी नियति का प्रसाद समझ कर अंगीकार किए हुए है। उसकी पत्नी धनिया अभी छत्तीस वर्ष की है पर उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी है, सारे बाल पक गए हैं। आँखो से भी कम सूझने लगा है। तीन पुत्र बचपन में ही मर गए। धनिया को इस बात का दुःख जीवन भर बना रहता है कि वह उनके लिए धेले की भी दवा नहीं मँगवा पायी।

इस आर्थिक विपन्नता का वरदान उसे अपनी काहिली या अकर्मण्यता से नहीं मिला है बल्कि किसान के जीवन का फन्दा ही ऐसा है कि वह कठोर से कठोर श्रम करके भी अभाव और विवशता में जीने के लिए बाध्य होता है। माघ के महीने में जब शरीर को चीरने वाली शीतल वायु के वेग चलते हैं, होरी अपने खेत पर मड़ैया बना कर रखवाली करता है। उसके पास वस्त्र भी नहीं हैं उसकी दीनता और उसके पीछे के कारणों का एक चित्र उपन्यासकार प्रेमचन्द के शब्दों में ही देखिए :

"बेवाय फटे पैरों को पेट में डाल कर और हाथों को जाँघों के बीच में दबा कर कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म सासों से अपने को गर्म करने की चेष्ठा कर रहा था। पाँच साल हुए यह मिर्जई बनवाई थी। धनिया ने एक प्रकार से जबरदस्ती बनवा दी थी, वही एक बार जब काबुली से कपड़े लिये थे, जिसके पीछे कितनी साँसत हुई, कितनी गालियाँ खानी पड़ीं, कम्बल तो उसके जन्म से भी पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में वही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है, पर अब वह भोजन को चबाने वाला दाँत नहीं दुखने वाला दाँत है। जीवन में ऐसा तो कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कभी कुछ बचा हो।"

जीवन की यह त्रासद गाथा क्या केवल होरी की गाथा है ? पाँच साल पुरानी मिर्जई पता नहीं अभी उसे कितने साल और पहननी होगी। तीन पीढ़ियों से काम में लाया जाने वाला कम्बल कितना ओढ़ने लायक होगा ? पर यही तो भारतीय गाँवों के किसान-मजदूरों के जीवन की असलियत है। इन दारुण परिस्थितियों में गाँव का किसान अपनी इज्जत-आबरू के लिए कर्ज लेता है। कुछ धार्मिक विश्वास और मान्यताएँ उसे भीतर से कुरेदती रहती है। होरी शुरू ही में जब जमींदार साहब से मिलने जाता है तो रास्ते में एक बात अचानक उसके मन में उभरती है :

"होरी कदम बढ़ाए चला जाता था। पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहलहाती हुई हरियाली को देख कर उसने मन में कहा—भगवान कहीं गौं से बरखा कर दें और डाँडी भी सुभीते से रहे तो एक गाय जरूर लेगा।"

वह गाय "जरूर" लेना चाहता है। उसकी जैसी परिस्थितियाँ हैं उसमें वह गाय क्या लेता बकरी की भी उसकी हैसियत नहीं है। फिर भी वह गाय लेने की लालसा सजोए हुए है। गाय का दूध और उसका बछड़ा उसके आकर्षण का कारण नहीं हैं बल्कि प्रातः काल गाय का दर्शन करना ही बड़ा भारी पुण्य है। गाय की सेवा करना तो बड़ा भारी धर्म–कार्य है। गाय के रोम-रोम में देवता निवास करते हैं। इसलिए विशेष रूप से वह अपनी दीनतायुक्त फटी जिन्दगी में भी गाय लेने का सपना सँजोता है। पर उसका सपना-सपना ही रह गया, क्योंकि गाय खरीद कर भी वह उससे हाथ धो लेता है।

बातें तो बहुत सारी होरी–धनियाँ के जीवन में आती–जाती हैं। जीवन के प्रत्येक प्रसंग त्रासदी के मूर्त रूप हैं पर उपन्यास का जो शीर्षक है उसमें उसके जीवन की त्रासद गाथा का गहरा व्यंग्य है। फसलें तो अच्छी भी होती हैं पर बचता कहाँ है? जमींदार और महाजन के दो पाटों के बीच पिसता हुआ बेचारा किसान जिन्दा रहता है यही बहुत है वह गाय–गोरू क्या लेगा? उसकी दशा यह है :

"इस फसल में सब खलिहान में तौल देने पर भी अभी तक उस पर कोई तीन सौ कर्ज था, जिसपर कोई सौ रुपये सूद के बढ़ते जाते थे। मँगरू साह से आज पाँच साल हुए बैल के लिए साठ रुपये लिए थे, उसमें साठ दे चुका था पर वह साठ रुपये ज्यों के त्यों बने हुए थे। दातादीन पण्डित से तीस रुपये लेकर आलू बोए थे। आलू तो चोर खोद ले गए और इस तीस के तीन वर्षों में सौ हो गए। दुलारी विधवा सहुआइन थीं जो गाँव में नोन, तेल, तमाकू की दूकान रखी हुई थी। बटवारे के समय उससे चालिस रुपये लेकर भाइयों को देना पड़ा था। उसके भी लगभग सौ रुपये हो गये थे क्योंकि आने रुपये का ब्याज था।"

यह महाजनी सूद भला गाँव के किसान को सिवाय सूद की पुश्त दर पुश्त अदायगी के कुछ और करने देगा? यही तो होरी के जीवन की नियति है। इसी में वह अधमरा सा झूल रहा है पर उसके धर्म-प्रवण जीवन की लालसा है "एक गाय जरूर खरीदने की"।

होरी ईमानदार आदमी है। परिश्रमी और कर्मठ है। "होरी किसान था और किसी जलते घर में हाथ सेंकना नहीं जानता था। संकट की वस्तु लेना उसकी दृष्टि में पाप था पर वह अपनी रूढ़िगत नैतिकता और संस्कारगत आदर्शवादिता के कारण शोषित होता रहता था।" उधर उसको लूटने-खसोटने वाले महाजन, जमींदार, पंडित आदि ताव से मूंछें ऐंठ कर मौज उड़ा रहे है। उनके ऊपर प्राकृतिक प्रकोपों का कुछ भी प्रभाव नहीं है। वे नीच है। ठगी उनका धन्धा है। शोषण उनकी आजीविका है पर भौतिक जीवन में वे सुखी है। दुःख की छाया भी उनका स्पर्श नहीं करती। उधर होरी नैतिकता और ईमानदारी का पुतला है पर उसकी फसल कभी उसके घर तक नहीं आ पाती। वर्षा-ओला से बची तो चोर ले गए और उनसे भी बची तो महाजन-पण्डित-जमींदार ले गए।

सामाजिक विडम्बना भी कैसी है कि दातादीन पण्डित का लड़का मातादीन सिलिया को भ्रष्ट करता है तो उसे न तो बिरादरी का दण्ड लगता है और न समाज में उसकी अप्रतिष्ठा होती है पर होरी का लड़का झुनिया से सात्विक प्रेम करता है तो समाज से उसे दण्ड भोगना पड़ता है और होरी को सामजिक प्रतिष्ठा भी खोनी पड़ती है।

होरी गाय तो खरीदता है। यह धर्म की प्रतीक गऊ ही उसके जीवन के लिए अभिशाप का केन्द्र-बिन्दु बनती है। जो गाय पुण्य की अधिष्ठात्री है वही होरी के लिए संकटों की जननी बनती है। इस प्रसङ्ग के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह तो एक संयोग है पर ऐसे संयोग भी होरी जैसे करोड़ों किसानों के लिए ही विधि के विधान में सुरक्षित है।

नैतिकता और आदर्श के भार से दबा हुआ होरी अपनी बेटी रूपा के लिए एक प्रौढ वर तय करता है और मजबूरन उससे दो सौ रुपया ऋण लेता है—लड़खड़ाते और काँपते हाथों से। उसका मन तो कह रहा है कि बेटी को बेच नहीं रहा है। इस बोझ से अपने मन को हल्का करने के लिए सुतली कात कर पैसे एकत्र कर रहा है कि दामाद के ऋण को चुकता कर देगा। केवल बीस आना हीं जुटा पाया था कि मृत्यु आ धमकी। मृत्यु के समय गोदान तो हिन्दू गृहस्थ के लिए अनिवार्य ही है पर इसके लिए पैसे कहाँ? अन्ततः दामाद का कर्ज चुकाने के लिए रखा हुआ बीस आने ही "गोदान" कर दिया जाता है। यही होरी और इस उपन्यास का त्रासद अवसान है।

इस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से गाय और गोदान का प्रतीक से एक भारतीय गृहस्थ के जीवन की धार्मिक-नैतिक परवशता और रूढ़ियों से जकड़न का एक कथानक लेकर होरी के माध्यम से एक भारतीय किसान की त्रासद गाथा कहने का प्रयास किया है। होरी के जीवन में कुछ भी ऐसा नही है जो एक गाँव के किसी भी किसान मजदूर के जीवन में न हो। पचास वर्ष पहले लिखे गए इस उपन्यास में जो भारतीय किसान की त्रासदी प्रस्तुत की गई है वह बहुत कुछ अंशों में आज भी विद्यमान है। फटी बिवाय वाले पैर, पाँच साल पुरानी मिर्जई और दो-तीन पीढ़ी पुराने कम्बल आज भी हमारे अन्न-दाताओं के घर और बदन की शोभा बढ़ाते है।- "गोदान" के माध्यम से होरी की ही नहीं बल्कि भारतीय गांव की किसान-संस्कृति के समूचे परिवेश, परंपरागत रूढ़ि संस्कारों और दारिद्र्य की दु:सह वेदना की त्रासदी प्रस्तुत हुई है।

———

प्रेमचन्द की भाषा

डा० बालमुकुन्द *

साहित्यिक कलाकृति के अनुशीलन में उसके निहित भाषातत्व का विश्लेषण अत्यन्त उपादेय समझा जाता है। रचना के प्रति रचनाकार की समग्र प्रतिबद्धता इस बात पर निर्भर करती है कि वह रचना के कलेवर में ध्वन्यात्मक इकाई को किस स्तर तक पहचानता है। उसका उत्तरदायित्व उस समय और भी बढ़ जाता है, जब वह रचना के साथ 'स्व' को जोड़कर रचनागत अभिप्रेत के साथ अपनी समझदारी का पूरा परिचय देता है। ध्वनि शब्दयोजना, रूपतत्व जैसे भाषागत उपादान एक ओर संपूर्ण संरचना से जुड़ते हैं. दूसरी ओर उनसे अभिव्यंजित होने वाले अर्थ बोध की समस्त प्रक्रिया का स्वरूप निर्धारित करते हैं। ऐसी स्थिति में रचनात्मक गति के साथ चलते हुए भाषा को उतना ही सरल बनना पड़ता है, जितना कि रचनाकार रचना के साथ स्वयं बनता है। शब्द केवल कोशगत अर्थ के, कारण अभिव्यक्ति क्षमता नहीं रखते अपितु अर्थ इनसे व्यंजित और लक्षित होते रहते हैं। साहित्यिक कृति भाषा के प्राय: सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखती है।

प्रेमचन्द की भाषा उनके संपूर्ण परिवेश और वैयक्तिक जीवन की उपलब्धि है, जो उनके रचनात्मक जगत् में तद्वत् स्पंदित होती रहती है। तत्कालीन निम्न और मध्यवर्गीय समाज की स्थितियाँ उनकी भाषा का निर्माण स्वयं करती चलती हैं। प्रेमचन्द सामाजिक जीवन का यथार्थ मूलक चित्र खींचने में लगे हैं, भाषा की विशेष चिन्ता उन्हें नहीं रहती। अत: भाषागत सौन्दर्य की तलाश करने वाले लोगों को उनकी रचनाओं में निराशा ही मिलेगी।

जिस समय प्रेमचन्द साहित्य के क्षेत्र में उतरे, वह युग उर्दू और हिन्दी के संघर्ष का था। प्रथम वे उर्दू के लेखक थे, बाद में हिन्दी में लिखना आरंभ किया। संस्कृत की उन्हें बहुत कम जानकारी थी। उर्दू के प्रभाव से वे कभी भी मुक्त न हो पाये।

प्रेमचन्द की भाषा वस्तु, पात्र और देशकाल इन तीनों से सामंजस्य स्थापित करती हुई चलती है। रचनाओं में वैचारिकता का आग्रह है, भावना और काव्यात्मक शैली को विशेष महत्व नहीं दिया गया है फिर भी उसमें मार्मिकता और अभिव्यक्ति की पूरी क्षमता है। ग्राम्यजीवन के सहज आकर्षण में पड़ा हुआ लेखक उसकी विभूति और आधार रेखा को अच्छी तरह पहचानता है। गाँव का सुरम्य चित्र खींचते हुए लेखक अपनी सारी आलंकारिकता और शब्दार्थ कोश लगा देना चाहता है, साथ ही प्रकृति के साथ जुड़े इस जीवन पर कभी भी भाषा की कृत्रिमता का बोझ नहीं लादता। वे ही शब्द, वे ही उपमान, वे ही ध्वनियाँ प्रयुक्त होती देखी जाती हैं, जिनमें जीवंतता है। वहां न तो काव्य-शास्त्रीय समृद्धि मिलेगी और न भाषागत अवरोध "उत्तरी गिरिमाला के बीच एक छोटा सा हरा-भरा गाँव है, सामने गंगा तरुणी की भाँति हँसती खेलती नाचती गाती चली आ रही है।

---

* हिन्दी विभाग
सेन्ट इंड्रयूज कालेज, गोरखपुर

गाँव के पीछे बड़ा पहाड़ किसी वृद्धि योगी की भाँति जटा बढ़ाए, काला और मानो उसके बचपन की याद है, मनोरंजन से परिपूर्ण अथवा भर पूर जवानी का कोई सुनहला स्वप्न। गाँव में मुश्किल से बीस-पचीस झोंपड़े होंगे। पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों को ऊपर-नीचे रखकर दीवारें बनायी गयी हैं। उनपर बनकट की टट्टियाँ हैं। इन्हीं काबकों में इस गाँव के वासी अपनी गाय, बैल, भेंड़, बकरियों को लिए राम जाने कब से बसे हुए हैं।" (कर्मभूमि)

विश्लेषण :—गाँव–छोटा सा हरा भरा—विशेषण गाँव की गरिमा/उत्तरी गिरि-माला के बीच दृद्धा गाँव का परिवेश/सामने गंगा—पवित्रता/तरुणी की भाँति-आलंकारिकता उत्साह और आशा-आकांक्षाएँ/हँसती खेलती नाचती गाती-वर्तमान-कालिक कृदंत विशेषण–गाँव की जीवतंता, आह्लाद/पीछे बड़ा पहाड़–दृढ़ संयम/किसी वृद्ध जोगी की भाँति जटा बढ़ाए–सादृश्य–विधान–संयमित संस्कृति/काला–विशेषण–अपरिवर्तित मर्यादित संस्कृति और मानो उसके बचपन की याद है—उत्प्रेक्षा–प्रौढ़ता में भी सरलता और निष्कपटता/भरपूर जवानी का कोई सुनहला स्वप्न–विशेषण विशेष्य–युवावस्था की परिपूर्णता और उसकी चेतना, जीवन में कुछ कर डालने की असीम अभिलाषा, भविष्य निर्माण की कल्पना।

प्रेमचन्द की रचनाएँ मानव मन की अभिव्यक्ति हैं। जीवन के यथार्थ को समझने वाली प्रेमचन्द की भाषा जन-मानस को आन्दोलित कर अंतर्मन में छिपी सहानुभूति और मानवीय संवेदना को जागृत करती है, नारी पुरुष की आदिम चेतना को एक सामान्य धरातल पर रखकर सहज ही परख लेती है, सारी ग्रन्थियों को खोलकर रख देती है। ऐसी स्थिति में जीवन का समग्र काल चिन्तन उनके साथ हो लेता है—"होरी की आँखें आर्द्र हो गईं। धनिया का यह मातृस्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिन्ता जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा। दोनों ही के हृदय में जैसे अतीत यौवन सचेत हो उठा। होरी को इस बीते यौवन में भी वही कोमल हृदय बालिका नजर आयी, जिसने पचास साल पहले उसके जीवन में प्रवेश किया था। उस आलिंगन में कितना अथाह वात्सल्य था, जो सारे कलंक, सारी बाधाओं और सारी मूलबद्ध परम्पराओं को अपने अन्दर समेट लेता था।"[1]

विश्लेषण :—आँखें आर्द्र हो गईं—आँखें (संज्ञा), आर्द्र (विशेषण) —संज्ञा का विशेषणीकरण–स्नेहिल भावोद्‌गारों ने आँखों को गीला कर दिया। धनिया का मातृस्नेह—वात्सल्यभाव। अंधेरे में दीपक के समान–सादृश्य विधान–प्रतीरात्मक भाषा—जीवन में आशा का संचार। चिन्ता जर्जर आकृति—विशेषण विशेष्य—स्तीमुलस रिस्पांस–अंतर्मन का समस्त व्यवहार बाह्याकृति द्वारा अभिव्यंजित। अतीत यौवन सचेत हो उठा—अतीत यौवन–विशेषण विशेष्य सचेत हो उठा–स्मृति का चेतना में उन्मेष–एक वेग–संयुक्त क्रिया। बीते यौवन–पूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत–विशेषण–विशेष्य भाव–अवस्थागत परिवर्तन होने पर भी भावोद्रेक के कारण पूर्वावस्था की अनुभूति। वही कोमल हृदय बालिका नजर आयी—विशेषण-विशेष्य–प्रधान अवाक्य–चेतना का नवीनीकरण। जिसने पचास साल पहले उसके जीवन में प्रवेश किया था—विशेषण उपवाक्य–भूतकालिन कृदंत–भागवत परिवर्तन। उस

1. गोदान चतुर्थ सं० पृ० 186

आलिंगन में कितना अथाह वात्सल्य था—अथाह वात्सल्य–विशेषण विशेष्य–वात्सल्य की असीम क्षमता प्रधान उपवाक्य। जो सारे कलंक, सारी बाधाओं और मूलबद्ध परम्पराओं को अपने अन्दर समेट लेता था–विशेषण उपवाक्य–वात्सल्य की क्रियान्वित क्षमता।

प्रेमचन्द जिस पात्र, वातावरण या घटना विशेष के संदर्भ में बात करते हैं, उसकी तद्वत् विशेषताओं का ध्यान रखते हैं। किसी ग्रामीण की बोली में ग्राम्य जीवन से ही संबंधित शब्द मिलेंगे, उसमें सरलता होगी और साथ ही कथन में देहाती मिठास—"भैया, तुम्हारी मरजी है, तो सहर में ही चले जाओ, मैं बजरंगी से लड़ाई थोड़े ही करता हूँ। पर दिहात दिहात ही है, सहर सहर ही। सहर में पानी तक तो अच्छा नहीं मिलता। वही बंबे का पानी पियो, धरम जाय और कुछ सवाद न मिले।"[1]

गाँव का लेखक गाँव की भाषा में तो जीता ही है, रचना में भी उसे उतारता है, आवश्यकता पड़ने पर वह दर्शन की गुत्थियाँ भी सुलझाने लगता है, काल चिंतन करता है। पर भाषा अपनी जगह से उतनी ही खिसकती है, जितनी कि अपेक्षित है, जीवन दर्शन को सुलझाने में वह स्वयं भी उलझकर नहीं रह जाती, वहाँ तो अन्य प्रयास आये हुये शब्द और वैसी ही वाक्य योजना दिखाई देती है—"काल पर विजय पाने का अर्थ यह नहीं है कि कृत्रिम साधनों से भोगविलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोखा दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है, अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता का आदर और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषयवासना नहीं, बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुप्रवृत्तियों को रोकना है।"[2]

प्रेमचन्द की भाषा में पात्रों के समग्र व्यक्तित्व को कतिपय पंक्तियों में स्पष्ट कर देने की क्षमता है। पात्रों की आंतरिक और बाह्य चारित्रिक विशेषताएं अत्यन्त सरल वाक्यों से अभिव्यंजित अर्थ तत्त्व से उद्घाटित होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में लेखक को अनावश्यक काट-छाँट नहीं करनी पड़ती—"दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी सुख छवि पर हँसी छूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। × × × आप नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं। गात कोमल पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव × × ।[3]

मालती जैसी आधुनिका का चित्र जहाँ मौज-मस्ती और साज-सज्जा तथा बाह्याकर्षणों का है, वहीं 'कर्मभूमि' के अमरकान्त के व्यक्तित्व विश्लेषण में लेखक की भाषा उसके

1. रंगभूमि भाग 2, पृ० 399।
2. कायाकल्प पृ० 94।
3. गोदान पृ० 56।

दारिद्र्य और सामाजिक परिवेश से जुड़कर उसी का प्रतिनिधित्व करने लग जाती है—"अमरकान्त की अवस्था उन्तीस साल से कम न थी, पर देह और बुद्धि को देखते हुए अभी किशोरावस्था में ही था। देह का दुर्बल, बुद्धि का मंद। पौधे को कभी मुक्त प्रकाश न मिला, कैसे बढ़ता, कैसे फैलता। बढ़ने और फैलने के दिन कुसंगति और असंयम में निकल गये। दस साल पढ़ते हो गये थे और अभी ज्यों त्यों करके आठवें में पहुँचा था"।[1]

नारी पुरुष हर पात्र की स्थिति और मनोभाव के अनुरूप प्रेमचन्द की भाषा बदलती रहती है। ध्वनि, पद, संज्ञाएँ, क्रियाएँ, विशेषण तथा शब्द और उसके अर्थ में निहित सारी व्यंजनाएँ लेखक की भाषा में सूक्ष्मतम रूप में दृष्टिगत होती हैं—"निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने अनंत सौन्दर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला सी उठती। मन में आता इस घर में आग लगा दें।"[2]

विश्लेषण—सुषमा पूर्ण आभा–विशेषण विशेष्य–सौन्दर्यबोध का विषय (आब्जेक्ट) सतृष्ण कामना–विशेषण विशेष्यसौन्दर्य बोध की क्रिया (स्टीमुलस)–हृदय तड़प उठता था–संयुक्त क्रिया–सौन्दर्य बोध की क्रिया के प्रति प्रतिक्रिया। हृदय में ज्वाला सी उठती थी—(आलंकारिक उदवेग)–प्रतिक्रिया के प्रति क्रिया (ऐक्शन अगेंस्ट रिस्पांस)। मन में आता इस घर में आग लगा दें—प्रतिक्रिया के प्रति-क्रिया के प्रति प्रतिक्रिया (रिस्पांस अगेंस्ट ऐक्शन)—लाक्षणिकता।

प्रेमचन्द की रचनाओं में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा की शक्ति को दृढ़ करता है। ऐसे प्रयोग पात्रों की मनः स्थिति, घटना क्रम तथा मूल संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं—सिर भूत सा सवार हो जाता है। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। (प्रेमा० पृ० 55)। छाती फाड़ कर काम मैं करूँ और मूछों पर ताव दे कर खायें वह लोग। (प्रेमाश्रम पृ० 55)। चक्रधर पर घड़ों पानी पड़ गया (कायाकल्प) अंधे भक्तों की आंखों में धूल झोंक कर यह हलवे वहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, (कर्मभूमि पृ० 203)

संवादों की भाषा पूरे वातावरण और पात्र की मनोदशा के अनुसार चलती है पर ऐसी दशा में प्रयुक्त भाषा गतिशील होते हुऐ भी कभी-कभी वेग रहित सी प्रतित होती है; यथा—घीसू ने कहा–'मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया। जा, देख तो आ।'

माधव चिढ़कर बोला–'मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती! देखकर क्या करूँ?'

'तू बड़ा बेदर्द है वे! साल भर जिसके साथ सुखचैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई।

1. कर्मभूमि पृ० 7।
2. निर्मला पृ० 38।

'तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाँथ पांव पटकना नहीं देखा जाता।'[1]

प्रेमचन्द की विचारधारा उनकी भावधारा के साथ जुड़कर चलती है वे मानववाद के हिमायती हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक तथा जीवन की अन्य गतिविधियों में वे मानव संवेदन के सामाजिक पहलू से जुड़े हुए हैं। स्नेह, सेवा, सहानुभूति आदि मानवीय वृत्तियाँ प्रेमचन्द की भाषा में प्रविष्ट होंकर अनुभूति पक्ष को उजागर करती हैं; वहाँ पर आलंकारित आंतरिक व्यवहारों से जुड़ी रहती है "मानव प्रेम वह है जो जीव मात्र को एक समझे जो आत्मा की व्यापकता को चारितार्थ करे जो प्रत्येक अणु में परमात्माका स्वरूप देखे, जिसे अनुभूत हो कि प्राणी मात्र एक ही प्रकाश की ज्योति है"[2]

प्रेमचन्द की रचना के पीछे उनकी ईमानदारी और प्रगाढ़ अनुभव छिपा हुआ है। उन्हें हर परिस्थिति की पहचान है; जीवन का हर रूप उन्हें पहचानता है। समाज की विषमता से पीड़ित होकर अनेक कष्टों को झेलता प्रेमचन्द का पात्र अपना विद्रोह प्रकट करते हुए भी टूट कर रह जाता है भाषा के वाक्यांश प्रत्येक प्रतिक्रिया के साथ उसी रूप में बनते-पलते रहते हैं। इसीलिए कहीं तो वे तीव्र आवेग लेकर अकस्मात बढ़ जाते है, किन्तु थोड़ी ही देर में सिकुड़ कर ठंडे पड़ जाते है। "यह सब मन को समझाने की बाते हैं। भगवान सब को बराबर बनाते हैं। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है।[3]

मंगलसूत्र प्रेमचन्द की अन्तिम अपूर्ण रचना है। इसमें प्रेमचन्द को विचार धारा स्पष्ट रूप से सामने आती है। देव कुमार वहाँ पर प्रेमचन्द का ही प्रतिनिधित्व करता है और भाषा गत मूल्य सम्पूर्ण वैचारिकता के साथ सिमिटा हुआ है–'दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।[4]

प्रेमचन्द की कहानियाँ मानव जीवन की मूल-भूत संवेदनाओं का आकलन करती हैं। प्रेमचन्द की पूरी सहानुभूति निर्बल वर्ग की ओर रहती है। उनकी भाषा तथाकथित सभ्य समाज की निष्ठुरता के प्रति अति निष्ठुर हो जाती है। प्रत्येक पद सतर्क होकर निर्बल के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके पक्ष को मजबूत करते है —"संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवा नहीं करते, शायद उसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, उसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था।"

प्रेमचन्द में शब्द चित्र प्रस्तुत करने की पूरी क्षमता है। वे विभिन्न जीवनादर्शों को पहचानते हैं। परंपरागत भारतीय तथा पाश्चात्य जीवन काव्यों को पहचानते हुए वे

1. कफन (कहानी)
2, संग्राम पृ० 47
3. गोदान पृ० 19.
4. मंगल सूत्र (प्रेमचन्द स्मृति) पृ० 293.

वास्तविक जीवनादर्श को महत्त्व देते हैं[1]—"मैं फिर तुम्हें वही पहले की सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलने वाली, पूजा करने वाली, रामायण पढ़ने वाली, घर का काम काज करने वाली, चरखा कातने वाली, ईश्वर से डरने वाली, पति श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहती हूँ।"[2]

श्रद्धा से परिपूर्ण भारतीय स्त्री के सारे विशेषण एक साथ जोड़कर लेखक ने शब्द चित्रों के माध्यम से एक आदर्श भारतीय नारी का बिम्ब प्रस्तुत किया है जो भारत की धरती के लिए ग्राह्य है।

प्रेमचन्द एक कुशल व्यंगकार भी हैं, पंडों, पुजारियों, पंडितों के हथकंडों से वे भली भाँति परिचित हैं, और वैसी ही पैनी, तीखी, सजीव, व्यंग्यात्मक भाषा का भी प्रयोग करते हैं—"पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते। मुँह हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घंटे तक चंदन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते"।[3]

प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में सूक्तिमयी भाषा का प्रयोग कर वर्ण्य विषय को बोधगम्य बनाने की चेष्टा करते हैं। ये सूक्तियाँ उनकी अधिकांश रचनाओं में बिखरी पड़ी हैं। इसके साथ ही अनेक पारिभाषिक सूत्रों की भी रचना कर प्रेमचन्द भाषा की शक्ति में तीव्रता लाने का प्रयास करते हैं; यथा—सुख सन्तोष से प्राप्त होता है। (सेवासदन पृ० 68)। मानव प्रेम वह है जो जीव मात्र को एक समझे, (संग्राम पृ० 46), धरती से ही सवाल उठता है और धरती से ही विचार का अंकुर फूटता है। (कलम का सिपाही पृ० 218) पश्चाताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, (सेवा सदन पृ० 1), अभ्यास बहुधा चेतना का स्थान ले लिया करता है (काया कल्प पृ० 375), भय ही पराधीनता है, निर्भयता ही स्वराज्य है। (मानसरोवर–7,पृ० 78)

इस प्रकार प्रेमचन्द की पूरी भाषा प्रक्रिया में व्यक्ति और सामाजिक चेतना प्रतिबिंबित हुई है। समाज के विशाल घेरे में क्रियाशील मानव विविध वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने को खोजने में लगा हुआ है और यह खोज अपनी क्रियाशीलता में जिन बिन्दुओं का स्पर्श करती है, लेखक की प्रत्येक ध्वनिगत इकाई अन्ततः बिन्दुओं के साथ मिलकर रेखाओं का निर्माण करती जाती है और वैसी ही सम्पूर्ण भाषागत संरचना गत्वर भाषा रूप को धारण कर अभिव्यंजित होती रहती है। प्रेमचन्द की भाषा किसी कलाकार की भाषा नहीं है, अपितु एक रचनाकार की रचना है जो उसके उद्देश्यों के साथ जुड़ी हुई है।

---

1. पाँच फूल, पृ० 36 (सातवाँ संस्करण)
2. मानसरोवर, भाग 7 पृ० 80
3. मानसरोवर, भाग 4, पृ० 19।

प्रेमचन्द की पत्रकारिता : 'पागल साधना-प्रेम' की एक दिशा और आज की पत्रकारिता

डा० कृष्ण बिहारी मिश्र *

कथा शिल्पी प्रेमचन्द सामान्य अर्थ में पत्रकार नहीं थे, किन्तु पत्रकारिता से उनका उतना ही निकट सम्बन्ध था जितना भारतेन्दु से लेकर भारती तक हिन्दी के प्रायः सभी अग्रणी कृति लेखकों का रहा है। प्रेमचन्द की अग्रज-पीढ़ी और अनुज-पीढ़ी के साहित्यकारों ने लघु पत्रिका आन्दोलन का हल्ला भले ही न किया हो, किन्तु उनका आदर्श और प्रेरणा वही थी, प्रतिकूल परिस्थिति से लड़ाई भी उतनी ही कठोर थी। प्रेमचन्द और हिन्दी के तमाम साहित्यकार पत्रकारिता के उसी पक्ष और आदर्श से सक्रिय रूप में जुड़े थे जिसका इनकलाबी मुद्रा में आज ढोल अधिक पीटा जाता है, इस हठीले दावे के साथ कि लघु पत्रिका की चेतना अभी-अभी जन्मी है और इसके जनक हम हैं। ऐसा दम्भ विचार-जगत को प्रकाशहीन बनाता है।

वैचारिक प्रकाश की रक्षा और समृद्धि के लिये ही प्रेमचन्द को पत्रकारिता की असुविधाजनक राह से यात्रा करनी पड़ी थी। 23-5-33 को उन्होंने रामचन्द्र टंडन को लिखा था कि "मैं तो एक हरकारा मात्र हूँ और सदा ऐसे कामों में हाथ डालने की चेष्टा करता रहता हूँ जिसके लिये मैं नहीं बनाया गया। पत्रकार-कला से मेरा स्वभावगत विरोध है पर परिस्थितियों से विवश होने के कारण उसे स्वीकार करने को बाध्य हुआ हूँ।" यह बाध्यता प्रेमचन्द के साथ कदाचित् इसलिये जुड़ी हुयी थी कि उस विशिष्ट रोशनी की रचना की प्रेरणा उन्हें अशांत–उद्वेलित किये हुये थी, जो अंधकार में डूबे दिशाहारा समाज के उद्धार की राह दिखाने वाली रोशनी थी। महात्मा गाँधी राजनीति की राह से उसी प्रकाश को जगाने में लगे हुये थे। प्रेमचन्द का कथा-संसार दिशाहारा समाज को उचित दिशा दिखाकर स्वत्व-सचेत बना रहा था; नयी शक्ति जगा रहा था। अपने इस जागरण-अभियान को अधिक खुलासा और तीव्र बनाने के लिए प्रेमचन्द को पत्रकारिता की राह माफिक जान पड़ी। प्रेमचन्द के मन में एक विशेष आग्रह-आकांक्षा थी। मनुष्य जाति के प्रति अपनी विशेष भूमिका द्वारा मनुष्य के हृदय में अपना स्थायी चिन्ह बनाने की आकुल साध प्रेमचन्द के हृदय में थी; कहानी रचकर वे कहानी बनना चाहते थे। मगर उन्हें बराबर आशंका रहती थी कि 'मैं किसी क्षेत्र में कोई स्थायी चिन्ह अंकित करने में असमर्थ हूँ।' रामचन्द्र टंडन के नाम उसी पत्र में उन्होंने लिखा था, 'मेरी यह भावना ··· ···· ··· मुझे मूर्खतापूर्ण कामों के लिए उकसाती रहती है।' 'हंस' से जूझते बड़े खिन्न मन से प्रेमचन्द

* अध्यक्ष हिन्दी विभाग
बंगवासी कालेज, कलकत्ता

ने यह वाक्य लिखा था। पत्रकारिता को प्रेमचन्द मूर्खतापूर्ण काम नहीं मानते थे। यह वाक्य उनकी नाना कठिनाइयों की मार से जन्मी लाचारी का संकेत भर देता है। निःसन्देह प्रेमचन्द जैसे महान् कथाशिल्पी के लिए पत्रकारिता के व्यवहारिक पक्ष की कठिनाइयों को हल करना आसान नहीं था। यद्यपि उन्होंने कठिनाइयों को हल करने की भरपूर कोशिश की। यहाँ तक समझौता किया अपनी विपरीत परिस्थित से कि जिन्हें वे समाज का शत्रु मानते थे, 'हंस' की अस्तित्व रक्षा के लिए, उनकी सहायता की कामना की।[1] इस प्रकार संतान प्रतिम प्रिय अपनी पत्रिका 'हंस' को जीवित और गत्वर रखने के लिए प्रेमचन्द को अनेक भूमिकाओं पर उतरना पड़ा; नाना समस्याओं से घिरना पड़ा। उस समय की उनकी मनोदशा उनके व्यक्तिगत पत्रों में दिखायी पड़ती है। प्रतिकूल परिस्थिति की कठोर मार को झेलते, खीझते और अपने मिशन के लिए जूझते प्रेमचन्द की उस समय की मनोदशा पराजय का भ्रम पैदा करती है, मगर सजग दृष्टि से देखने पर वहाँ आस्था की रोशनी का साक्षात्कार होता है, जो नयी साहित्य-पीढ़ी के लिए प्रेरणा और शक्ति का अप्रतिम आधार है।

आर्थिक निश्चितता, पूरी स्वाधीनता और इतमीनान के साथ साहित्य-रचना की स्पृहा से प्रेमचन्द ने प्रेस खोला था। पत्रकार बनने की साध पुरानी थी। मगर प्रेस खोलकर प्रेमचन्द ने अनजाने में असंख्य समस्याओं को नेवता दे दिया था। आर्थिक निश्चिन्तता की परिकल्पना आर्थिक तंगी का कारण बन गयी थी। अपने आत्मीय श्री जैनेन्द्र कुमार को 14 फरवरी, 1934 को बड़े उदास मन से प्रेमचन्द ने लिखा था, "सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेसहै। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। 10 हजार रुपये, 11 साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ गयीं। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वायदा खिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा। मेरी जिन्दगी की यह सबसे बड़ी गलती है।" इस गलती को सुधारने के लिए प्रेमचन्द ने जितने उपक्रम किये सब प्रतिकूल सिद्ध हुए। अपने प्रेस से प्रेमचन्द ने अपना पत्र 'हंस' मार्च, 1930 में निकाला 'माधुरी' से पत्रकारिता का अनुभव प्राप्त कर लिया था। स्वतंत्र पत्र, यानी जिसमें पूरा अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य हो, निकालने की स्पृहा और अपने सरस्वती प्रेस को एक सहारा देने की चिन्ता ने 'हंस' के प्रकाशन की प्रेरणा दी। प्रेमचन्द की एक और अकांक्षा थी जिसका संकेत श्री राम शर्मा को लिखे अपने पत्र में दिया है, "मेरी बड़ी से बड़ी आकांक्षा है—देहात में बैठकर शान्तिमय जीवन बिताऊँ। आप जानते हैं मैं स्वयं देहाती हूँ और मैंने अपनी कृतियों के माध्यम से अपने देहाती भाइयों के ऋण को उतारने का प्रयत्न किया है। 'हंस' के निकालने का यही उद्देश्य रहा है—देहात में रहना, कुछ साहित्य-सेवा सम्पादन-कार्य और देहातियों से मिल जुल कर बैठना।" मगर प्रेमचन्द की यह साध पूरी न हो सकी। प्रेस की तरह 'हंस' भी घाटे का सौदा सिद्ध हुआ। घाटा झेलते प्रेमचन्द 'हंस' को जिलाये जा रहे थे। 'हंस' की अस्तित्व-रक्षा के लिए प्रेमचन्द जागरण से जुड़े। मित्रों के व्यावहारिक सुझाव प्रेमचन्द को मान्य नहीं थे। कहानीकार सुदर्शन की आत्मीय सलाह

1. द्रष्टव्य—कलम का सिपाही, पृ० 538-39।

के जवाब में प्रेमचन्द ने कहा था, "भाईजान, सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यत्व को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा करना भी उसका कर्तव्य है। अगर यह नहीं है तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं, और जिसके हाथ में भगवान ने कलम और कलम में तासीर दी है, उसका कर्तव्य तो और बढ़ जाता है।"[1]

अपनी कलम की शक्ति से प्रेमचन्द परिचित थे और इसलिए अपने बड़े दायित्व को भी भली प्रकार समझ रहे थे। सीमित दायरे में बँधकर और एक बँधी जीवन-चर्या में रहकर अपने महत् रचनात्मक दायित्व को पूरा करना प्रेमचन्द के स्तर के शिल्पी के लिए सम्भव नहीं होता। गृहस्थ की नाना जिम्मेदारियां प्रेमचन्द को नौकरी करने के लिए विवश करती थीं, किन्तु इस विवशता को उनका उदग्र शिल्पी मन धक्का मारकर तोड़ता रहता था। अच्छी नौकरी के साथ वे बहुत दूर तक नहीं चल सके। साहित्य-साधना से अविरत रहते निरन्तर नयी राह से यात्रा करना प्रेमचन्द की स्वच्छन्द प्रकृति का सूचक है। दुनिया के हर महान् लेखक में यह स्वच्छन्दता दिखायी पड़ती है। हिन्दी में यह चेतना निराला और उग्र में अधिक पुष्ट थी। निराला और उग्र से किंचित् भिन्न स्वभाव और गार्हस्थिक दशा थी मुंशी प्रेमचन्द की। गृहस्थ की लाचारी को समझते हुए भी प्रेमचन्द जोखिम उठाते रहते थे जिसे वे स्वयं अपनी हिमाकत मानते थे। 'हंस' का प्रकाशन बकौल प्रेमचन्द एक ऐसी ही हिमाकत थी। 12 फरवरी, 1930 को उन्होंने अपने अन्तरंग मित्र जमाना-संपादक दया नारायण निगम को लिखा था, "मैं फागुन यानी नये साल से एक हिन्दी रिसाला 'हंस' निकालने जा रहा हूँ।·· ···· ····है तो हिमाकात ही दर्देसर बहुत और नफा कुछ नहीं, लेकिन हिमाकत करने को जी चाहता है। जिन्दगी हिमाकतों में गुजर गयी, एक और सही। न पहले कभी कामयाबी की सूरत देखी और न अब देखने की उम्मीद है।" इस प्रकार मार्च' सन् 1930 में 'हंस' के रूप में एक उदार साहित्य-मंच का उदय हुआ था। प्रेमचन्द की इस पत्रिका का नामकरण प्रसाद ने किया था।

'हंस' की भूमिका प्रतिपक्ष भूमिका थी। 'हंस' में प्रकाशित साहित्य–सामग्री और प्रेमचन्द की सम्पादकीय टिप्पणीयाँ इस तथ्य को प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त हैं कि प्रेमचन्द उस जाति के विचारकों, बुद्धि-जीवियों और पत्रकारों से नितांत अलग थे जो आँख खोलकर न तो अपनी धरती की कुरूपता और शक्ति पहचान पाते हैं और न तो उन्मुक्त विवेक से उस विचारदर्शन की सीमा समझने की कोशिश करते हैं जिसकी प्रतिष्ठा और सर्वव्याप्ति के लिये अपनी रचनात्मक शक्ति को नारेबाजी में गँवाते हलकान–परेशान रहते हैं। प्रेमचन्द हर प्रकार की दासता और कठमुल्लेपन के विरोधी थे। राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक पराधीनता मनुष्य की अनन्त सम्भावना और वास्तविक पहचान को कुंठित करती है, प्रेमचन्द का यह विवेक बहुत स्पष्ट था। अपनी साधना से अर्जित प्रतिम प्रकाश द्वारा वे मनुष्य की समग्र मुक्ति के लिये नाना विधाओं–सरणियों से चेष्टा करते

1. द्रष्टव्य— कलम का मजदूर प्रेमचन्द, पृ० 265।

रहे। विभिन्न पत्रिकाओं में राजनीति, समाजनीति, नारी-समस्या, शिक्षा आदि विषयों पर लिखी गयीं प्रेमचन्द की सम्पादकीय टिप्पणियाँ उनकी पुष्ट मानवीय संवेदना और जातीय चिन्ता का ही सकेत देती हैं। इस चिन्ता के चलते उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता था। निगम साहब को 23 अप्रैल, 1930 को उन्होंने लिखा था, "मैं तो आजकल बुरी तरह काम कर रहा हूँ। 'हंस' ने कचूमर निकाल दिया है। दो किस्से हर माह और करीब बीस सफे एडिटोरियल और दीगर मजामीन। इसके अलावा अपना नाविल। फिर प्रेमचालीसी के लिये कहानियों को उर्दू में लाना। और आखिर में रोजाना घन्टा-दो घन्टा कांग्रेस के कामों में मसरूफ रहना मेरे लिये काफी से ज्यादा है।" मानव-मूल्यों को दवाने वाली हर अशुभ शक्ति से प्रेमचन्द की लड़ाई थी। किसी प्रकार की, किसी स्तर पर साम्प्रदायिकता उन्हें सह्य नहीं थी। राजकीय वैभव, आर्थिक समृद्धि, विद्या-विशिष्टता और जाति-गोत्र का गुमान प्रेमचन्द की प्रातिभ शक्ति को उत्तेजित करता था। मनुष्य को मनुष्य से दूर करने वाला और ऊँच-नीच का स्तर-भेद करने वाला संस्कार प्रेमचन्द की दृष्टि में कुसंस्कार था जिसके समूल उच्छेद के लिये उन्होंने अपने साहित्य और पत्रकारिता के माध्यम से एक विराट मानवीय संवेदना की रचना की जिसे दुर्भाग्यवश परवर्तीकाल में विशेष राजनीतिक रंग में रंगने की चेष्टा चलने लगी; प्रेमचन्द को अपनी साम्प्रदायिक विरादरी का अगुआ घोषित किया जाने लगा और 'हंस' को विशेष मतलब से विशेष साहित्य-सरणि का पक्षधर प्रवक्ता तथा विशेष विचार-वंश का दस्तावेज सिद्ध करने का कुटिल प्रयत्न किये जाने लगे। इस तरह के प्रयत्न साहित्यिक धरातल से ही सक्रिय हुये, लेकिन उसके पीछे प्रेरणा राज-नीति की थी। साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रयोजन के अर्थ और निष्कर्ष निकालने की गुंजाइश रहती है जैसे कालिदास, तुलसीदास, निराला और महादेवी वर्मा तक के साहित्य से मार्क्स-वादी मतलब के तथ्य निकाल लेना, लेकिन पत्रकारिता की भूमिका इतनी खुली होती है कि उस पर वैचारिक आरोप सम्भव नहीं होता।

पूर्वग्रहमुक्त होकर विचार करने पर प्रेमचन्द की पत्रकारिता का आदर्श आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, आचार्य शिवपूजन सहाय और निराला के आदर्श के वहुत करीब दिखाई पड़ता है। सरस्वती, माधुरी, प्रताप, मतवाला और हंस के सम्पादकीय आदर्श लगभग एक ही हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में पूर्व स्वतन्त्रता-काल में जो वैचारिक औदार्य था परवर्ती काल में वह एक अंश तक खंडित हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर काल में पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी. पं० बाबू विष्णु पराड़कर, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, आचार्य शिव पूजन सहाय और उग्रजी अपनी उदार और उदग्र परम्परा के अनुसार कार्य करते रहे। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन, श्री शिव दान सिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री भैरव प्रसाद गुप्त, श्री श्रीपतराय और डॉ० धर्मवीर भारती सम्पादक के रूप में बहुत कुछ प्रेमचन्द की तरह विरोधी विचारों और भिन्न रुचि की रचनाओं को उदारतापूर्वक अपनी पत्रिकाओं में प्रकाशित करते रहे। हिमालय, प्रतीक, नयी धारा, अवन्तिका, कल्पना, कहानी, कृति, आलोचना, समालोक और माध्यम में वही उदार दृष्टि दिखाइ पड़ती है। नवलेखन के सन्दर्भ में प्रतीक, कल्पना,

कहानी और कृति की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। पत्रकारिता और विचार-क्षेत्र में वर्गीय संकीर्णता और अस्पृश्यता की, साम्प्रदायिक भावना का प्रवेश तब हुआ जब इस क्षेत्र में राजनीति का विजातीय हस्तक्षेप तीव्र हुआ और सम्प्रदाय निश्पक्षता, प्रगतिशीलता तथा नैतिकता की आवाज अनावश्यक रूप में तेज हुई, ठाक वैसे ही जैसे नाना प्रकार के समाजवादी नारे जैसे-जैसे बुलन्द होते गये वैसे-वैसे समाज द्रोही शक्तियाँ प्रबल होती गयीं, सामाजिक रिश्ते मैले और कमजोर होते गये, प्रदेशवाद, जातिवाद, गोत्रवाद और अन्ततः घिनौने किस्म के व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिलता गया, आदमी की संघ-शक्ति दुर्बल पड़ती गयी और समूह-चेतना व्यक्ति-गुहा में सिमट गयी। एक ही विचार-दर्शन से जुड़े अनेक राजनीतिक दल और अनेक साहित्यिक मंच समृद्धि का नहीं, व्यक्तिवाद या कहना चाहिये विचार-लोक में संक्रामक रोग की तरह कहीं तेजी से बढ़ने वाले विकृत अहंवाद का संकेत देते हैं। प्रेमचन्द की साहित्य-पीढ़ी इस रोग से मुक्त थी। उस पीढ़ी में विचार-वैपरीत्य बड़ा प्रखर था और बालमुकुन्द गुप्त से लेकर प्रेमचन्द के युग तक ऐतिहासिक महत्व के अनेक वैचारिक संघर्ष भी हुए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू बाल मुकुन्द गुप्त, मुन्शी प्रेमचन्द, पं० नन्द दुलारे वाजपेयी, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी' निराला और पाण्डेय बेचन शर्मा, 'उग्र' जैसे कृती लेखकों-विचारकों को विचार की रण-भूमि में युद्ध की भूमिका पर उतरना पड़ा था। तथापि पूर्ववती पीढ़ी साहित्य की उस उदार जमीन पर खड़ी थी जहाँ रचना की दृष्टि से सब एक दूसरे के आत्मीय थे और जहाँ वर्गीय संकीर्णता या मिथ्या अहंवाद और अस्पृश्यता की हीन भावना को आचार-व्यवहार और लेखन द्वारा तरजीह देने वाले लोग नहीं थे। कदाचित् उस पीढ़ी का औदार्य ही वह शक्ति थी जिसके बल पर अपने समय की रचनात्मक ऊर्जा को, साधन के घोर अभाव में भी, प्रेमचन्द, निराला और शिवपूजन सहाय जैसे कृती सम्पादक कायदे से विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत कर सके। आज हिन्दी में एक भी ऐसी पत्रिका नहीं है जिसे साम्प्रतिक हिन्दी की रचना और विचार की प्रतिनिधि पत्रिका कहा जा सके। इसका कारण साधन की कमी नहीं, उस औदार्य और प्रतिभा नियोजक शक्ति का अभाव है जो प्रेमचन्द की पीढ़ी की सहज शक्ति थी। आज की पत्रिकाओं की संख्या-गणना की जाय तो पहले से अधिक पत्रिकायें निकल रही हैं। सरकारी पत्रिकायें, व्यावसायिक प्रतिष्ठान से निकलने वाली पत्रिकायें और असंख्य लघु पत्रिकायें। सबके अपने आग्रह हैं, अपनी सीमा है जिसके चलते हिन्दी की रचना और विचार की-पूरी और प्रामाणित तस्वीर सामने नहीं आ पा रही है। साम्प्रतिक पत्रकारिता के आदर्श में वैसी ही भयंकर गिरावट आयी है जैसी आज के राजनीतिज्ञों के चरित्र में। लघुपत्रिका के पुरस्कर्ताओं का दावा है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने ही क्रान्तिवादी अभियान शुरू किया है। लगभग इसी तरह का गुमान व्यावसायिक प्रतिष्ठान से निकलने वाली पत्रिकाओं के सम्पादकों का है कि हम देश और दुनिया के बहुत बड़े हिन्दी भाषी समूह को साहित्य-सामग्री दे रहे हैं। इस दावे के साथ ही यह सवाल उठता है कि अपने समृद्ध साधन द्वारा व्यावसायिक प्रतिष्ठान की पत्रिकायें उस बड़े समूह में, जिस तक उनकी पहुँच है, सुरुचि और साहित्य संस्कार जगाने में कितनी कामयाब हैं तथा कुरुचि और

अपराध-भावना फैलाने में कितनी जिम्मेदार हैं ? इस प्रश्न के सही उत्तर में ही उनकी गर्वोक्ति का आधार और उनके स्वरूप वैशिष्ट्य की वास्तविक पहचान निहित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी साधनसामर्थ्य के बल पर बहुत बड़े वर्ग के साहित्य-संस्कार और सुरुचि पर हमला करना गर्व नहीं ग्लानि का विषय है। प्रेमचन्द के सामने देश का वह बड़ा वर्ग था जो गांवों में बसा है—किसानों-मजदूरों का वर्ग। नाना यातना, अन्धकार और विकट समस्या-वाहिनी से घिरे इस वर्ग का उद्धार-उन्नयन ही प्रेमचन्द की साहित्य-साधना और पत्रकारिता का एकांत उद्देश्य था। 'जागरण' की सम्पादकीय टिप्पणी में उन्होंने बड़ी साफ भाषा में लिखा, "समाज का दुखी और दुर्बल अंश उसे सदा अपनी वकालत करते हुये पायेगा।" जागरण-सम्पादक प्रेमचन्द का यह उपलब्धि-दर्प नहीं, हार्दिक साध थी जिसे पूरी करने के लिये वे निरन्तर साधना-सक्रिय रहे।

आज साध और साधना को पीछे करके छोटे-बड़े अनुष्ठान के आरम्भ में ही हम उपलब्धि-दर्प से असन्तुलित वक्तव्य देने लग जाते हैं। लघु पत्रिका-आन्दोलन के प्रणेताओं की गर्वोक्ति से हिन्दी पत्रकारिता की परम्परा पर, विशेषत: उसके आदि बिन्दु पर दृष्टि पड़ती है। स्मरणीय है, 'हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु' 30 मई, 1826 को कलकत्ता से जो पहली हिन्दी पत्रिका—'उदन्त मार्तण्ड'—निकली थी वह आज की लघु पत्रिका के पुरस्कर्ताओं की तरह ही पं० युगल किशोर शुक्ल का व्यक्तिगत आयोजन था जो हर प्रकार की, सरकारी-गैर सरकारी, सहायता से वंचित था। 'हंस' और हंस जैसी दूसरी साहित्यि-राजनीतिक पत्रिकायें भी व्यक्ति या दो-चार लोगों के सामूहिक प्रयत्न से ही प्रकाशित हुयी थीं, जिनसे साहित्य-समृद्धि में अपेक्षित सहयोग मिला था और समाज को अपने समय को समझने वाली रोशनी का साक्षात्कार हुआ था। किन्तु युगल किशोर शुक्ल से लेकर प्रेमचन्द तक में से किसी ने वैसी गर्वोक्ति नहीं प्रकट की जैसी लघु पत्रिका के नये पुरस्कर्ताओं में दिखायी पड़ती है। लघु पत्रिका के जिन लक्षणों और आदर्श-आकांक्षा की उच्च स्वर में घोषणा की जाती है उस दृष्टि से विचार करने पर 'हंस,' 'मतवाला', 'प्रतीक' और इस जाति की अनेक दूसरी पत्रिकायें क्या व्यावसायिक पत्रकारिता की श्रेणी में रक्खी जाने योग्य हैं ? यदि नहीं तो फिर लघु पत्रिका की श्लाघा-योग्य उपलब्धि क्या है ? क्या यह सच नहीं है कि उक्त आन्दोलन के चलते विप्लवी–विक्षोभक तेवर के साथ कुछ अप्रतिभ हस्ताक्षर भी उछाले जाते रहे और इस अभियान में प्रातिभ संस्कार एक अंश तक उपेक्षित रह गया ? प्रेमचन्द और उनकी पीढ़ी इस वर्गवाद और बन्धुत्व के संकीर्ण मनोभाव से मुक्त थी। हँस' में प्रेमचन्द ने पं० नन्द दुलारे वाजपेयी जैसे उस समय के अपने कट्टर विचार-विरोधी का ऐसा निबन्ध छापा था जो प्रेमचन्द की प्रगतिशील परम्परा के तथा-कथित उत्तराधिकारियों को आज निराश कर सकता है। एक नहीं, अनेक विरोधियों की रचनाओं को, विरोधी संस्कार की रचनाओं को प्रेमचन्द ने उदारतापूर्वक अपनी पत्रिका में जगह दी; नये लोगों को प्रस्तुत किया, आगे बढ़ाया। उनकी दृष्टि प्रतिभा पर थी, व्यक्ति पर नहीं। दलबाजी से वे सर्वथा मुक्त थे। प्रेमचन्द के साहित्यिक मित्रों का एक विशेष वर्ग था, जिनसे वे पारिवारिक और साहित्यिक दु:ख–सुख की बात करते थे, किन्तु अपने

मित्रों को प्रेमचन्द ने न तो अनावश्यक साहित्यक तरजीह दी और न अपने किसी साहित्यिक या गैर साहित्यिक स्वार्थ के लिये इस्तेमाल किया। साहित्यक चुनौतियों को उन्होंने अपने बलबूते स्वीकार किया और सारी लड़ाई अकेले लड़ी; अपनी रचना और धारणा के पक्ष में शुद्ध साहित्यिक मुद्रा में अपने मित्रों तक से लड़ते रहे।[1] अपनी त्रुटियों में संशोधन करते रहने का उदार संस्कार प्रेमचन्द और उनकी पीढ़ी में बहुत स्पष्ट दिखायी पड़ता है। न केवल 'हंस' बल्कि 'मर्यादा,' 'माधुरी' और 'जागरण' में प्रेमचन्द की यही उदार भूमिका रही।

उदारता ऊँचे चरित्र का लक्षण है। ऊँचे चरित्र के प्रेमचन्द[2] का पक्का विश्वास था कि साहित्य रचने के लिए 'सबसे पहली बात चरित्र चाहिए, एक पागल साधना-प्रेम चाहिए'।[3] इस 'पागल साधना-प्रेम' ने प्रेमचन्द को वह प्रातिभ-शक्ति दी जिसकी रचना के बल पर हिन्दी विश्व कथा-साहित्य के आँगन में माथा उन्नत कर खड़ी होने की समृद्धि पा सकी। पत्रकारिता, विशेषतः साहित्यिक पत्रकारिता, के क्षेत्र में प्रेमचन्द की ऐतिहासिक भूमिका के मूल में उनका महान् चरित्र ही है जो सत्य का आग्रही देश-प्रेम की चेतना से गत्वर और आम आदमी की वेदना के प्रति गहरी संवेदना से सदा स्फूर्त रहता था। 'हंस' की प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी में महात्मा गाँधी को देश का कर्णधार मानते हुए प्रेमचन्द ने 'हंस' के प्रकाशन-उद्देश्य का संकेत दिया है, "स्वाधीनता केवल मन की वृत्ति है। इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है। अब तक इस विचार ने जन्म ही न लिया था। हमारी चेतना इतनी मन्द, शिथिल और निर्जीव हो गयी थी कि उसमें ऐसी महान् कल्पना का आविर्भाव ही न हो सकता था; पर भारत के कर्णधार महात्मा गाँधी ने

---

1. द्रष्टव्य—प्रसाद के 'कंकाल' के सम्बन्ध में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखा पत्र।
2. आचार्य शिवपूजन सहाय ने प्रेमचन्द की चारित्रिक विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है, "शाम को प्रेस में दिन भर की आमदनी का हिसाब जोड़ा जाता। कर्मचारियों को रोज कुछ न कुछ देना ही पड़ता। सबकी माँग रोज नहीं पूरी होती थी। किन्तु प्रेमचन्द जी सबके सामने आमदनी का हिसाब रख देते और कहते; इतने पैसे में तुम्हीं लोग अपने और मेरे लिए ब्योंत कर दो, मुझे पान-तम्बाकू और एक्का भाड़ा भर देकर बाकी आपस में बाँट लो। उनके हँसते-हँसते ऐसा कहते सुनकर सब कर्मचारी भी हँसने लगते। फिर रुपया चाहने वाले अठन्नी पर और अठन्नी माँगने वाले चवन्नी पर ही प्रसन्नता से संतोष करते। जिस दिन मजदूरों की माँग पूरी हो जाती, उस दिन प्रेमचन्द जी बहुत प्रसन्न हो जाते थे। अपने कर्मचारियों से उनकी हार्दिक सहानुभूति थी। श्रमिक वर्ग के लिए अपनी रचनाओं में उन्होंने जो सद्भाव प्रदर्शित किये हैं, वे उनकी बोलचाल और व्यवहारों में भी प्रत्यक्ष दीख पड़ते थे। जरूरतमन्द के सामने वे अपनी जरूरतों को भूल जाते थे।"—द्रष्टव्य—शिवपूजन रचनावली, चौथा खण्ड, पृ० 210।
3. कलम का मजदूर; प्रेमचन्द—मदनगोपाल, पृ० 259।

इस विचार की सृष्टि कर दी.... ... .इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे। वह दिन देर में आयेगा या जल्द, यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है। हाँ, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द से जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहें। यही हंस का ध्येय होगा और इसी ध्येय के अनुसार उसकी नीति होगी।... ... ... 'हंस' भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर अपनी नन्हीं सी चोंच में चुटकी-भर मिट्टी लिए हुए, समुद्र पाटने—आजादी के जंग में योग देने—चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन संघ शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है, समुद्र पाटने के पहले ही इसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायेगी या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा। यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने, पर हमें ऐसा विश्वास है कि हंस की लगन इतनी कच्ची न होगी। यह तो हुई उसकी राजनीति। साहित्य और समाज में वह गुणों का परिचय देगा; जो परम्परा ने उसे प्रदान कर दिये हैं।" इस महत् उद्देश्य के प्रति प्रेमचन्द कितने जागरूक रहे, यह 'हंस' में प्रकाशित साहित्य सामग्री और विविध विषयों पर उदग्र स्वर-शैली में लिखी प्रेमचन्द की सम्पादकीय टिप्पणियों से, जिनके चलते' उन्हें अनेक बार सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा था, स्पष्ट हो जाता है। अपने आदर्श की रक्षा करते प्रेमचन्द को कितनी कठिनाइयों से गुजरना पड़ता था, अपने आत्मीय मित्रों को लिखे गये उनके पत्रों से प्रामाणिक जानकारी होती है। तथापि जीवन के अन्तिम प्रहर तक 'हंस' को जीवित रखने की चिन्ता से वे छटपटाते रहे। अपने राष्ट्रीय आदर्श को प्रेमचन्द 'हंस' के माध्यम से रूपायित कर रहे थे जैसे अपने शिल्पी–दायित्व को कथा-रचना द्वारा पूरा कर रहे थे। मानव-मुक्ति के अपने वैचारिक अभियान को प्रेमचन्द किसी मूल्य पर स्थापित करना नहीं चाहते थे। प्रतिकूल परिस्थितियाँ यदाकदा उन्हें विचलित करती थीं, किन्तु प्रत्यूह-वाहिनी के सामने अपना आत्मबल समर्पित करना उन्हें मंजूर नहीं था। राष्ट्र के बड़े स्वार्थ को ध्यान में रखकर उन्होंने 'हंस' को भारतीय साहित्य परिषद् का मुख पत्र बनाया था। कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के साथ प्रेमचन्द अवैतनिक सम्पादक के रूप में उसे सम्पादित करते थे। प्रादेशिक भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का हिन्दी में अनुवाद छापना राष्ट्रीय एकता की भूमिका-रचना का कृती आयोजन था। किन्तु नाना प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों के चलते अन्ततः भारतीय साहित्य परिषद् ने 'हंस' को बन्द करने का निर्णय लिया तो प्रेमचन्द ने उन्मथित चित्त से, अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े, अपनी पुत्री से कहा था, हँस की जमानत जमा करा दो।': रानी, 'हंस' जरूर निकलेगा, चाहे मैं रहूँ या न रहूँ।'[१] 'हंस' की जीवन-रक्षा के लिये प्रेमचन्द के मन में वही आग्रह था जिस आग्रह से उन्होंने अपनी प्राण-रक्षाके लिये भगवान को सम्बोधित किया था।[२]

अपनी छोटी आयु में 'हंस' ने जो वैचारिक–साहित्यिक भूमिका प्रस्तुत की वह पत्रकारिता सम्बन्धी प्रेमचन्द के ऐतिहासिक अवदान का प्रमाण है। 'हंस' के विशेषांक[३]

1. शिवरानी देवी—प्रेमचन्दः घर में; पृष्ठ 358
2. " " " " 352
3. आत्म कथांक, काशी अंक, आचार्य द्विवेदीः अभिनन्दन अंक

स्वत्व-सचेत प्रेमचन्द की जातीय संस्कृति के प्रति रुझान, साहित्यिकों की महत्ता की सही समझ, अग्रज पीढ़ी की महत्वाकांक्षा के प्रति उदार विवेक तथा उनकी पुष्ट परिवेश-संसक्ति का संकेत देता है। अपने समय की राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति की नब्ज के अचूक पारखी प्रेमचन्द ने 'हंस' के सम्पादकीय पृष्ठ पर साहित्येतर विषयों को उपजीव्य बनाकर तेज टिप्पणियाँ जरूर लिखीं, किन्तु अपनी साहित्यिक पत्रिका को सीमित अर्थ में कभी राजनीतिक प्रयोजन का साधन नहीं बनाया। 'हंस' के विशेषांक साहित्य-संस्कृति से इतर विषय को लेकर नहीं निकाला। उन्हें साहित्येतर विषय की निश्चित दूरी का बड़ा सही विवेक था। उनकी पत्रकारिता और कथा-साहित्य में यह विवेक कहीं कमजोर नहीं दिखायी पड़ता। अपने समय की राजनीति के प्रति जागरूक रहना और राजनीति के आदेश-निर्देश पर आँख मूदकर चलना दो स्वतन्त्र स्थितियाँ हैं। महान कथा-शिल्पी प्रेमचन्द अपने समय के प्रति सचेत थे, किन्तु ऊँचे से ऊँचे राजनीतिक या दूसरे किसी भी प्रकार के सिद्धान्त का अनुकरण और उस विजातीय प्रभाव का अपनी रचना में आरोपण उन्हें पराजय की पीड़ा से भी अधिक पीड़क लगता था। अपनी राजनीतिक टिप्पणियों में वे अपने समय के सब से प्रभावशाली राजनेता महात्मा गान्धी के लोक-मंगल मूलक कार्य-व्यापार का, साम्राज्यशाही के प्रति गान्धी जी की युयुत्सु-चेतना का और उनके नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम का समर्थन करते दिखायी पड़ते हैं। किन्तु हर विषय पर उनकी अपनी स्वतन्त्र दृष्टि थी, कृती लेखक और जागरूक पत्र-सम्पादक के रूप में वे स्वयं लोकनायक की भूमिका में सक्रिय थे।

निःसन्देह प्रेमचन्द जिस स्तर के कथा-शिल्पी थे उसी स्तर के पत्रकार थे। किन्तु साहित्य उनका धर्म था, पत्रकारिता आपद् धर्म। पत्रकारिता सम्बन्धी उनके अवदान का मूल्यांकन करते इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि सामान्य और सीमित अर्थ में प्रेमचन्द पत्रकार नहीं थे। इस अनवधानता के चलते शोध-प्रबन्ध तक में चौंकाने वाली स्थापनायें देखने में आती हैं कि" आधुनिक काल के महान साहित्यकार प्रेमचन्द अपने मौलिक विचारों और भावों के प्रकाशन के लिये यदि विचारवान पत्रकार और सम्पादक न बने होते तो उनकी कल्पनाएँ मनोरंजन का, मेला जुटाती चूक जाती। युग प्रवर्तक का श्रेय प्रेमचन्द को न मिलता।"[1] कहना न होगा कि प्रेमचन्द की पत्रकारिता सम्बन्धी महत्ता से अभिभूत होकर दी गयी यह स्थापना शुद्ध भावुकतामूलक उक्ति है। प्रेमचन्द के अवदान के मूल्यांकन में ऐसी भावुकता बाधक है ठीक वैसे ही जैसे किसान-मजदूर और अवहेलित समाज के प्रति प्रेमचन्द की उच्छल संवेदना को देखकर उन्हें मार्क्सवादी सिद्ध करने का हठ उनकी वास्तविक तस्वीर को समझने में बाधक है। चिन्तन के क्षेत्र में भावुकता और हठ का नहीं, सहज औदार्य और प्रखर विवेक का महत्व होता है। पत्रकार और विचारक प्रेमचन्द में उसी स्तर का औदार्य और विवेक था जिस स्तर की कथा शिल्पी प्रेमचन्द में प्रातिभ शक्ति और संवेदना थी।

---

1. डॉ० रत्नाकर पाण्डेय—पत्रकार प्रेमचन्द और हँस, भूमिका पृष्ठ 5

प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा

डॉ० महावीरसरन जैन *

प्रेमचन्द ने अपनी साहित्यिक यात्रा का आरम्भ आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की पगडंडी से नहीं किया। उन्होंने अरबी-फारसी भाषिक-उपादानों से अनुप्राणित उर्दू में लिखना आरम्भ किया। 'असरारे मआबिद' 'हम खुर्मा व हम सवाब' 'किसना' 'रूठी रानी' 'जलवए ईसार' 'बाजारे हुस्न' 'नाकाम' (प्रकाशित नाम-गोशए आफियत) 'चौगान हस्ती' आदि उपन्यास इसके प्रमाण हैं कि प्रेमचन्द मूलतः उर्दू साहित्यिक परम्परा के लेखक हैं। उनकी परवर्ती रचनाओं में भी उर्दू साहित्यिक परम्परा के पर्याप्त उपादान समाहित हैं।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में प्रेमचन्द ने सायास लिखना आरम्भ किया। 'बाजारे हुस्न' की रचना समाप्ति के सम्बन्ध में उन्होंने जो पत्र (दे० प्रेमचन्द चिट्ठी-पत्री भाग 1 पृ० 65) अपने मित्र श्री दयानारायन निगम को लिखा उसको पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू में नाविल को लिख लेने के बाद भी उनकी इच्छा होती थी कि उपन्यास पहले हिन्दी में प्रकाशित हो जाये।

'असरारे मआबिद' तथा 'रूठी रानी' का अनुवाद वे अपने जीवनकाल में न तो स्वयं कर सके और न अपने किसी मित्र से करा सके। अन्य उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हुए। 'हम खुर्मा व हम सवाब' का हिन्दी में अनुवाद या रूपान्तरण 'प्रेमा' शीर्षक से हुआ। यह कार्य उन्होंने स्वयं किया या अपने मित्र से कराया-यह विवादास्पद है। इतना निश्चित है कि इस समय तक उनका हिन्दी-ज्ञान नगण्य था। इसकी पुष्टि उन्हीं के पत्र द्वारा होती है (दे० प्रेमचन्द चिट्ठी-पत्री भाग 1, पृ० 36)। 'जलवए ईसार' का हिन्दी अनुवाद 'वरसान' तथा 'बाजारे हुस्न' का हिन्दी अनुवाद 'सेवासदन' शीर्षकों से हुआ। 'नाकाम' को उन्होंने हिन्दी में 'प्रेमाश्रम' के नाम से छपवाया क्योंकि उर्दू में उसके 'हश' से वे चिन्तित थे (दे० प्रेमचन्द चिट्ठी-पत्री भाग 1 पृ० 97)। यह बात अलग है कि बाद को 'नाकाम' 'उर्दू में' गोशए आफ़ियत 'नाम से प्रकाशित हुआ। चौगाने हस्ती' का 'रंगभूमि' शीर्षक से अनुवाद करते समय प्रेमचन्द ने शब्दशः अनुवाद नहीं किया अपितु उर्दू मसविदे में परिवर्तन संशोधन किऐ तथा 'रंगभूमि' प्रकाशित हो जाने के बाद उसका उर्दू में अनुवाद मुन्शी इक़बाल वर्मा' सेहर 'हथगामी' से करवाया। (दे० डा० कमर रईस – प्रेमचन्द का तनकीदी मुताअला पृ० 278)

भाषा के मामले में प्रेमचन्द शुद्धतावादी न थे। भाषा बहता दरिया है जिसमें अनेक धाराओं, स्रोतों, बरसाती नलों का पानी मिलता रहता है। इसी मान्यता के कारण उन्होंने समाज में जनप्रयुक्त विविध भाषायी रूपों एवं अपने रचना काल की विशिष्ट स्थितियों एवं परिस्थितियों तथा स्वयं की भाषिक परम्परा एवं हिन्दी में स्थान पाने की महती इच्छा के

* विश्वविद्यालय निवास गृह
पचपेढ़ी, जबलपुर

कारण संस्कृत एवं अरबी –फारसी के जन अप्रयुक्त भाषिक रूपों को भी प्रयुक्त किया है। इसी कारण उनकी भाषा वैविध्य पूर्ण है तथा शैली विविधरूपा है। इस निबन्ध में उनकी भाषा की शब्दावली के स्रोतों का ही अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। समाज में प्रचलित सभी प्रकार के शब्दों को उन्होंने प्रयुक्त किया है भले ही वे किसी भी भाषा से आगत शब्द हों।

उर्दू से हिन्दी में अनुवाद करने तथा उर्दू हिन्दी दोनों में लिखने के कारण एक ओर उनकी रचनाओं में अरबी –फारसी एवं संस्कृत के अतिवादी भाषिक प्रभाव परिलक्षित हैं तो दूसरी ओर एक ऐसे भाषिकरूप के भी दर्शन होते हैं जिसका निर्माण उर्दू की साहित्य परम्परा एवं आधुनिक साहित्य हिन्दी परम्परा की अभिव्यक्ति प्रणालियों एवं उपादानों के सम्मिलन से हुआ है। दोनों साहित्य परम्पराओं में व्याकरणिक व्यवस्थाओं एवं वाक्यीय संरचनाओं के स्तर पर भाषिक समानता होते हुऐ भी दोनों में शब्दावली एवं शैलीगत भिन्नताएँ प्रचुर मात्रा में हैं। वर्तनी तो दोनों की बिलकुल ही भिन्न है। उर्दू की साहित्यिक परम्परा ने अरबी-फारसी शब्दावली एवं शैलीगत उपादानों को अधिक स्वीकार किया है तथा आधुनिक साहित्यिक हिन्दी परम्परा ने संस्कृत तत्सम शब्दावली एवं भारतीय आर्य भाषाओं की साहित्यिक परम्परा के शैलीगत उपादानों को अँगीकार किया है। प्रेमचन्द की मान्यता थी कि हिन्दी एवं उर्दू तत्वत: एक ही भाषा के दो रूप हैं। "आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ वह लिखी जाती है दो लिपियों में और इसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं पर वह है एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है हाँ लिखने में फर्क बढ़ जाता है। "(कुछ विचार, पृ० 641) प्रेमचन्द ने दोनों साहित्यिक परम्पराओं के अभिव्यंजनात्मक उपादानों को मिला जुलाकर एक नयी भाषा-शैली का कहीं-कहीं निर्माण किया है तथा कहीं दोनों परम्पराओं के भाषिक उपादान सहज रूप से मिलजुल गए हैं। 'विपक्षियों की नेकनीयती' 'निरर्थक बकवाद' प्रफुल्ल वदन 'कटु वाक्यों की नौवत' 'विपदा की जवान' उत्तर का इन्तजार 'आखिरी पेशी की नियत तिथि' 'परीक्षा का नतीजा' 'सभी श्रेणी के मनुष्यों से साबिका' 'वात्सल्य रस में शराबोर' वैधव्य का मजा' 'मुसीबत की आकाशवाणी' प्राणियों से साबिका' 'वाक्-चातुर्य गायब' किफायत का उपदेश' मुरव्वत और मुहालिजे की कल्पना' वाजिब शर्त अस्वीकार' 'लफ्जों की झंकार' 'बयान समाप्त' 'व्यवस्था के गुलाम' 'आक्षेप का जवाब' 'लियाकत की परीक्षा' जैसी शब्द-योजना इसका प्रमाण है।

प्रेमचन्द ने दो साहित्यिक परम्पराओं को मिलाना चाहा, इसके लिए प्रयास किया तथा कहीं-कही दों परम्पराओं के गंगा जमुनी उपादान परस्पर 'मणि प्रवाल' जैसी शैली में संग्रन्थित हो गए हैं–यह तथ्य भाषिक परम्परा के इतिहास में रेखांकित करने योग्य है। इन दोनों साहित्यिक परम्पराओं के सम्मिलन से निर्मित किसी साहित्यिक परम्परा के निर्माण की चेतना यदि कभी जागृत हुई तो उसके लिए प्रेमचन्द द्वारा प्रयुक्त 'खण्डहर की टूटी महराबें, गिरी हुई दीवारें, धूल धूसरित मीनारें इन लाशों को 'देखती' जैसी वाक्य रचनायें प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेंगी।

अरबी-फारसी शब्दावली प्रेमचन्द की भाषा का अनिवार्य अग है। इस शब्दावली के प्रयोग-दृष्टि से दो प्रमुख रूप हैं :—

(1) अरबी फारसी से आगत ऐसे शब्द जो हमारे जन समाज में प्रयुक्त हैं तथा संकालिक स्तर पर हमारी भाषा के शब्दकोष के अंग हैं।

(2) अरबी फारसी के ऐसे शब्द जिनका प्रयोग अरबी फारसी साहित्य परम्परा से परिचित व्यक्तियों द्वारा होता है तथा इस परम्परा से अपरिचित बहु-संख्यक व्यक्तियों के लिए अप्रयुक्त एवं क्लिष्ट हैं।

जन प्रचलित शब्द :—

अरबी, फारसी, अरबी-फारसी तथा तुर्की के जिन प्रचलित शब्द तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों में प्रयुक्त हैं। इन्हें उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। (उपन्यासों में प्रयुक्त सम्पूर्ण शब्दों की तालिका परिशिष्ट में प्रस्तुत की जावेगी)।

क) अरबी भाषा के शब्द :—

(अ) तत्सम—अदब, अदालत, अमीर, आखिर, आदमी, आसार, इन्सान, इजाजत, इन्कार, इमारत, इलाज, ईमान, ईमानदार, औसत इत्यादि।

(आ) तद्भव—अखबार (अख्बार), अफवाह (अफ़वाह), असल (अस्ल) इकरार (इक़्रार) इज्जत (इज्जत) इरादा (इराद :), अलावा (इलाव:), इशारा (इशार:), इस्तीफा (इस्तिफा), उमर (उम्र), एतराज (ऐतिराज) कस्बा (कस्ब:) इत्यादि।

(ख) फारसी भाषा के शब्द :—

(अ) तत्सम—अंदर, अंदरूनी, अदेशा, अगर, अगरचे, अदा, अनार, आबरू, आबादी, आमदनी, आराम, आराम-तलब, आलीशान, आसान, आस्तीन, इर्दगिर्द उम्मीदवार, इत्यादि।

(आ) तद्भव—आइन्दा (आइन्द:) आईना (आईन:) आजमाइश (आज़माइश), आवाज (आवाज़), आसमान (आस्माँ), उम्मीद (उमीद), इत्यादि

(ग) अरबी-फारसी के शब्द :—

(अ) तत्सम—बेईमान, बेशक, बेशुमार, बेहिसाब, रोबदार, हराम, हैसियत, हैरान।

(आ) तद्भव—नजराना (नज़रान:), नालायक (नालाइक) फाकामस्त (फाक: मस्त), बदमाश (बदमआश), रोजीना (रोजान:), वसीयतनामा (वसीयत-नाम:) सूबेदार (सूब:दार) हरामजादा (हरामज़ाद:) इत्यादि।

(घ) तुर्की भाषा के शब्द :—

(अ) तत्सम—तलाश, नौकर, बहादुर, बेगम, सौदा

(आ) तद्भव—अरमान (अर्मान), कलगी (कल्‌गी) कुर्क (कुर्क), कुर्ता (कुर्त:) नागा (नाग) सौगात (सौग़ात) इत्यादि।

उपर्युक्त प्रकार की शब्दावली हिन्दी भाषा का अंग है तथा इसका प्रयोग प्रेमचन्द की कोई शैलीगत विशिष्टता नहीं है।

उर्दू परम्परा के लेखक होने के कारण उनकी रचनाओं में अरबी'फारसी की जन-अप्रचलित शब्दावली भी प्रयुक्त हुई हैं। 'प्रेमा' उपन्यास में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक है।

इस प्रकार के जन अप्रचलित शब्दों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

आकबत, आगाज, इमकान, इस्लाह, इस्तालुक, उलूहियत, कदीम, तनाजा, तम्बीह, तरद्दुद, तलबी, तवक्कुल, तस्कीन, तस्वीह, तावान, तौफीक, तोहीद, दंदाशिकन, दरेग, दरोगहलफी, दिलवस्तगी, दिलशिकनी, नगीच, नफ्स, नहूसत, फरागत, बदरवाह, मकरूह, मजलूमा,मजाहत, मंदील, मसहलत, मामूल, मुजाहिम, मुबाहता, रूसियाह, लकब, लास्सान, वकार, वसीका, वसीले, शरीनी, सरफराज, हकतलफी, हादिस।

सेवासदन एवं प्रेमाश्रम में उन्होंने जन अप्रचलित शब्दों के कोष्ठक में हिन्दी पर्याय भी प्रस्तुत किए हैं।

यथा :—उलूहियत (ईश्वरत्व) कनाअत (संतोष) कदीम (नित्य)

उर्दू से हिन्दी में अनुवाद करने के कारण उन्होंने संस्कृत तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। अपने पांडित्य प्रदर्शन के व्यामोह में कहीं-कहीं उन्होंने–जन अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों पर प्रायः अप्रतीत्व एवं अवाचकत्व दोष आ गए हैं। कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पड़ी है। इस प्रकार की दुरूह एवं क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग 'वरदान' में सर्वाधिक हुआ है।

यथा :—अमोदाधिक्य, अस्थिचर्मविशेष, अकृत कार्य, ऊर्ध्वगामी, क्रिमधिकम, चितोद्विग्नता, चित्तविनोदार्थ, द्वारांगण, मंडलान्तर्गत, वाक्तीक्ष्णता।

जिन स्थलों पर वे अरबी-फारसी शब्द के स्थान पर संस्कृत का उपयुक्त पर्याय प्रयुक्त नहीं कर सके हैं वहाँ अर्थ का अनर्थ हो गया है। 'कसम' के लिए 'शपथ' का प्रयोग करने के कारण ही वे जो कहना चाहते हैं उसके विपरीत अर्थ का बोध होता है—
'स्त्री ने उस दिन से अपने लड़के को मारने की शपथ खा ली'।

'परिहास' का 'उपहास' के अर्थ में तथा 'सहवास' का 'साथ-साथ वास करने' जैसे व्युत्पत्यर्थ में प्रयोग जैसे उदाहरण उनकी शब्द प्रयोग की हिन्दी परम्परा से अनभिज्ञता प्रकट करते हैं।

'रंगभूमि' के प्रकाशन के साथ उनके उपन्यासों की भाषा के स्वरूप में परिवर्तन आया है। अरबी फारसी तथा संस्कृत की जन अप्रचलित शब्दावली तथा तत्सम शाब्दिक रूपों का प्रयोग कम होता गया है। अरबी फारसी एवं संस्कृत के क्लिष्ट प्रयोगों को छोड़कर रचनाकार दोनों स्रोतों से आगत जन प्रचलित शब्द रूपों के प्रयोग की ओर आगे बढ़ता गया है। यदि संस्कृत भाषा के रूपों का प्रयोग हुआ भी है तो सोच समझकर हुआ है, त्रुटिहीन हुआ है तथा उससे उनके शब्द प्रयोग की क्षमताएँ एवं दक्षताएँ प्रकट हुई हैं। इसी प्रकार 'गबन' जैसे उपन्यास में यद्यपि अरबी-फारसी शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक

है तथापि अधिकांश शब्द जन प्रचलित हैं। जन प्रचलित शब्द-रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति 'निर्मला' 'प्रतिज्ञा' 'गबन' 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' में विशेष रूप से पहचानी जा सकती है।

जहाँ उन्होंने शहरी समाज का चित्रण किया है वहाँ अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया है। जन सामान्य में प्रचलित अंग्रेजी, पुर्तगाली आदि विभिन्न स्रोतों से आगत शब्दावली का उन्होंने प्रचुर प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक उपन्यास के 5 से 10 पृष्ठों में प्रयुक्त शब्दों का आवृत्तिपरक अध्ययन करने पर यह विस्मयकारक निष्कर्ष निकला है कि उनकी भाषा में अंग्रेजी भाषा से आगत शब्दों की संख्या अरबी फारसी शब्दावली की संख्या की अपेक्षा अधिक है। जब शहरी पात्र अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उनका उच्चारण शुद्ध एवं मानक होता है किन्तु जब ग्रामीण अशिक्षित पात्र अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उनके तद्भव रूपों का प्रयोग करते हैं। प्रेमचन्द की कृतियों में भी यह अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक ओर अर्जेन्ट, आइडियल, इनकम टैक्स, इन्ट्रोडक्शन, इन्ट्रोड्यूस, इन्डस्ट्रियलिज्म, इंस्टिट्यूशन जैसे शब्दों प्रयोग है तो दूसरी ओर अलबम, इंजिन, कमेटी, कलेक्टर, गिलास, जन्टलमेन जैसे प्रयुक्त हैं। कुछ शब्दों की वर्तनियों के दो रूप प्रेमचन्द साहित्य में उपलब्ध हैं। यथा :—'कालिज। कालेज, डिगरी। डिग्री, सुपरिण्टेन्डेण्ट। सुपरिन्टेण्डेण्ट, सेक्रेटरी। सैक्रेटरी।

शहरों के उच्चवर्गीय समाज के कृत्रिम वातावरण की अपेक्षा प्रेमचन्द ने भारतीय ग्रामीण समाज के यथार्थवादी जीवनानुभव एवं सामाजिक सत्य के उद्‌घाटन का अधिक प्रयास किया है। इस दृष्टि से उनके 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' एवं 'गोदान' अधिक उल्लेखनीय हैं जिनमें ग्रामीण जीवन के चित्रण पर अधिक बल दिया गया है। भाषिक धरातल पर भी उन्होंने भावाभिव्यक्ति को प्रभावशाली एवं यथार्थवादी बनाने के लिए किसानों एवं मजदूरों के कच्चे आँगनों में बोली जाने वाली माटी की गन्ध से सिक्त जनपदीय एवं देशज शब्दावली का प्रयोग किया है। भाषा के संबंध में उनका दृष्टिकोण आभिजात्यमूलक न होकर जनवादी है। उन्होंने इस संबंध में अपने विचार भी व्यक्त किए हैं। 'भाषा बोलचाल की लिखनी चाहिए जिसमें तद्भव एवं सर्वसाधारण में प्रचलित विदेशी शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हो।' (कुछ विचार पृ० 141) उनकी भाषा का सर्वाधिक प्रभावी आयाम इसी जनभाषा का है। रोमानी भाव-संवेदना के अनुकूल कोमलकान्त, मधुर, संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान शब्दावली तथा सूक्ष्म एवं अमूर्त उपमान योजना, प्रतीक योजना एवं बिम्ब योजना के लाक्षणिक प्रयोगों से भरपूर भाषा के द्वारा जिस समय काव्य रचना हो रही थी उस समय जीवन के समानान्तर चलने वाली जीवन्त स्पन्दनों से अनुप्राणित 'जनभाषा' के प्रचुर तत्वों से निर्मित 'कथा–भाषा' के निर्माण की ऐतिहासिक आवश्यकता को प्रेमचन्द ने पहचाना। पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण समाज के जीवन में जो तद्भव प्रधान अभिव्यंजक शब्दावली प्रयुक्त होती है उसके आधार पर उन्होंने भाषा का निर्माण कर उपन्यासों एवं कहानियों को काल्पनिक एवं तिलस्मी दुनिया से निकालकर ठेठ देहाती जीवन की यथार्थवादी भूमि पर प्रस्थापित किया। उनकी भाषा निर्माण की यात्रा लोकोन्मुखी होती गयी जिसका श्रेष्ठतम उदाहरण "गोदान की भाषा" है। प्रेमचन्द की भाषा के मूल एवं

केन्द्रीय स्वरूप एक ओर संस्कृत के तद्‌भव एवं जन–प्रचलित शब्द रूप हैं तथा दूसरी ओर देशज शब्दावली भी अपना आसन जमाए हुए है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

1. तद्‌भव एवं जन प्रचलित शब्द रूप:

असगुन, आग, आंगन, आँच, आस, औतार, करम, कल्यान, कुमानुस, गाहक, गुन, चरचा, चरन, छन, जती, जतन, जनम, जस, जै, जोगी, जोतसी, जोधा, तीरथ, दुरगत, धरम, निछावर, निठुर, निवाह, निरलज, परचार, परजा, परतच्छ, परशाद, परान, पुन्न पूरब, पौरुख, बरस, बिनती, बैद, भगती, भेद, मस्तक, मानुस, मूरत, राज, रात, रिन, लाज, सन्देसा, सपना, सपूत, सुन्दर, सराध, साँझ, सान्त, सिंगार, सिरी, सुदेशी, सुनहरी, सूरज, ।

2. देशज शब्दावली:

अगोरना, अपाढ़, औगी, उटंग, उड़ंछू, उड़नघाई, किरटें, खंखड़, खजबजा, खटराग, खल्वाट, खुचड़, गच्चा, गपड़गोंथ, गबरू, गलचोर, गौन्खा, चौदरी, घनचक्कर, घाघ, घामड़, घिग्घी, घुड़की, घोंघाबसन्त, चरवौतिया, चघड़, चपरगट्टु, चरकटा, चुटैल, चुमकार, छबड़ी, छितिर–बितिर, छुट्टे, जटना, जाकड़, झमकड़ा, टुइयाँ, टर्रो, टिक्कड़, टुट पुंजिया, ठस्सो, तीता, दई, दलेल, दुहतड़, दोहत्थर, नकघिसनी, निगोड़ा, निहोरा, पखियाँ, पलेथन, पहलौठी, पिटौवल, पिट्टस, पुछ्तर, पोंगा, पौढ़, फरफन्द, फिचकुर, बगटुट, बतबढ़ाव, बदहवास, बपुरी, बमचख, बम्बूक, बलैया, बिलाय, बिसूरा, बौखल, बौड़म, बौरी, बौरे, भकाभक, भन्ना, भम्भड़, भरभन्ड, भिनसार, भुक्खड़, भुग्गा, भुन्नास, भुरकुस, मधावट, मरभुक्खे, माहुर, मुई, रगेटा, रमझल्ला, रहैया, रार, रिमियाँ, रिसा, लगेतेगे, लग्गा, लड़कोरी, लबारिए, लल्लोपत्तो, लुगइया, लैनडोरी, लौंदा, शिप्पा, सुमा, सौंह, हकबका, हतेरे, हरबोंग, हियाव, हुमच, हौवा।

इस निबन्ध में केवल शब्दावली–विवेचन ही किया गया है। भाषा को व्याकरणिक व्यवस्थाओं, वाक्यीय संरचनाओं एवं रचनात्मक प्रत्ययों के स्रोतों के सम्बन्ध में भी कमोवेश यही स्थिति है।

यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं जनवादी था। वे जन सामान्य के बीच बोली जाने वाली भाषा के हिमायती थे। इस कारण उन्होंने क्षेत्रीय उप–भाषा रूपों का प्रयोग किया है। उन्होंने अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, हिन्दी तथा उपभाषाओं–भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी आदि स्रोतों से भाषिक उपादानों को ग्रहण किया है। उनमें भाषा निर्माण की मौलिक क्षमता भी है जिसके कारण उन्होंने अनेक मौलिक शब्द रूपों का निर्माण किया है। इस दृष्टि से 'जुर्मानालय' एवं 'लेवता 'शब्द–प्रयोग द्रष्टव्य हैं। आरम्भ में वे उर्दू परम्परा के ही लेखक थे, उन्हें हिन्दी का ज्ञान बहुत कम था तथा हिन्दी की परम्परा से वे उतने परिचित न थे जितना एक रचनाकार को होना चाहिए। उन्होंने भाषा को संवारने की ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया। इन्हीं कारणों से उनकी भाषा में कहीं-कहीं अनुपयुक्त शब्द विधान एवं अनियमित एवं अपमानक भाषिक–प्रयोग परिलक्षित हैं। उनके भाषा–व्यक्तित्व में एक

अन्तर्विरोध भी मिलता है। जनवादी एवं सरल भाषा-नीति के समर्थक होते हुए भी वे कहीं-कहीं सायास, प्रयत्नज, क्लिष्ट संस्कृत तत्सम शद्ब रूपों का प्रयोग करते हैं। उर्दू से हिन्दी में आने के समय सम्भवत: उन्हें यह आवश्यकता प्रतीत हुयी होगी कि बिना संस्कृत पर अधिकार प्रदर्शन किए हिन्दी के साहित्यकारों की पंक्ति में मूर्द्धन्य स्थान बना पाना कठिन होगा। इसी कारण आरम्भिक रचनाओं में पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक है। उनकी साहित्यिक यात्रा में यह अन्तर्विरोध कम होता गया है, संस्कृतीकरण एवं अरबी-फारसीकरण के अतिवादी प्रभावों का वेग कम होता गया है, हिन्दी भाषा क्षेत्र की जन प्रयुक्त भाषा-धारा का प्रवाह तेज होता गया है।

प्रेमचन्द और यथार्थवाद

डॉ० अम्बादत्त पाण्डेय *

महान कलाकार की हैसियत से प्रेमचन्द वादों और पूर्वाग्रहों से मुक्त थे। किसी विशिष्ट विचारधारा के प्रति भी उनमें आग्रह नहीं था। परन्तु विशिष्ट जनासक्ति के प्रति वे समर्पित थे; उनकी रचनाओं का आधार जनाधार था। युग की पहचान उन्होंने मार्मिक दृष्टि से की थी और युग निर्माण की स्वस्थ प्रक्रियाओं से वे सतत रूप से जुड़े हुए थे। इतिहास निर्माण की वेगवती धाराओं तथा उनके दृष्टिकोण में अद्भुत साम्य था। उनका समूचा साहित्य समकालीन इतिहास को वैज्ञानिक यथार्थवाद का आधार प्रदान करता है; दूसरे शब्दों में समकालीन इतिहास को समझने के लिये उनकी रचनाओं से अधिक विश्वसनीय और प्रमाण सम्मत स्रोत और क्या हो सकता है? रचनात्मक साहित्य से सम्बद्ध यह प्रामाणिकता यदि इतिहासकार को भ्रामक और असंगत लगे तो वह प्रेमचन्द–साहित्य में से विभिन्न वस्तु–स्थितियों का चयन कर उन्हें ऐतिहासिक बाना पहना सकता है। फिर इतिहास बोध का विकास शुष्क इतिहास की पुस्तकों के अतिरिक्त तद्युगीन रचनात्मक साहित्य भी करता है।

प्रासंगिकता !

प्रेमचन्द–साहित्य में निहित इतिहास बोध भविष्य निर्माण की स्पष्ट रूपरेखा से जुड़ा हुआ है। उसका सम्बन्ध कोरी समकालीनता से अधिक उज्ज्वल भविष्य के निर्माण की स्वस्थ कल्पना से है। यही कारण है कि प्रेमचन्द आज भी उसी तरह प्रासंगिक हैं जिस तरह वे अपने दिनों में थे। बल्कि उनकी प्रासंगिकता और भी प्रखर बनती जा रही है और जब तक सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में आमूल चूल परिवर्तन नहीं होगा उनकी प्रासंगिकता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

प्रेमचन्द के बारे में अधिकांश अभिमत अत्यन्त सरलीकृत रूप से व्यक्त किये गये हैं। उनके समूचे रचना संसार के विकास की गति और दिशा सही रूप में पहचानी जानी चाहिये, कला वादियों के इस घृणित प्रचार का कि प्रेमचन्द दूसरे दर्जे के लेखक थे मूलोच्छेदन करना सबका दायित्व बन जाता है। प्रेमचन्द के रचना संसार के विकास की कहानी ही वैज्ञानिक यथार्थवाद की कहानी है जो 'सोजे वतन' और 'सेवा सदन' से आरम्भ होकर गोदान तथा 'मंगल सूत्र' में परिपक्व हो जाती है।

प्रेमचन्द ने बड़े-बड़े प्रश्नों के समाधान पर दृष्टि रखी। जीवन में व्याप्त विभिन्न प्रकार की अस्वाभाविकताओं को उन्होंने बारीकी से विश्लेषित किया था। लखनऊ में आयोजित 'प्रगतिशील लेखक संघ' के पहले अधिवेशन में दिये गये अपने भाषण में उन्होंने साहित्य के उद्देश्य को स्पष्ट किया "साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है"? भाषा, जाति

* हिन्दी विभाग, जी० डी० सलवान कालेज,
दिल्ली विश्व विद्यालय, नई दिल्ली

और वर्गगत संकीर्णताओं से जीवन अस्वाभाविक हो जाता है और स्वाधीनता मनुष्य को सब प्रकार के शोषणों से मुक्त करती है। 'स्वाभाविक' और स्वाधीन—इन दो शब्दों में निहित सत्यम् और शिवम् से मंडित सौन्दर्य को उन्होंने अपनी कृतियों में उँडेला था। उनका दृढ़ अभिमत था "साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है"[१] इसीलिए "प्रगतिशील–लेखक–संघ" नाम उन्हें पसन्द नहीं आया।

प्रेमचन्द यथार्थवाद के किसी स्कूल में दीक्षित नहीं हुए थे। परन्तु परम्परा को नवीन स्वरूप और सदर्भ प्रदान करते हुए उन्होंने जिस प्रकार विभिन्न कथा सूत्रों को कार्य कारण शृंखला से संग्रथित किया; समाज के नव निर्माण के आधार पर मानव मात्र की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया वह स्वतः यथार्थवाद का स्वरूप ग्रहण कर ले तो क्या आश्चर्य। एक सच्चे यथार्थवादी की तरह प्रेमचन्द ने व्यक्तिगत दृष्टिकोण की रक्षा करते हुए समाज का वस्तुपरक चित्रण किया। इसे कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों में अन्तर्विरोधात्मक स्थिति का परिचायक बताया है। 'रंगभूमि' में औद्योगीकरण के प्रति अनास्था अथवा नारी के प्रति प्रेमचन्द का अस्पष्ट दृष्टिकोण इसके उदाहरण बताये जाते हैं। सूरदास का अन्धत्व तथा उसके स्वयं की हार की घोषणा विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थ का द्योतन करते हैं। पाठक अटकल लगा सकता है कि गांधीवाद की विफलता के रूप में कहीं यह औपन्यासिक कला के निखार का सफल प्रयास तो नहीं है। क्योंकि प्रकारान्तर से प्रेमचन्द के उपन्यासों में मोहभंग के जो विभिन्न चरण तथा मुद्राएँ हैं उनका सम्यक् विश्लेषण किया जाय तो अन्तर्विरोधात्मक आभास का स्वतः निराकरण हो जायगा। जहाँ तक नारी का प्रश्न है, प्रेमचन्द उसकी मुक्ति के प्रबल समर्थक थे। नारी को वे पावन, प्रखर और ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान करना चाहते थे। 'गबन' की जालपा हो या 'गोदान' की मिस मालती अथवा कोई भी नारी पात्र, सिलिया और धनिया ही क्यों न हों सभी व्यक्तित्व की उक्त गरिमा से सम्पन्न हैं। उसके भविष्य का निश्चित स्वरूप निर्धारित करना प्रेमचन्द का काम नहीं था। नारी को सामन्ती पंकिलता से उबारने में ही प्रेमचन्द को सारी शक्ति लगानी पड़ी थी। प्रेमचन्द अपने आप में स्पष्ट थे। किसी भी प्रभाव अथवा परिस्थिति का साथ उन्होंने तभी तक दिया जब तक वह संगति परक ढंग से खप सकती थी। औद्योगीकरण के प्रति अनास्था (रंगभूमि) का यह भी एक कारण हो सकता है कि विदेशी पूँजीवाद और देशी पूँजीवाद के बीच एक प्रकार की साठ गाँठ थी और राष्ट्रीय बुर्जुवा वर्ग एक ओर आम जनता के हितों से विमुख था दूसरी ओर उसने स्वाधीनता आन्दोलन को समर्थन दिया भी तो अपने ही विशिष्ट हितों को दृष्टि में रखकर; स्वाधीनता प्राप्ति के बाद अपने स्वर्णिम भविष्य के निर्माण की कल्पना से विभोर होकर। आम आदमी अविश्वास और अनिश्चितता की देहरी पर खड़ा था। औद्योगीकरण से शोषण की एक नयी चक्की उसके लिये तैयार होती। किसान की दुर्दशा से ही प्रेमचन्द इस कदर विचलित थे।

प्रेमचन्द ने प्रकृतिवादियों के फोटोग्रैफिकल चित्रण तथा मनोविश्लेषण वादियों की व्यक्तिपरकता से विलग ऐतिहासिक वस्तुपरकता का सापेक्ष रास्ता खोज निकाला था जिसे लुकाच ने तीसरा रास्ता बताया था, "यथार्थवाद मिथ्या वस्तुपरकता तथा मिथ्या व्यक्ति

परकता के बीच का कोई मध्य मार्ग नहीं है, वरन् इसके विपरीत वह हमारे समय की–भुलैया में बिना किसी नक्शे के भटकने वाले लोगों द्वारा गलत रूप में प्रस्तुत किये गये प्रश्नों के फल: स्वरूप उत्पन्न समस्त प्रकार के झूठ असमंजसों के विरुद्ध सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचाने वाला एक तीसरा रास्ता है।" [3] प्रेमचन्द के समकालीन लेखकों की कृतियों के अध्ययन के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जायगी। जिनमें से अधिकांश 'साहित्य उद्देश्य' के प्रति प्रेमचन्द की तरह समर्पित और प्रतिबद्ध न थे। कहीं यथा स्थिति वाद के दर्शन होते हैं तो कहीं प्रकृतिवाद के, अन्यत्र मार्मिक घटनाओं के उद्घाटन का प्रयास तो है पर अविश्वसनीयता के आधार पर; कहीं महज फोटोग्रैफिकल चित्रण है तो कहीं यथार्थ का नग्न स्वरूप या फिर सनसनीखेजपूर्ण चित्रण। प्रेमचन्द अपनी रचनाधार्मिता को उस विन्दु तक ले गये जहाँ समस्याओं की व्यक्तिगत समझ और वस्तुपरक चित्रण में नाम मात्र अन्तर रह जाता है। यथार्थवादी आलोचक बोरिस सुखोव ने इसे इस प्रकार समझाया है–"जबकि यथार्थवाद सामाजिक परिवेश तथा कार्य कारण सम्बन्धों के विश्लेषणार्थ अपनायी गयी वह रचनात्मक विधि है जिसके आधार पर वास्तविकता का वस्तु परक चित्रण होता है; हर यथार्थवादी लेखक की अपनी नितान्त वैयक्तिक विश्व दृष्टि भी होती है। घटनाओं के प्रति उसकी दृष्टि और जीवन तथा इतिहास के प्रति उसकी समझ, समसामायिक सामाजिक संघर्ष जिसमें वह आवश्यक रूप से भाग लेता है, के प्रति उसकी प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करती है"। [4] लेखक की जुझारू प्रवृत्ति को यह कथन संकेतित करता है। प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया था "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो,' जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो' हम में गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण" है। [5]

मोहभंग की मुद्रा

मोह भंग की विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि को साफ तौर से समझा जा सकता है। जो भी विचारधारा प्रगतिशीलता को लेकर पनपी प्रेमचन्द उससे प्रभावित हुए पर जैसे ही वह उन्हें अत्यवहार्य लगी, वे उससे अलग हो गये। आर्य समाज ने अपने प्रगतिशील चरण में सुधारवादी दृष्टि अपनायी थी और प्रेमचन्द ने उसे पुरजोर समर्थन दिया। पर शुद्धि आन्दोलन तक आते-आते उसकी सारी प्रगतिशीलता समाप्त हो गयी और प्रेमचन्द उसकी भर्त्सना करने में भी नहीं चूके। 23 अप्रैल 1923 को दयानारायण निगम को उन्होंने पत्र भेजा—"शुद्धि पर एक मुख्तसर मजमून लिख रहा हूँ। मुझे उस आन्दोलन से सख्त इख्तिखफ (मतभेद) है। तीन चार दिन में भेजूंगा। आर्य समाज वाले भिन्नायेंगे। लेकिन मुझे उमीद है कि आप इस मजमून को 'नमाने' में जगह देंगे" [6] बाद में यह लेख "कहनुरिजाल" (अच्छे इन्सानों का अभाव) शीर्षक से छपा था। वे इसमें लिखते हैं "अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी इस आन्दोलन से अलग-थलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ उठा नहीं रखी। इतना ही नहीं एक भी जिम्मेदार कांग्रेसी नेता ने घोषणा करके इन आन्दोलनों के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत नहीं की"। [7]

जिस गान्धी के दर्शन से प्रेमचन्द "जैसा मरा आदमी भी जी उठा था" (शिव-रानी देवी) उसके प्रति प्रेमचन्द का ऐसा जबरदस्त मोह भंग हुआ कि 'गोदान' तक आते आते उन्होंने देश में सफल नेतृत्व के पीछे बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न लगा दिया। ऐसा अकारण नहीं हुआ। दलित और शोषित किसानों को पहली बार गान्धी के रूप में (1920) एक सच्चा नेता मिला था जिस पर वे भरोसा कर सकते थे। संगठित होकर अपनी न्यायपूर्ण माँगें प्रस्तुत करने का अवसर लम्बी यातना के बाद उनके हाथ लगा। प्रारम्भ में गान्धी ने किसानों को असहयोग आन्दोलन के लिये प्रोत्साहित और संगठित किया। परन्तु चौरी-चौरा कान्ड (4-2-1921) जिसमें क्रुद्ध किसानों ने 21 सिपाही तथा एक थानेदार के अवयस्क लड़के को जिन्दा जला दिया था, के बाद सम्भवतः कुछ भारतीय रासपुटिनों से प्रेरित होकर गान्धी जी ने असहयोग आन्दोलन अप्रत्याशित रूप से स्थगित कर दिया और किसानों के नेतृत्व से अपना हाथ खींच लिया। यहीं से किसान आन्दोलन का दूसरा चरण (1922–46) 'किसान सभा' और 'एका आन्दोलन' के जन्म के रूप में आरम्भ होता है। "The vacillating conduct of the Congress Leaders which culminated in the betrayal of the masses led to the growth of independent peasant movements in various parts of the country. For instance the Peasant movement in Oudh Produced its own leaders and Put forward its own demands Which radically differed from those of the Indian National Cangress. tbe new organisation of the Union of Peasants against Land lords became Popular and was Known as EKA', प्रेमचन्द ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट संकेत दिये हैं कि कांग्रेस में ऐसे लोग भर्ती हो गये हैं जिनकी नजर केवल अपने स्वार्थों पर है—आजादी से पूर्व भी और आजादी प्राप्ति के बाद भी। ये नेता अक्सर कहा करते थे कि कांग्रेस का तुरन्त अर्जनीय लक्ष्य (बिना जन सामान्य का विश्वास प्राप्त किये) आजादी की प्राप्ति है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि जन-सामान्य का विश्वास किये बिना, उसे शामिल किये बिना, यदि कोई आन्दोलन सफल हो भी गया तो उससे प्रभुत्वशाली वर्गों को ही लाभ पहुँचेगा। हमारी आजादी से केवल इतना ही अन्तर पैदा हुआ कि सत्ता पर "जॉन की जगह गोविन्द" बैठ गया। प्रेमचन्द की भविष्यवाणी साकार हुई। "वह (प्रेमचन्द) बराबर कोशिश कर रहे थे कि आजादी का आन्दोलन किसानों की बुनियादी समस्याओं को अपने अन्दर से समेट ले, वह अंग्रेजी राज के शोषण चक्र पर वार्निश करने के बदले उसे जड़ से खोदकर फेंक दे"।[९]

आम व्यक्ति से तादात्म्य :—भारतीय किसान के साथ प्रेमचन्द ने तादात्म्य स्थापित कर लिया था। यह उनके युग की स्वस्थ प्रगतिशीलता थी। "एक ऐसी परिस्थिति में जब किसानों को बिना जागृत किये राष्ट्रीय संघर्ष का कोई भविष्य नहीं था जब कृषि क्रान्ति का मुद्दा प्रमुख होकर सामने आ गया था तब कोई आश्चर्य की बात नहीं कि किसानों के अपनी पक्षधरता के चलते जनवादी सवालों पर प्रेमचन्द ने एक संगतिपूर्ण रुख अपनाया"।[१०] यथार्थ के चित्रण का ढंग प्रेमचन्द का अपना था जिसे निर्माण धर्मी यथार्थांकन कहा जा सकता है। उन्होंने जीवन की अस्वाभाविक स्थितियों एवं दुष्प्रवृत्तियों के प्रति तीव्र घृणा

व्यक्त की थी। इसके लिये सभी धर्मों-सम्प्रदायों के ठेकेदारों को एक ही लाठी से हांका था। शुद्धिवादी हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी वजह से परेशान थे। परन्तु उनके कादिर मियाँ मिर्जाशेंद, पठानिन, सकीना सिलिया, मुन्नी और स्वामी आत्मानन्द (कर्म भूमि) उनसे प्रसन्न हैं। उन्होंने दुष्प्रवृत्तियों के प्रति योजना बद्ध तरीकों से घृणा व्यक्त की थी। वह चाहे उपन्यास के माध्यम से हो या कहानी के माध्यम से या फिर लेखों के जरिये। "पाखन्ड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचन्ड घृणा होगी उतनी ही कल्याणकारी होगी। घृणा के शिथिल होने से ही हम बहुधा स्वयं उन्ही बुराइयों में पड़ जाते हैं और स्वयं वैसा ही घृणित व्यवहार करने लगते हैं"।[११] वर्गीय चेतना के प्रसार का इससे अधिक कारगर तरीका क्या हो सकता है। उनके शोषित पात्रों में सभी मजहबों के लोग हैं। उनका आपसी प्रेम-आत्मीयता देखने योग्य है। वे आपस में बंधे हैं तो केवल इनसानियत एव चारित्रिक उच्चता के पावन सूत्र से; धर्म, सम्प्रदाय, भाषा एवं प्रदेशगत संकीर्णताओं की छाया भी उनके आपसी सम्बन्धों पर नहीं पड़ती।

गोबर पहली बार शहर से गांव जा रहा था। उसके पड़ोसियों का प्रेम देखने योग्य है। भूरे तांगे वाले को खुशी थी कि वह अपने दोस्त को पहुँचाने जा रहा है। उसने गोबर से कोई पैसा नहीं लिया। "गोबर ने सबको राम-राम किया। हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे, सभी में मित्र भाव था, सब एक दूसरे के दुख-दर्द के साथी थे। रोजा रखने वाले रोजा रखते थे। एकादशी रखने वाले एकादशी। कभी-कभी विनोद भाव से एक दूसरे पर छींटे भी उड़ा लेते थे। गोबर अलादीन की नमाज को उठा-बैठी कहता, अलादीन पीपल के नीचे स्थापित सैकड़ों छोटे-बड़े 'शिव-लिंग को बटखरे बनाता; लेकिन साम्प्रदायिक द्वेष का नाम भी न था। गोबर घर जा रहा है सब उसे हँसी-खुशी विदा करना चाहते हैं।"[१२] आत्मीयता गरीबों में ही मिलेगी। पूंजी के प्रसार से आत्मीयता नष्ट हो जाती है। अमीरों में केवल वाह्य शिष्टा-चार होता है। गहरी सहानुभूति व सच्ची मानवीय संवेदना उनमें कहाँ? वे आपसी सम्बन्धों को स्वार्थ की तुला पर तौलते हैं। राय साहब होरी से कहते हैं "सम्पत्ति और हृदयता में बैर है। हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन जानते हो क्यों? केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए। हमारा दान और धर्म कोरा है, विशुद्ध अहंकार। हममें से किसी पर डिग्री हो जाय, कुर्की आ जाय, बकाया मालगुजारी की इल्लत में हवालात हो जाय, किसी का जवान बेटा मर जाय, किसी की विधवा बहू निकल जाय, किसी के घर में आग लग जाय, कोई किसी वेश्या के हाथों उल्लू बन जाय या अपने असामियों के हाथों पिट जाय तो उसके और सभी भाई उस पर हसेंगे, बगलें बजायेंगे मानो सारे संसार की सम्पदा मिल गई है। और मिलेंगे तो इतने प्रेम से, जैसे हमारे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हैं"।[१३]

आदर्श और यथार्थ

जिन आलोचकों ने प्रेमचन्द को आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी लेखक घोषित किया उनमें नन्ददुलारे बाजपेयी अग्रणी हैं। प्रेमचन्द ने स्वयं भी स्वीकार किया था कि वे आदर्शोन्मुखी

यथार्थवाद को प्रश्रय देते हैं। परन्तु इन दो स्थितियों में बहुत बड़ा अन्तर है। जिस आदर्श से प्रेमचन्द का अभिप्राय था उसे बहुत कम समझा गया है। प्रेमचन्द के लिये आदर्श यथार्थ से और आगे की अर्थात् अन्तिम स्थिति थी। जिसे उन्होंने नव निर्मित समाज की ठोस धरा पर स्थापित करना चाहा। उनका आदर्श था वर्ग भेद रहित भेद भावहीन समाज की स्थापना जिसमें धर्म, सम्प्रदाय आदि गौण बनकर रह जाँय और आम आदमी की खुशहाली अधिक से अधिक उभर सके। उनके आदर्श का सम्बन्ध वायवी कल्पना से नहीं था हालांकि 'सेवा सदन' तथा 'गबन' में वेश्या वृत्ति के जिस समाधान की ओर संकेत है या जहाँ तक 'प्रेमाश्रम' के आदर्श आश्रम की चर्चा है उसे लेकर कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द के आदर्श की अत्यवहार्यता सिद्ध करने की कोशिश की है। ऐसा असावधानी या अल्पज्ञता वश किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों अथवा कहानियों के माध्यम से जिन-जिन समस्याओं की विशद चर्चा की है उनके समाधान को उन्होंने अधिक महत्व नहीं दिया। उन्होंने अपनी सारी शक्ति इस बात पर लगा दी थी कि कोई समस्या पैदा कैसे होती है और उसके उग्र रूप धारण करने में किन-किन तत्वों तथा परिस्थितियों का हाथ होता है। प्रेमचन्द की सफलता इस बात पर आश्रित नहीं है कि उन्होंने कैसा समाधान प्रस्तुत किया है, बल्कि इस बात पर है कि उन्होंने हर समस्या का वैज्ञानिक एवं इतिहास सम्मत विश्लेषण किया है। उनके विश्वसनीय एवं वस्तु परक विश्लेषण विधि के आधार पर ही किसी भी व्यवहार्य समाधान की रूप रेखा तैयार की जा सकती है। प्रेमचन्द के पास सत्ता की अपार शक्ति तो थी नहीं कि वे मनचाहा समाधान दे पाते। समाज की मौजूदा व्यवस्था जैसी थी समाधान प्रस्तुत करते समय उन्होंने उसी को दृष्टि में रखा होगा। उन्होंने आदर्श चरित्रों पर जोर दिया पर उनका आदर्शीकरण नहीं किया। ऐसा करने से उनके यथार्थ की मर्यादा नष्ट हो जाती, प्रेमचन्द के आदर्श और यथार्थ में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। दोनों को समन्वय के खतरे से भी उन्होंने बचाया। उनका आदर्श 'आइडियल' से अधिक 'आइडिया' से जुड़ा हुआ था। यदि आइडिया की आधार भूमि विश्वसनीय है तो वह यथार्थ चित्रण के सहारे व्यवहार्य समाधान (आइडियल) तक पहुँचा सकता है। यदि प्रेमचन्द के समाधान अव्यवहार्य हैं तो हमें समाज के ढाँचे को ही बदलना होगा हम पायेंगे कि नवनिर्मित समाज के स्वरूप और प्रेमचन्द के वस्तुपरक विश्लेषण विधि में अद्भुत साम्य है।

भाषा

भाषा के प्रश्न को लेकर प्रेमचन्द ने जिस प्रकार की व्यवस्था स्थापित की थी उसकी घोर उपेक्षा की गयी। उनकी भाषा का सम्बन्ध न उर्दू से था और न हिन्दी से। उनकी भाषा मनुष्यता की भाषा थी, आम आदमी की भाषा थी। वे जितने हिन्दी वालों के हैं उससे अधिक उर्दू वालों के रहे। पराधीन भारत में हिन्दी-उर्दू का लम्बा विवाद चला। प्रेमचन्द उससे सुपरिचित थे। दर असल जब-जब हिन्दू तथा मुसलमानों में राजनीतिक अथवा भाषा गत मतभेद रहे आम जनता (जिसमें दोनों थे) से उसका कोई सरोकार न था। वह तो पेट की भाषा जानती है; प्रेम और सहयोग की भाषा जानती है। असगर अली इन्जीनियर ने इस बात को 'इम्प्रिट' में छपे अपने हाल के लेख में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है "मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि उर्दू बोलने वाले विशिष्ट लोग केवल मुसलमान नहीं थे

बल्कि हिन्दू-मुस्लिम दोनों थे । इस विशिष्ट वर्ग के लोग जमींदार, तालुकदार तथा उनपर आश्रित कायस्थ आदि थे । इस भाषाई विवाद (हिन्दू चाहते थे कि फारसी लिपि की जगह देवनागरी का प्रयोग किया जाय) के कारण विशिष्ट वर्ग के दोनों फिरकों (हिन्दू-मुसलमान) के आपसी सम्बन्ध बिगड़ते चले गये ।[१४] इंजीनियर यह सिद्ध करना चाहते हैं भाषागत विवाद केवल उच्च वर्ग तक सीमित था और धीरे-धीरे यह जहर अन्य स्तरों पर भी फैल गया । इस राष्ट्र की भाषा कैसी हो इस पर प्रेमचन्द के विचार स्पष्ट थे—"जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है । शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है । जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती । जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी" ।[१५] प्रेमचन्द के पात्र शब्दजाल या अलंकृत भाषा में आस्था नहीं रखते । वे ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसके माध्यम से हार्दिकता, सहयोग, सहानुभूति और प्रेम का परस्पर प्रसार होता और जो यथार्थ के चित्रण में सबसे अधिक कारगर सिद्ध होती है । उनकी भाषा समाज में व्याप्त अन्तर विरोधों तथा मतभेदों को दूर करने में सक्षम है । विभिन्न भाषा-भाषी पात्रों का मिलन एक ही दिशा को उजागर करता है कि उनकी साझी समस्याएँ क्या हैं और उनका समाधान कैसे ढूंढ़ा जा सकता है । भाषा को उन्होंने केवल विचारों की वाहिनी नहीं बनाया बल्कि उसके माध्यम से इस बात को बार-बार स्पष्ट करने की कोशिश की है कि हमारी वेदना का विस्तार कैसे हो, जन सामान्य के दुखों तथा संघर्षों को विश्वसनीय आधार कैसे प्रदान किया जाय और सभी प्रकार की कृत्रिमताओं को नष्ट करके चारित्रिक उत्थान का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया जाय ।

साम्प्रदायिक एकता

समाज के ढांचे को दृष्टि में रखकर ही प्रेमचन्द ने अनेक मजहबों–सम्प्रदायों के पात्रों को अपने रचना–संसार में स्थान दिया । प्रातिनिधिकता की यह कसौटी एक यथार्थवादी लेखक को अपनानी पड़ती है । समाज के स्वरूप का यथार्थ परिचय इससे प्राप्त होता है । उनके पात्र भाषा जाति धर्म आदि के प्रश्नों को कहीं भी नहीं उठाते । वे अपनी समस्याओं पर विचार करते हैं और शोषकों के प्रति क्रोध व्यक्त करते हैं । जनता के शोषक सभी हैं—हिन्दू भी, मुसलमान भी ईसाई भी और अंग्रेज भी । जिस प्रकार भाषाई विवाद को समाज के विशिष्ट वर्ग ने जन्म दिया, साम्प्रदायिक विद्वेष को भी उसी वर्ग ने बढ़ावा दिया । कट्टर पंथी दोनों थे हिन्दू भी और कुसलमान भी और दोनों के निहित स्वार्थ थे । मार्क्स-एन्जेल्स ने कहा था "जिस वर्ग के हाँथ में भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं वही मानसिक उत्पादन के साधनों कों भी वश में रखता है" ।[१६] इसी तथ्य को असग्रर अली इंजीनियर सर सैयद अहमद खाँ की आलोचना करते हुए किंचित दूसरे ढग से सामने रखते है—"सैयद अहमदखाँ अपनी (उच्च) वर्गीय मर्यादा के अनुसार समाज के निम्नस्थ वर्गो और जातियों के खिलाफ थे । मुसलमानों में भी उनके कार्य ऐसे होते थे जो उच्च वर्ग वालों को ही फायदा पहुँचाते थे । उन्हें भय था कि निम्न वर्ग वाले पढ़ लिखकर कहीं उच्च वर्ग वालों की बराबरी न करने लगें" ।[१७] एक और आश्चर्यजनक तथ्य का वे उद्घाटन करते है—"मुसलमानों में

शिक्षा का प्रसार करने से लिये दक्षिण में मुस्लिम एजुकेशन सोसाइटी ने बड़ा स्तुत्य कार्य किया है। प्रारंभ में मुस्लिम लीग ने इसको अपना सहयोग दिया, परन्तु जब उसने देखा कि सोसाइटी ख्याति प्राप्त करती जा रही है मुस्लिम लीग ने अपना सदयोग ही बन्द नहीं किया अपितु सोसाइटी की गति विधियों को दबाने की कोशिश भी की"।[५०] इस विद्वान लेखक ने यह सिद्ध किया है कि समाज के प्रभुता सम्पन्न लोगों ने ही चाहे वे किसी मजहब के हों, अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिये साम्प्रदायिक विद्वेष का जहर क्रमिक ढंग से घोला है।

प्रेमचन्द तो और आगे बढ़े हैं। उन्होंने समान वर्ग के लोगों को एकत्र किया हो ऐसी बात नहीं। विभिन्न वर्गों के पात्रों को एक मंच पर खड़ा करके भी उन्होंने साम्प्रदायिकता नहीं फैलने दी। ताहिर अली (रंगमूमि) जोहरा (गबन) सलीम और गजनबी (कर्मभूमि) मिर्जा खुर्शेद अली और अलादीन (गोदान) ये पात्र विभिन्न वर्गों के हैं पर किसी में भी साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है। उनकी अनेक कहानियों के हिन्दू और मुसलमान पात्र साम्प्रदायिक भावनाओं से रहित विशुद्ध मानवीय धरातल पर खड़े हैं। प्रेमचन्द साम्प्रदायिक आधार पर नौकरियों के आरक्षण के खिलाफ थे। 'नौकरियों के इस प्रकार के विभाजन से क्या होगा ? साम्प्रदायिक द्वेष की मनोवृत्ति पनपेगी, धर्मान्धता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालु होगी, योग्यता का मूल्य गिर जायगा। मूल्य रहेगा साम्प्रदायिकता का, साम्प्रदायिक आधार पर नौकरियों का विभाजन किया जाना खतरनाक है"।

प्रेमचन्द की यह बात आज उससे भी अधिक तीव्र रूप में प्रासंगिक है। युग की सच्चाइयों और शक्तियों का प्रेमचन्द ने अपने ढंग से विश्लेषण किया, उनसे प्रभाव ग्रहण किया, एक सीमा तक इनका साथ दिया और जब देखा कि एक विशिष्ट प्रभाव उनके द्वारा निर्धारित सामाजिक संरचना से मेल नहीं खा सकता उसका साथ उन्होंने छोड़ दिया।

प्रेमचन्द अपनी रचनाओं के अन्तिम दौर में उग्रता लेकर आते है। क्योंकि समाज की वस्तु स्थिति तबतक स्पष्ट हो चली थी समाज में जिस प्रकार की शक्तियाँ हावी होती जा रही थीं प्रेमचन्द उससे खिन्न थे। 'प्रेमाश्रम' में गाँधी के सत्याग्रह तथा अहिंसा के प्रति अनास्था वे व्यक्त कर ही चुके थे। 'कफन', 'पूस की रात' 'सवा सेर गेहूँ' आहुति, समर यात्रा आदि कहानियों में, प्रेमाश्रम रंग भूमि, कर्मभूमि तथा गोदान–उपन्यासों में यह उग्रता कलात्मक निखार के साथ आई है। 'महाजनी सभ्यता' लेख में तो उन्होंने प्रकारान्तर से क्रांति का शंखनाद कर डाला है। अपने अधूरे उपन्यास 'मंगल सूत्र' में उन्होंने सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता पर बल दिया है—"दरिन्दों के बीच उनसे लड़ने के लिये हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है"।

इस अभाव के बारे में भी सोचा जा सकता है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में क्रांतिकारियों का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं हुआ। प्रेमचन्द को इसकी आवश्यकता नहीं थी। वे स्वयं क्रांतिधर्मिता में दीक्षित थे। उनकी रचनाओं का गन्तव्य ही क्रांति है। यथार्थ के क्रमिक विकास के माध्यम से ही वे क्रांति का पथ प्रशस्त करना चाहते थे। जीवन के जर्जर मूल्यों को विस्थापित करके नूतन उच्च मूल्यों को प्रस्थापित करना चाहते थे। वे

नया धर्म स्थापित करना चाहते थे। क्योंकि आम प्रचलित धर्म के बारे में उनका विचार था—"धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं है"।[२०] वे राष्ट्र भक्ति से सरोबार थे परन्तु राष्ट्रीयता के पक्ष में नहीं थे। राष्ट्रभक्ति पराधीन भारत में सर्वोच्च प्रगतिशील गुण था। राष्ट्रीयता को उन्होंने" वर्तमान का कोढ़ कहा है", "जब तक सम्पत्ति मानव समाज के सगठन का आधार है, संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लाड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है। संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया; यह देवी नहीं डायन है। सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है"। ("राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्टीयता" लेख में से)। इस प्रकार हर समस्या व हर प्रश्न पर प्रेमचन्द के क्रांतिकारी विचार थे।

उनके समकालीन रचनाकार भी तो क्रांति की बातें किया करते थे। "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में क्रांतिकारियों की गति विधियों का विशद चित्रण है। पर इस उपन्यास के अन्त में निदान यही देखा गया कि क्रांति वांति कोई चीज नहीं होती। यथा स्थिति वाद के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति ही सब कुछ होती है। यथार्थ चित्रण का जो विश्वसनीय आधार प्रेमचन्द ने विकसित किया था वह उनके समकालीन रचनाकारों में नहीं मिलता।

साम्राज्यवादियों ने भारतीय नेताओं में मति विभ्रम पैदा करने के लिए जो अनेक चालें चलीं उनमें से एक यह भी है कि भारत को गांधी की अहिंसा से ही स्वराज्य मिला था। यह सच्चाई नहीं थी। चूंकि अंग्रेज आजादी के बाद भी भारत का किसी न किसी रूप में शोषण करना चाहते थे इस परम सत्य का रूप दिया गया। यह संदर्भ "डोमिनयन स्टेट्स" (आजादी से पूर्व) तथा कॉमन वैल्थ (आजादी के बाद) से अद्‌भुत साम्य रखता है। वास्तविकता यह है कि इस देश की वीरता और अटूट देश भक्ति को देखकर अंग्रेजों की आत्मा प्रकम्पित हो गई थी। पंजाब के अजीत सिंह तथा भगत सिंह, और अनेक क्रांतिकारियों तिलक, सुभाष आदि अनेक नेताओं के प्रयासों से आजादी और जल्दी प्राप्त हो जाती। समझौतावादी नीति ने इसे बिलंबित किया और समझौतावाद की प्रेरणा साम्राज्य वादियों से ही मिली थी। इतिहासकार रजनी. पी. दत्त लिखते हैं कि "(आजादी) अहिंसा की विजय नहीं थी। रायल इण्डियन नेवी ने 1946 में विद्रोह का डंका बजा दिया था। यूनियन जैक के स्थान पर कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा लाल झंडे को आरोपित कर दिया। सेना के अन्य विभागों में समानान्तर हलचलें, व्यापक हड़ताल तथा गलियों में लड़ाइयां हुई थीं। एटली की 19 फरवरी 1946 की घोषणा नेवी विद्रोह के एक दिन के अन्दर विज्ञापित की गई कि भारत के साथ नये सम्बन्धों का दौर शुरू होता है और भारतीय स्वायत्त शासन के संबंध में बातचीत शुरू होनी चाहिए"।[२१]

प्रेमचन्द ने जहां नये समाज की स्थापना के लिए नये जीवन मूल्यों की पुरजोर वकालत की थी वहाँ उन्होंने ऐतिहासिक सत्य को आत्मसात् करते रहने का कार्य जारी रखा। उनकी ऐतिहासिकता कलात्मकता के साथ निखरी है; हलकू की सटीक निस्संगता के रूप में, घीसू, माधव की क्रूर व्यंग्य युक्त पाशविकता के रूप में या इन पात्रों द्वारा किये

गये धर्म-दान के उपहास के रूप में और होरी की निरन्तर कष्ट सहन करने की प्रवृत्ति के रूप में ताकि सारी दुनियां की ढेर-सी सहानुभूति उसे मिल सके और उसकी करुणा विश्व-करुणा में परिवर्तित हो जांय। होरी और कर भी क्या सकता था, वह विवश था क्योंकि पैशाचिक व्यवस्था के लौह पंजों में कसा हुआ था।

प्रेमचन्द ने उन्हीं वर्गों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा जिनपर समूचा समाज आधारित था और उन्होंने उन मूल्यों के विकास पर अपनी सारी शक्ति लगाई जो मानव निर्मित सभी भेदभावों को दूर करके समता और स्वाधीनता पर आधारित एक नये समाज की नींव रख सकें। यही प्रेमचन्द के यथार्थवाद का सहज-स्वाभाविक विकास है। उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन नहीं किया था परन्तु उनके विचारों और मार्क्स दर्शन में आश्चर्य-जनक साम्य है। वैज्ञानिक यथार्थवाद किसी भी धरा पर लहलहा सकता है। उसका प्रणेता रचनाकार प्रेमचन्द की तरह जागरूक और युग सत्य का वस्तु परक विश्लेषण करने वाला हो।

———

संदर्भ

1. प्रेमचन्द; साहित्य का उद्देश्य, पृ० 9
2. वही, पृ० 9
3. स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म (ज्यॉर्ज लूकाच) पृ० 6
4. बोरिस सुखोव–ए हिस्ट्री आफ रियलिज्म, पृ० 22
5. साहित्य का उद्देश्य पृ० 19
6. मुंशी प्रेमचन्द, शखसियत और कारनामे, पृ० 173
7. जमाना (फरवरी 1924)
8. ए. आर. देसाई–पीजन्ट स्ट्रगल्स इन इण्डिया, पृ० 268-69
9. राम विलास शर्मा–प्रेमचन्द और उनका युग–पृ० 118
10. बी. टी. रणदिवे–'कलम' प्रेमचन्द विशेषांक पृ० 3
11. प्रेमचन्द; विविध प्रसंग (जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान) पृ० 56
12. गोदान (सं० 1976) पृ० 170
13. वही पृ० 14
14. इम्प्रिंट (अंग्रेजी मासिक) नवम्बर 1980
15. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, पृ० 154-155
16. मार्क्स एजेंल्स–ऑन लिटयेचर एण्ड आर्ट, पृ० 70
17. इम्प्रिंट (दि ग्रेट हिन्दू-मुस्लिम डिवाइड) नवम्बर 1980
18. वही
19. प्रेमचन्द : विविध प्रसंग, खंड दो, पृ० 356
20. प्रेमचन्द : कायाकल्प, पृ० 31
21. आर. पी. दत्त,–इण्डिया टु डे (भूमिका पृ० 7)

युगीन परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द की सार्थकता

डा० जाफर रज़ा *

आधुनिक साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द की सार्थकता के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। उन्हें उर्दू-हिन्दी कथा साहित्य में क्या स्थान प्राप्त है ? वर्तमान में मूल्यों के संघर्ष, परम्पराओं के तिरस्कार और वर्तमान विचारधारा में इन्हे सार्थकता प्राप्त है या प्रयोगों की स्थिति को बदलने, मूल्यों के विघटन और निरंकुशता के फैलाव के कारण प्रेमचन्द के साहित्यिक प्रतिमानों का महत्व समाप्त हो चुका है ? इस पर विचार करने की आवश्यकता इस कारण है कि वर्तमान पाठक यह अनुभव करता है कि मूल्यों के नाम पर जो कुछ हो चुका है, वह अपर्याप्त है जो कुछ है, वह शाश्वत होने की स्थिति में नहीं है। जो सम्मानित है, वह सहानुभूति की पीड़ा में फँसा है। प्रयोगों के संदर्भ में नये यथार्थ का बोध हो रहा है। पग-पग पर परिवर्तन की स्थिति है। आधुनिक समस्याओं के अध्ययन में प्रेमचन्द की उपलब्धियाँ विशेष महत्व रखती हैं क्योंकि उनका युग वर्तमान युग के तकाजों से भरा था। उसे वर्तमान युग का परिशिष्ट कहा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वर्तमान की तरह बौद्धिक ढुलमुलापन तथा संघर्ष की सभी तीव्रताएँ विद्यमान थीं। विभिन्न साहित्यिक एवं सामाजिक प्रतिमान परस्पर टकरा रहे थे। राजनैतिक आन्दोलनों ने मानसिक उत्तेजना प्रदान की थी। साहित्यकार एवं कलाकार किसी प्रकार के एकांतवाद या पृथकतावाद के बजाय अपने समसामायिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण करके अपने कार्यक्षेत्र की रूपरेखा बना रहा था।

प्रेमचन्द के संबंध में दो+दो के माने चार के फारमूले पर कुछ कहना कठिन है क्योंकि कला एवं साहित्य में दो+दो के माने चार के बजाय अधिकांशत: पाँच और प्राय: तीन ही होते हैं। साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण गणित, सांख्यकी और ज्योतिष गणना की तरह नहीं किया जा सकता। वरन् इसमें संक्षेप से विस्तार, प्रतीक के यथार्थ और व्यक्तिगत अनुभूति से समष्टिगत अनुभूति की ओर निर्देश मिलता है। इसी अंतर को नज़रंदाज़ कर देने के कारण प्रेमचन्द के संदर्भ में भ्रामक धारणाएँ बना ली जाती हैं। उर्दू समालोचकों में किशन प्रसाद कोल, राजेन्द्र नाथ शैदा, गोपाल मित्तल और हिन्दी आलोचकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, इलाचन्द जोशी, डा० नगेन्द्र आदि ने अपने-अपने तर्कों के आधार पर प्रेमचन्द को राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक संदर्भों से अलग सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन विद्वान समालोचकों की अपनी सीमाएँ हैं, जिन्हें वे प्रेमचन्द की रचनाओं पर आरोपित करते हैं। प्रेमचन्द के नैतिक प्रसार और व्यक्तिगत सुधार की समस्याएँ, जिन्हें साहित्य में सामाजिकता के विरोधियों ने अपने तौर पर पेश किया है उनके गहरे सामाजिक एवं समष्टिगत प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण

---

* उपाचार्य; उर्दू विभाग,
काश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

सदैव ही स्पंदित एवं विकासशील रहा, जिसमें जीवन की समस्त अनुभूतियों का साक्षात्कार समष्टि के आधारों पर किया गया। इसी आधार पर प्रेमचन्द ने साहित्य की उपयोगिता को सौन्दर्यानुभूति को शक्ति एवं सहजानुभूति के आनंद का स्वरूप कहा था। जीवन में विवेचन की आकांक्षा मानव को दूसरों का हमदर्द और बहीखाह बनाती है, जो राष्ट्र एवं जाति को सीमाएँ तोड़कर विश्व के समस्त लोगों से अपना रिश्ता कायम करने की दावत देती है। इसके लिय परंपराओं में परिवर्तन लाने की आवश्यकता होगी और हमें सौन्दर्य का आधार बदलना होगा। जिसका उद्देश्य अपर्याप्त को विस्तार देना, जो कुछ है उसे बढ़ाना, आकस्मिक अनुभूतियों को शाश्वत बनाना होगा। फिर सहानुभूति से पीड़ा के बजाय आनन्द प्राप्त होगा अथवा मूल्यों में विघटन को जीवन के विकासशील प्रतिमानो के अनुरूप परखना होगा। इसके बाद साहित्य में सौंदर्यानुभूति का नया आयाम सामने आयेगा और पाठक को 'आत्मा की ज्योति' भी प्राप्त होगी। इसीलिए प्रेमचन्द साहित्य को रसानुभूति तक सीमित करना खतरनाक समझते हैं और इसे भांटों और मदारियों का काम समझते हैं। उनके विचार मे साहित्य को यथार्थवादी होना चाहिए जिसमें समाज का विश्लेषण हो। उसकी खूबियों व खराबियों का पता चले। और मानव विरोधी विचारधारा का पर्दाफाश किया जा सके। उसके बयान में कलात्मक संतुलन हो क्योंकि कोरे तथ्यों का बयान कर देना साहित्य नहीं कहा जा सकता। इस संदर्भ में प्रेमचन्द मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को विशेष महत्व देते हैं क्योंकि इससे कथा के पात्रों के समस्त आचार-विचार की बारीकियाँ उघारने में मदद मिलती है। प्रेमचन्द की यह धारणा वर्तमान साहित्यिक तकाजों से सामंजस्य रखती है, जिसके नकारात्मक पहलू साहित्य को विघटन की ओर ले जाते हैं। प्रेमचन्द उन्हें साहित्य के बाहर रखना चाहते हैं। इसलिए उनका यथार्थवाद आदर्शवादी यथार्थवाद भी कहा जाता है, जो व्यक्ति एवं समाज के सुधार को महत्व देता है।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति के संघर्ष को तेज करना कहा था। इससे उनके साहित्यिक रवैये का पता चलता है कि प्रेमचन्द अपने युग के सभी साहित्यकारों से इसलिए भी श्रेष्ठ है क्योंकि उन्होंने अपने युग की समस्याओं को रचना का विषय बनाया जो व्यक्ति और समाज की उन्नति में बाधक थी। प्रेमचन्द ने विशेष रूप से किसानों की समस्याओं पर ध्यान दिया और उनकी कठिनाईयों को समझने की कोशिश की। वह बौद्धिक रूप से किसानों के बहुत समीप थे। उनकी विपदाओं और दुःख दर्द के लावें में पिघलकर उन्हीं से एकाकार हो गए थे। उनके स्वभाव की सादगी, मासूमियत, नर्मी, धुलावट में उत्तरी भारत के किसानों की आकृति पहचानी जा सकती है। वह स्वभाव से किसान थे। उसी तरह के परिश्रम एवं संघर्ष के आदी और नतीजे से बेपरवाह। किसान का प्रेम हल बैल और धरती से होता है। प्रेमचन्द भी इन्हीं वस्तुओं से प्रेम करते थे और अपने व्यावहारिक जीवन में कलम से कुदाल और फावड़े का काम लेते थे। किसानों की गरीबी और बेकसी की तस्वीर खींचते हुए प्रेमचन्द भावुक हो उठते हैं। अछूतों की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उनकी भाग्यहीनता का ऐसा हृदय विदारक चित्रण करते हैं कि उनके विरोधियों और शोषण करने वालों के विरूद्ध तीव्र

प्रतिक्रिया मन में उठती है। यह निर्धन और असहाय वर्ग चमार, पासी, मेहतर वगैरह तक सीमित नहीं है बल्कि प्रेमचन्द ने खानाबदोशों और आवारा गर्दों को भी, इसमें शामिल कर लिया है। इस प्रकार यह वर्ग राष्ट्रीय नागरिकों की बहुत बड़ी संख्या का एक भाग हो जाता है जिनके साथ न्याय नहीं होता। क्योंकि इस तरह के वर्गीय विरोधों को बाकी रखने और बढ़ाते रहने में राजनैतिक उद्देश्य निहित है। प्रेमचन्द के समय से अब तक उनकी समस्याएं ज्यों कि त्यों बनी हुई हैं। प्रायः उनके ऊपर अत्याचार की सूचनाएं पत्रों में छपती रहती हैं। उनसे संबंधित समस्त प्रेमचन्द साहित्य की समस्याओं पर प्रश्न चिन्ह किस तरह से लगाया जा सकता है ?

प्रेमचन्द ने नैतिक मूल्यों के अनेक प्रश्नों पर अपने ढंग से सोचा है। उनका दृष्टि-कोण गांधीवादी दृष्टिकोण है, जिसमें अनुशासन, आत्मबल और मानव की अन्तःसंयम की प्रेरणाएं विद्यमान हैं। वर्तमान भारत उसी प्रकार की स्थिति को भोग रहा है। इस चुनौती को प्रेमचन्द का कथा साहित्य सार्थकता के साथ स्वीकार करता है। देश औद्योगिक विकास की ओर अग्रसर हो अथवा ग्रामीण क्षेत्रों को विकास में प्रमुखता देकर प्रकृति के निकट स्थिति रह जाय। इस अर्थशास्त्रीय समस्या के समाधान में प्रेमचन्द के कथा साहित्य से सहायता मिल सकती है। औद्योगीकरण की समस्याएं पूंजीवाद का विकास, सर्वहारा वर्ग का शोषण आदि समस्याएं अर्थशास्त्रीय विचारधारा के अतिरिक्त रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति का आधार बनती हैं। प्रेमचन्द उर्दू हिन्दी कथाकारों में इस आधार पर भी महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में आर्थिक समस्याओं पर सबसे पहले प्रकाश डाला। उन्होंने मार्क्स या साम्यवाद का औपचारिक अध्ययन पुस्तकों के माध्यम से नहीं किया था। यह कहना भी कठिन है कि भारत के विषय में मार्क्स के लेख भी उन्होंने देखे होंगे परन्तु प्रेमचन्द आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं की आधार भूमि जिस मानववाद से ग्रहण करते हैं, वह उनके लिए व्यक्ति सत्य है जो अपनी सार्थकता में आधुनिक भारतीय परिवेश से जुड़ा हुआ है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द की धार्मिक विचारधारा भी है। उनका जन्म एक निम्न मध्य-वर्गीय हिन्दू परिवार में हुआ था। उसकी मान्यताएं कर्म-काण्ड एवं अंध विश्वासों ने उन्हें प्रभावित किया। उन्होंने संकीर्णताओं का समर्थन न करके अपनी रचनाओं में उन पर गहरे हमले किए जिससे उनके विरोधी तिलमिला उठे। यह सही है कि उन पर आर्य समाज का प्रभाव था लेकिन उन्होंने शुद्धि और संगठन से अपने को दूर रखा। आर्य समाज की सदस्यता प्रेमचन्द की व्यापकता की राह में रुकावट नहीं डालती। आर्य समाज की प्रगतिशील भूमिका भी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन में देश भक्ति की भावनाओं को उभारने, सुधार के प्रयत्न, महिलाओं की शिक्षा आदि समस्याओं को अपना कार्य क्षेत्र बनाने के कारण उसे राष्ट्रीय नेताओं का संरक्षण प्राप्त था। जिस जमाने में कांग्रेस के आन्दोलन पर तत्कालीन सरकार के प्रतिवन्ध लगते थे, आर्य समाज के कार्यक्रमों को सार्वजनिकता प्राप्त हो जाती थी। प्रेमचन्द ने आर्य समाज से इसी रूप में संबंध रखा कि उसके सुधारवादी कार्यक्रमों के माध्यम से भारत के पुनर्जागरण का स्वागत कर सकें, जो दबे पाँव इस युग

की सीमा में प्रवेश कर रहा था। प्रेमचन्द हिन्दू मुस्लिम एकता के इच्छुक ही नहीं प्रबल प्रचारक भी थे और अपनी रचनाओं में दोनों पक्षों की अतिवादिता पर प्रहार करते थे। उस युग में जब अत्यन्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेता भी अनिश्चय के शिकार थे, प्रेमचन्द की कामयाबी थी कि उन्होंने सामयिक संकीर्ण भावनाओं को अपना स्वभाव नहीं बनने दिया। उनके इस साहस को जितना भी सराहा जाय कम है कि उन्होंने हिन्दू साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लिखने के लिए 'जमाना' को चुना और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विरुद्ध 'शाहकार' में लिखा। देश को स्वतंत्र हुए तीन दशक से ऊपर हो गए परन्तु साम्प्रदायिकता की भावना ज्यों कि त्यों है बल्कि इसमें अनेक नये अंकुर फूट पड़े हैं जातिवादिता, क्षेत्रीयता आदि के नाम पर आए दिन दंगे होते रहते हैं। प्रेमचन्द की रचनाएं पूर्ण सार्थकता से उसकी चुनौती को स्वीकार कर रही हैं।

इस संक्षिप्त वार्ता में प्रेमचन्द की रचनाओं के सभी पक्षों की सार्थकता पर विचार करना न तो संभव ही है और नहीं उचित। प्रेमचन्द की युग प्रवर्तक रचनाएं विषय वस्तु एवं तकनीक की उत्तमता के आधार पर वर्तमान उर्दू हिन्दी कथा साहित्य को आधार-भूमि प्रदान करती है। प्रेमचन्द उर्दू व हिन्दी कथा साहित्य में 'नेशनल हाईवे' की स्थिति रखते हैं, जिससे छोटे-बड़े अनेक मार्ग, पगडंडिया एवं पदचिन्ह निकलकर अपनी दिशा ग्रहण करते हैं। यह मार्ग, पगडंडियां और पदचिन्ह धीरे-धीरे व्यापक हो रहे हैं। संभवतः भविष्य में इनमें कुछेक 'हाई वे' भी बन जाएं। परन्तु वर्तमान में इनमें से कौन सार्वजनीन हो सका है ? उर्दू या हिन्दी का कौन कथाकार दावा कर सकता है कि उसने प्रेमचन्द से रोशनी नहीं हासिल की। इसी एक चिराग से लाखों चिराग जले हैं। फिर प्रेमचन्द की आधुनिक उर्दू-हिन्दी कथा साहित्य की सार्थकता को कैसे नकारा जा सकता है।

———

उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द का आविर्भाव

विद्या गुप्त, *

प्रेमचन्द के पूर्व द्विवेदी युग उपन्यास के कथा-शिल्प का कोई विकसित स्वरूप प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा क्योंकि द्विवेदी युग नैतिकता का युग था, पद्य के समान ही गद्य में भी नैतिक उपदेशों की भरमार थी। उपन्यास रचना भी एक कलात्मक सृष्टि का साधन है, इसका अनुमान भी उपन्यासकार न कर सके थे। उपन्यास रचना के सीधे नुस्खे उनके पास थे—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रीति युग में काव्य रचना की बधी-बधाई प्रणालियों के अन्तर्गत नख-शिख वर्णन, नायक-नायिका के विरह, मिलन अभिसार की चर्चा, नगर, ऋतु आदि का उल्लेख कर के कवि ही नहीं, महाकवि भी सुगमतापूर्वक बना जा सकता था उसी प्रकार उपन्यास रचना का भी एक सुगम रूप निश्चित था। अच्छे-बुरे—दो वर्गों में मानव चरित्र विभाजित था। अच्छे की विजय और बुरे की पराजय, प्रेम-क्षेत्र में बाधाएँ, पुर्न मिलन इतने सीमित संसार में ही सम्पूर्ण मानव-जीवन समाहित था। औषधियों के वने बनाये नुस्खे थे जिन्हें कंठस्थ कर कोई भी कुशल भिषज् वनने का दावा कर सकता था। आदर्शवाद के मनोहर झरोखों से यथार्थ का कुत्सित स्वरूप उतना ही दिखलाई पड़ता था जितना आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्य था।

उपन्यास के ऐसे अविकसित अनुर्वर कल्पना के युग में जब प्रेमचन्द जी ने 'वरदान' लेकर प्रवेश किया तो उसमें भी आदर्श के भार से उसकी मानव सृष्टि निष्प्राण प्रमाणित हुई। माधवी का अमांसल, अदैहिक प्रेम कल्पना-जगत् की वस्तु है। विरहन का वैधव्य-अन्य साहित्यिक जीवन और निष्फल प्रेम प्रताप का साधुत्व उसी पूर्व-निर्धारित प्रणाली के अन्तर्गत थे, फिर भी प्रेमचन्द ने इस प्रारम्भिक कृति में भी सामाजिक विधानों की एक ऐसी दुर्वल, दुखती रग पर उँगली रख दी थी जो क्रमशः स्पष्ट और निरन्तर अधिकाधिक मार्मिक होती गयी, और यह थी अनमेल विवाह की अभिशप्त कहानीं 'प्रेमा' या 'प्रतिज्ञा' भी कथानक के गढ़न की दृष्ठि से ऊँचा अवश्य उठा किन्तु विधवा विवाह के जिस प्रण को लेकर बाबू अमृतराय ने प्रेमा की प्रीति ठुकराई थी वह केवल वनिताश्रम की प्रतिष्ठा भर कर सका और समस्या का समाधान आदर्शवाद के मरु–प्रदेश में क्षीण जल रेखा सदृश विलुप्त हो गया।

प्रेमचन्द जी की औपन्यासिक प्रतिभा का परिचय पाठक को 'सेवा-सदन' की रचना द्वारा मिला। समाज में फैली अनेक कुरीतियाँ-दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, धार्मिक संकीर्णताएँ, नेताओं के खोखले सिद्धान्त और रक्षणीया नारी की दुर्गति, वेश्याओं की समस्या आदि अनेक ऐसे प्रश्न उठाए गए हैं जो कथात्मक संकुलता का विधान करते हैं। प्रेमचन्द जी ने मानव के वाह्य स्वरूप और उलझनों को ही नहीं, आन्तरिक निगूढ़ अनुभूतियों को भी स्पर्श करना

---

* हिन्दी विभाग महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–5

चाहा है। समाज की कल्याण कामना उन्हें इष्ट थी, अतः वे आदर्शवादी थे किन्तु उनका आदर्शवाद प्रस्तर-प्रतिमाओं मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकता था, उनकी मानव दृष्टि संवेदनात्मक थी, और यहीं वह पूर्ववर्ती उपन्यासों के आदर्शवाद से भिन्न मार्ग पकड़ते प्रमाणित हो जाते हैं।

प्रेमचन्द जी ने उपन्यास को संकीर्ण विचार-वीथियों से निकालकर जीवन और जगत के बहुरंगी व्यापक पथ पर खड़ा कर दिया। उनके कथानक जीवन व्यापी समस्याओं के ठोस आधार प्रस्तुत करने लगे। प्रेम-प्रलाप और थोथी भावुकता या मात्र मनोरंजन उन्हें इष्ट न था क्योंकि वह उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मानते थे। अतः उनके पात्र-पात्रियाँ दुर्बलता और सबलता के घात-प्रतिघातों से बनते व बिगड़ते हैं। वे पूर्व निश्चित नियमानुसार गढ़े भले ही गए हों किन्तु लेखक अपने चित्रण कौशल द्वारा उन्हें स्वाभाविक ढ़ंग से ही अपना मार्ग ढूंढता हुआ चित्रित करता है। उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी द्वारा ग्रहीत यह नवीन विधा थी जिसने उन्हें अन्य उपन्यासकारों से विशिष्टता प्रदान की।

प्रेमचन्द जी के कथानक ग्राम्य जीवन के सवाक चित्रपट खींचने में अत्यन्त सफल हुए हैं। ग्राम्य जीवन की समस्याओं के, ग्राम्य जीवन के वे एक अनुभवी, सहृदय विवेचक थे। ग्राम्य जीवन से उन्हे सच्चा प्रेम था। उनके शैशव और किशोर वय का वह क्रीड़ा स्थल था, उसकी प्रत्येक रेखा व रंग से वे परिचित थे।

नागरिक जीवन से प्रेमचन्द जी को वितृष्णा थी। ग्राम्य जनों की सरलता, विश्वास व प्रेम के नैसर्गिक गुण उन्हें यहाँ नहीं मिलते थे। ग्राम्य जीवन में भी स्वार्थ और कुटिलता उन्होंने पाई थी किन्तु उस पर शिक्षा और सभ्यता का मुलम्मा नहीं था, वह स्पष्ट थी। नागरिक जीवन में मनुष्य के वाह्य और अन्तर का विरोध पहचानना कठिन था। शिक्षा ने उसे सरल प्रेम व मानवता की ओर उत्प्रेरित करने के स्थान पर स्वार्थसिद्धि का मन्त्र-दान दिया था। नागरिक सभ्यता की आडम्बर प्रियता उन्हे असह्य थी, उससे उन्हें वितृष्णा थी, किन्तु जीवन-संघर्ष से उत्पन्न ठोस यथार्थ से भी उनका परिचय यहीं हुआ था। छात्रावस्था से लेकर पत्रकार तक की जीवन यात्रा में अनेक संघर्षमयी परिस्थितियों का उन्हें सामना करना पड़ा था। वे नागरिक सभ्यता से पूर्णतः परिचित थे। उनके उपन्यासों के कथानक नगर और ग्राम्य जीवन से सम्बंधित हैं, उनकी पात्र-सृष्टि उच्चतम वर्ग से लेकर निम्नतम वर्ग तक परिव्याप्त है। शिक्षित अशिक्षित, धनी-निर्धन, द्विज-शूद्र, स्त्री-पुरूष, वाल-वृद्ध के विविध वर्गों से संकलित उनके पात्र मानव जीवन के अनेक रहस्यों, अनेक सम्वेदनाओं की अमिट छाप पाठक के हृदय पर अंकित कर देते हैं।

प्रेमचन्द जी आदर्शवादी थे, समस्याओं का सुलझाव उन्हें इष्ट था। अतः सेवासदन, प्रेमाश्रम आदि की स्थापनाओं में वे समाज के उत्थान की कल्पना एवं बुराइयों का निराकरण खोजते रहे। जीवन की जटिलता और संघर्षमयी परिस्थितियों से वे हारने वाले नहीं थे उनके लिए जीवन एक रंगभूमि था, संघर्षो से जूझने के लिए कर्मभूमि प्रस्तुत थी—हार मानकर इस रंगभूमि से पीठ मोड़ना उन्हें इष्ट न था, सूरदास उनके आदर्शों के प्रतीक हैं।

अपने उपन्यासों में जिस आदर्शवाद को लेकर प्रेमचन्द चले थे अनुभवों की कठोर, कटु विषमताओं ने उसकी सार्थकता को संदिग्ध बना दिया। वे निरन्तर यथार्थ की ओर बढ़ते रहे। यद्यपि 'गबन' में भी आदर्श ग्राम और आदर्श जीवन के चित्र में ही कथा की समाप्ति है किन्तु 'गोदान' में आदर्शवाद यथार्थ की कठोर शिलाओं से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। होरी की मृत्यु प्रेमचन्द जी के आदर्श समाज-संस्थापन के स्वप्न की मृत्यु है। जीवन की कठोर विभीषिका, मनुष्य की स्वार्थान्धता यहाँ निरावरण हैं। निर्मला भी इसी प्रकार कठोर यथार्थ से टकराकर चूर-चूर हो जाती है।

प्रेमचन्द जी ने 10 उपन्यासों की रचना की, 11 वाँ मंगलसूत्र वे समाप्त न कर सके। काल ने असमय ही उनकी लेखनी की गति अवरूद्ध कर दी और नवीन समाज सृष्टि का उनका स्वप्न अपूर्ण ही रह गया।

कथा साहित्य के कलात्मक प्रकर्ष के लिए जिस शिल्प कौशल का प्रेमचन्द जी ने उपयोग किया उसमें वस्तु विन्यास पहला तत्त्व है। जिसका विश्लेषण आवश्यक है।

कथा वस्तु :

प्रेमचन्द जी ने जहाँ कथावस्तु को जीवन के संकीर्ण स्वरूप से मुक्त कर विविधता एवं व्यापकता प्रदान की वहाँ उसमें कल्पनात्मक सौन्दर्य की भी सृष्टि की। कथावस्तु के अनगढ़ स्वरूप को शिल्पी के चातुर्य से आकर्षक रूप प्रदान किया। यदि हिन्दीं के प्रारम्भिक उपन्यास का स्वरूप उस निर्जीव भूमि सा था जिसे चतुर मूर्तिकार की छेनी का स्पर्श प्राप्त न हुआ था तो प्रेमचन्द जी के कथानक शिल्प कौशल के चमत्कार से उस निर्जीव पाषाण प्रतिमा में प्राणों का स्पन्दन फूंक सके थे। उनके पात्र उनके हाथों की कठपुतली नहीं हैं, वे जीवन्त समस्याओं के प्रतीक हैं वर्गगत होने पंर भी उनमें निजी व्यक्तित्व है अतः उनमें विभिन्नता है, उनमें आकर्षण है। कथानक जीवन की मार्मिकता से प्राणवान हैं।

प्रेमचन्द जी ने जीवन व्यापी समस्याओं को अपनाया है। अतः उनके कथानक एकोन्मुख न होकर अनेकोन्मुख हैं। कथात्मक ऐक्य न होकर कई-कई कथा धाराएं चलती हैं। उनके उपन्यासों का स्वरूप महाकाव्य के सदृश हैं जिसकी प्रमुख कहानी आनुषंगिक कथाओं के द्वारा नदी से नद और नद से सागर का रूप धारण कर लेती है। उदाहरणतः प्रेमाश्रम की मूल कथा ज्ञानशंकर की धनलिप्सा पर आधारित है, इस मूल कथा को राय कमलानन्द, गायत्री देवी, मनोहर, ज्वाला सिंह आदि की अर्न्तकथाएं व्यापकता प्रदान करती हैं। इसी प्रकार रगभूमि में सोफिया और विनय, इन्दु महेन्द्र, सुभागी, भैंरो आदि सूरदास के जीवन सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए अवतीर्ण होते हैं। 'गोदान' की मूल कथा तो होरी के कृषक जीवन का क्रन्दन है किन्तु खन्ना, गोविन्दी, मेहता-मालती, मातादीन-सिलिया आदि की कथाएं चित्रपट के विस्तार के लिए, रंग योजना के लिए आवश्यक हैं। प्रेमचन्द जी के कथानक घटना जाल से जटिल हैं। उनमें घटनाओं का घटाटोप है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में पात्र वहुलता है। कथा-विस्तार के साथ ही इतने पात्र रंगभूमि में प्रवेश करते हैं कि आगे चलकर उन्हें संभालना मुश्किल हो जाता है। प्रेमाश्रम में लगभग 30 पात्र हैं जिनमें 6 आत्महत्या करते हैं और एक की हत्या कर दी जाती है। इस विषय में

प्रेमचन्द की पात्र योजना प्रसाद जी के समतुल्य है। प्रसाद जी के नाटकों में भी पात्र-बहुलता योग है, वे-भी-कथान्त तक आत्महत्या द्वारा रंगमंच से हटाये जाते हैं।

प्रेमचन्द जी के उपन्यास घटना व समस्या प्रधान हैं। अतः उनका कार्य विस्तार ग्राम से नगर और नगर से ग्राम्य जीवन तक विस्तृत है। कई-नगरों और गाँवों तक घटना-विस्तार, जीवन की बहुमुखी समस्याएं और संघर्ष बहुधा कथानक में शिथिलता उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी वर्णन विस्तार[2], उपदेश प्रणाली, समस्याओं के लम्बे विवरण सैद्धान्तिक विवाद कथा की गति में विरोध उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु लेखक को अपने मत प्रतिपादन के लिए इन लम्बे-लम्बे विवादों से तृप्ति ही नहीं होती। ये स्थल उपन्यास कला की दृष्टि से सदोष हैं किन्तु लेखक इनके मोह से मुक्त नहीं हो पाता।

प्रेमचन्द जी के कथानक मानव जीवन की समस्याओं और संवेदनाओं तक ही सीमित नहीं है, उनमें मानवेतर सृष्टि भी है। ग्राम्य जीवन के अनन्य सहचर गाय-बैलों की भी यथावसर चर्चा है। कुत्ते से लेकर कौए और चिड़ियाँ भी वातावरण में सजीवता उत्पन्न करते हैं। यदि नगरों में मिलों का धुंआ है, श्रमिकों के निरानन्द जीवन और धनिकों की मोटर बग्घियों तथा आमोद प्रमोद के वर्णन हैं तो गाँवों में ग्रामीणों के सरल आमोद डफ, ढोल, मंजीरे की झनकारों और फाग-भजन आदि गीतों के साथ स्त्रियों के विवाद और पशु प्रेम की कथाएं हैं। रईसों के प्रिय पशु कुत्ते और घोड़े हैं, ग्रामीणों के गाय-बैल।

मानव-जीवन संघर्ष-युक्त है। यह संघर्ष केवल जटिल ही नहीं है, विविध प्रकार का है। राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक संघर्ष के साथ ही सामाजिक संघर्ष भी है। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के साथ ही स्त्री के अधिकारों की, उसके स्वत्वों की भी ओजस्वी पुकार है। समानाधिकार से लेकर नैतिक व अनैतिक प्रेम के प्रश्नों को भी प्रेमचन्द जी ने भुलाया नहीं है। प्रेम सम्बन्ध को वे पवित्र समझते हैं भले ही धार्मिक संकीर्णता के कारण समाज उनका विरोध करे।[3] अवैध प्रेम भी उनको दृष्टि में हेय नहीं यदि वह ऐन्द्रिक न होकर सात्विक हो[4]।

इस प्रकार प्रेमचन्द जी अपने युग की विचार धाराओं से कहीं सहमत और कहीं असहमत हैं छूआ-छूत, धर्म-द्वेष असहयोग आन्दोलन जैसी तत्कालीन उग्र परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए उन्होंने अपने पात्रों के माध्यम से इन जटिल समस्याओं का हल उपस्थित करने की चेष्टा की है। हिन्दू मुसलमान मिल कर रह सकते हैं, यदि वहाँ धर्म के ठेकेदारों का उत्पात न हो। असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होते हुए भी वे इसे स्वराज्य प्राप्ति का साधन नहीं समझते थे। उन्हें क्रांन्तिकारियों की हिंसा नीति में अधिक विश्वास था।

प्रेमचन्द जी के कथा शिल्प में दैविक संयोग, चमत्कार, जड़ी-बूटी, जादू-टोना का भी उपयोग हैं। दैविक संकेत स्वप्न और भविष्य वाणियों में पाये जाते हैं, ये भावी घटनाओं

---

2 प्रेमाश्रम में दरबार की तैयारियां।

3 गोदान सिलिया-माता दीन।

4 काया कल्प लौंगी-हरि सेवक।

के सम्बन्ध में पाठक की जिज्ञासा तीव्र करते हैं। इनमें निहित संकेत कभी-कभी चमत्कारिक ढंग से सत्य सिद्ध होते हैं।

कथा वस्तु में कहीं-कहीं (Flash back) पूर्व दीप्ति पद्धति का भी प्रयोग है। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर का पश्चाताप इसका प्रमाण है[5]।

इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने कथा वस्तु के निर्माण कौशल में अद्भुत सफलता प्राप्त की और चमत्कारिक घटनाओं के स्थान पर जीवन और जगत् की समस्याओं को अपना कर सच्चे अर्थों में उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र प्रमाणित किया। आदर्शवाद की कुहेलिका से यथार्थ के प्रकाश में उपन्यास को प्रतिष्ठित कर उन्होंने एक ऐसा महत्पूर्ण कार्य किया जिसके कारण उपन्यास एक नये मोड़ पर क्रान्तिकारी दिशा की ओर मुड़ता हुआ सिद्ध हुआ।

प्रेमचन्द जी और नारी समस्या

समाज के मूलाधार स्त्री-पुरुष हैं, उन्हीं से समाज की रचना होती है और सामाजिक जीवन की मूल समस्या स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर हैं। पुरुष-जीवन की पारिवारिक समस्या उतनी जटिल नहीं है क्योंकि वह घर का स्वामी है। आर्थिक निर्भरता के कारण स्त्री जीवन की समस्यायें अधिक जटिल हैं। प्रेम-क्षेत्र में पुरुष पत्नी से परितृप्ति न पाकर अनैतिक मार्ग अपना लेता है, समाज की दृष्टि में उसकी दुर्बलता अक्षम्य अपराध नहीं। अतः वह तृप्ति के साधन घर के बाहर भी खोज लेता है। बहु-विवाह की प्रथा भी उसे जीवन के आनन्द सुलभ करने में सहायक है, किन्तु स्त्री के लिए सभी मार्ग अवरूद्ध हैं. एक बार परिणय-सूत्र में बंधने पर, भले ही परिणय उसकी घोर अनिच्छा अथवा विरोध को ठुकरा कर ही क्यों न हुआ हो, उसके लिए वह बन्धन सिद्ध होता है जिसमें वह मकड़ी के जालों में फंसी विवश मक्खी की भांति छटपटा कर प्राण देने के लिए बाध्य है। स्त्री के हृदय है, सम्भवतः समाज का कर्णधार पुरुष यह भूल बैठा है और उसकी देह का यह निर्मम व्यवसाय धर्म के नाम पर बराबर चल रहा है।

प्रेमचन्द ने नारी जीवन की इस असहायता को समझ लिया था। उनकी सर्वप्रथम कृति 'वरदान' से ही इसके संकेत मिलने लगे थे। 'वरदान' में असमान विवाह के साथ आत्मिक प्रेम की कथा है तो 'प्रतिज्ञा' में विधवा की समस्यायें। उसकी प्रेमाकांक्षा यदि नैतिक एवं धर्म भावना से संयमित हो भी, तो भी समाज में सभ्य वेश में छिपे ग्राहों से सुरक्षा कठिन हो जाती हैं। विधवा पुनः प्रणय सूत्र में नहीं बंध सकती। विधुर विवाह मान्य ही नहीं आवश्यक भी समझा जाता है। मुँशी तोताराम तीन-तीन पुत्रों के होते हुए भी विवाह करते हैं। राय कमलानन्द योग साधन और इन्द्रिय विजय की आकांक्षा से ही विवाह की ओर नहीं झुकते। अन्यथा हितैषी मित्र इस ओर निरन्तर सचेष्ट हैं। 'कायाकल्प' के राजा विशाल सिंह के चार विवाह हो चुके हैं। अहिल्या की माता न होने पर भी उसकी तीन विमाताएं जीवित हैं। किन्तु राजा साहब की प्रेम तृष्णा अपरितृप्त है। अतः

5 ज्ञानशंकर का आत्म हत्या प्रसंग। अतीत के प्रसंग याद कर क्षुब्ध होता है।

वे मनोरमा से विवाह करते हैं। छठें विवाह की भी तैयारी होती है किन्तु शंखधर के आगमन से यह विवाह रुक जाता है।

प्रश्न उठता है कि यदि राजा विशाल सिंह चार-चार पत्नियों के रहते भी अपरितृप्त हैं तो क्या उनकी रानियां इस अतृप्ति से पीड़ित नहीं हैं ? इसका एक ही उत्तर है कि-वे समाज द्वारा 'प्रेम' शब्द से, उसके अधिकार से वंचित हैं। कुल मर्यादा के नाम पर उन्हें अपने को अपनी नैसर्गिक आकांक्षाओं को मिटा देना है। 'काया-कल्प' में रोहिणी इसी प्रकार घुट-घुट कर मर जाती है। वंश-मर्यादा का प्रश्न घर के बाहर उठे पाँवों को पुनः घर के अन्दर ही मोड़ देता है। 'गोदान' में गोबिन्दी भी इसी प्रकार गृह-त्याग के आवेश को त्याग कर सन्तान मोह व कुलगौरव की भावना से लौट आती है।

वय का अन्तर बहुधा गार्हस्थ्य जीवन को दुखी बना देता है। निर्मला रूपवती षोडषी है और मुंशी तोताराम वार्धक्य से जर्जर। ऐसा अनमेल विवाह दाम्पत्य जीवन का अभिशाप बन जाता है। मुंशी तोताराम की शंकालु मनोवृत्ति परिवार की बलि देकर ही कदाचित् शान्त हुई। 'गबन' में रतन का विवाह भी ऐसा ही अनमेल विवाह है। वकील साहब सन्तान की आकांक्षा से विवाह करते हैं किन्तु यह अभिलाषा पूर्ण नहीं होती। रतन को आभूषणों से लाद कर वह उसकी प्रेम की प्राकृतिक आकांक्षाओं का शमन करते हैं। 'काया-कल्प' में एक महत् उद्देश्य लेकर मनोरमा ठाकुर विशाल सिंह का स्वयं वरण करती है। इन अनमेल विवाहों का कारण मूलतः धन है। बहुधा दहेज प्रथा का दानव और धार्मिक संकीर्णता इसके कारण हैं। प्रेमचन्द ने इस दहेज प्रथा के विरोध में ही इन कथानकों को गढ़ा है। निर्मला उपन्यास की मूल समस्या दहेज प्रथा और अनमेल विवाह, के दुष्परिणाम हैं। 'सेवासदन' में सुमन का बलिदान भी इसी दहेज प्रथा-पर होता है।

स्त्री की आर्थिक निर्भरता समाज के लिए कलंक है। यदि स्त्री को आर्थिक सुविधा प्राप्त होती है, पैत्रिक व पति की सम्पत्ति में अधिकार मिलता होता तो कितनी ही स्त्रियों के जीवन का अन्त रतन के समान करुण न होता।

नारी जीवन की निगूढ़ वेदना, परिवार में उसका स्थान, प्रेम क्षेत्र की विवशताएँ वे समस्या हैं जो बहुधा समाज के सम्मुख आती हैं। 'काया-कल्प' की लौंगी ठाकुर हरिसेवक की रक्षिता है, गृहिणी पद पर आसीन है किन्तु गुरुसेवक की दृष्टि में वह एक पतित दासी से अधिक नहीं, यद्यपि उसने मातृ-स्नेह से उनका पालन पोषण किया है। 'गोदान' में सिलिया और मातादीन का गुप्त रूप से दैहिक सम्बन्ध समाज को सह्य है किन्तु प्रकाश्य से वर्जित है। जब सिलिया के पारिवारिक सदस्य मातादीन से उसे प्रकाश्य रूप से ग्रहण करने को कहता है तो वह निर्लज्जता पूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है। क्रुद्ध परिवारी कहते हैं कि यदि वह सिलिया को ब्राह्मण नहीं बना सकता तो वे उसे चमार तो बना ही सकते हैं और अभक्ष्य खिलाकर वे मातादीन को शूद्र बना लेते हैं[6]। सिलिया की कातर प्रार्थनाएँ भी उन्हें इस कार्य से विरत नहीं करती। स्पष्टतः मातादीन का प्रेम

6 प्रेमचन्द गोदान पृष्ठ संख्या 261।

स्वार्थ जन्य दैहिक आकांक्षाओं तक ही सीमित है जब कि सिलिया का प्रेम निस्वार्थ, त्याग भाव समन्वित है। मातादीन के प्रति सिलिया के माता-पिता-भाई आदि का उग्र व्यवहार प्रेमचन्द जी द्वारा प्रस्तुत समाधान सा लगता है। नारी के सम्मान के शत्रु, समाज के शत्रु मातादीन जैसे कापुरुषों की ऐसी ही लांछना उनका उचित दण्ड हो सकता है।

जहाँ प्रेमचन्द जी के उपन्यसों में नारी जीवन की निरीह विवशता का क्रन्दन है वहाँ उसके ओजस्वी रूप का भी परिचय मिलता है। 'गबन' में रतन सदैव एक कटार पास रखती है[७] 'काया-कल्प' में अहिल्या अत्याचारी का छुरी से प्राणान्त कर सतीत्व रक्षा करती है। 'गोदान' में मीनाक्षी अपने दुराचारी पति एवं उसके मित्रों का भारी सभा में कोड़ों से सत्कार करती है[८]। यह स्थिति अतिरंजित है किन्तु प्रेमचन्द जी की दृष्टि में यही उचित समाधान है।

पाश्चात्य शिक्षा नारी के शील और गौरव के उपयुक्त नहीं, गोदान की उच्च शिक्षिता मालती रंगीन तितली है पुरुषों से हास-परिहास उसे प्रिय हैं। मेहता, खन्ना, तरंग मिर्जा, उसके पीछे भौरे से मंडराते हैं। मेहता का खान वेश का अभिनय अन्य प्रेमियों के उथले प्रेम का, दब्बू प्रकृति का उपहास करने के लिए है। खन्ना मालती के प्रेम की आशा में गोविन्दी की अवहेलना ही नहीं करता उसका अपमान भी करता है। धनोन्माद में उसे एक दासी से अधिक नहीं समझता। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर पत्नी विद्या को पैर की जूती से अधिक मान नहीं देते[९]। उससे परामर्श लेता है। "पर वीटो का अधिकार अपने हाथ में रखता है[१०]।

'रगभूमि' में सोफिया और विनय का प्रेम धार्मिक संकीर्णताओं के कारण पल्लवित नहीं हो पाता। रानी जान्हवी की सम्मति तो अन्त में मिल भी जाती है किन्तु मिसेज जान सेवक अंत तक इसे सामाजिक लांछना ही मानती हैं, धर्म के बाहर प्रेम के लिए स्थान नहीं। धार्मिक संकीर्णताओं से जकड़ा उनका हृदय मातृत्व के प्राकृतिक स्नेह का नाश कर देता है। वात्सल्य-प्रेम धर्म-बन्धन से सदा के लिए, प्रसुप्त हो जाता है।

इस प्रकार नारी जीवन के संघर्ष युक्त जीवन के चित्र खींचते हुए प्रेमचन्द जी ने उसे अनेक कोणों से देखा है। प्रेमचन्द जानते थे कि कि बहुधा पुरुष नारी की दुर्बलता से उसकी स्नेही एवं विश्वासमयी प्रकृति से अपनी लोलुप प्रकृति को तुष्ट करने को सचेष्ट रहता है। 'गोदान' की सिलिया जब सोना से मिलने संध्या-काल में जाती है तब उसके गांव तक पहुँचते-पहुँचते अंधकार का साम्राज्य विस्तार हो जाता है। सिलिया की पहले मथुरा से भेंट होती है। बरोठें का अंधकार मथुरा की पशु प्रवृत्ति को उत्तेजित कर देता है। यद्यपि प्रेमचन्द जी के मतानुसार मथुरा लम्पट न था। सोना से उसे प्रेम भी था। इस वक्त

7 प्रेमचन्द, कायाकल्प, पृष्ठ संख्या 195
8 प्रेमचन्द, गोदान, पृष्ठ संख्या 335
9 प्रेमचन्द, प्रेमाश्रम, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ संख्या 10
10 वही पृष्ठ संख्या 44

अंधेरा और एकान्त तथा सिलिया का यौवन देखकर उसका मन चंचल हो उठा था[11]। 'काया-कल्प' में ठाकुर गुरुसेवक को लौगी का ठाकुर हरिसेवक से सम्बन्ध अपमान जनक लगता है किन्तु, जगदीश पुर के नाजिम बन कर जब वे रनिवास के प्रबन्धक बनते हैं तो रानी रामप्रिया के सहज स्नेह से उन्हें मतिभ्रम हो जाता हैं। वे उसके प्रेम की परीक्षा लेने को अधीर हो जाते हैं[12]। कर्मभूमि का आदर्श पात्र अमरकान्त सुखदा से विचार-साम्य स्थापित नहीं कर पाता, उससे खिंचा रहता है किन्तु सकीना की आर्थिक विवशता वहाँ प्रेम का सौदा करने के लिए उत्तेजित करती है। यह प्रेम वासनामय है, वह ढिठाई के साथ कहता है—मैं वह मुहब्बत चाहता हूँ, जिसमें ख्वाहिश हैं, लज्जत है। मैं बोतल की सुर्ख शराब पीना चाहता हूँ, शायरों की खयाली शराब नहीं[13]।

नारी को पथ-च्युत करने के लिए पुरुष अवसर खोजता हैं, समाज का विचित्र विधान उसे इसके लिए खुली छूट दिए है। स्त्री भी स्त्री के चरित्र में ही दोष देखती है, पुरुष को दण्डित करने का विचार उसके मन में नहीं है क्योंकि समाज ने उसे यह अधिकार नहीं दिया है।

स्त्री दुराचार के पथ पर इसलिए नहीं बढ़ती कि वह स्वभाव से ही वासना ग्रस्त है। पुराने सन्तों के समान प्रेमचन्द जी ने उसे नरक का द्वार नहीं माना है, पुरुष को पथ भ्रष्ट करने वाली लोलुप नारी को चित्रित नहीं किया है। 'रंगभूमि' के स्त्री पात्र उच्च वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक सभी में एक तेजस्विता है, विवेक और सद्-असद् की भावनाएँ हैं। रानी जान्हवी, सोफिया, इन्दु उच्च वर्ग के परिष्कृत विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं, कुल्सूम निम्न मध्यवर्गीय नारी का। ताहिरअली के जेल जाने पर सिलाई आदि के कार्य से जीविका की समस्या हल करती है। सुभागी भैरो से परित्यकता होकर शाक भाँजी बेचती है। प्रश्न उठता है कि सेवासदन की तेजस्विनी सुमन क्यों ऐसा स्वावलम्बन न दिखा सकी ? क्या वह स्वभाव से ही पतनशील थी ? सुमन के मार्ग के बाधक तत्त्व वंश मर्यादा के साथ ही नारीत्व की रक्षा सम्बन्धी भी थे, वह कन्याओं को पढ़ा सकती थी, सिलाई द्वारा जीवन निर्वाह कर सकती थी, किन्तु पुरुषों की कामुकता से रक्षा करने वाला सबल आलम्बन कहाँ था? वह रूपवती थी और रूप ऐसी परिस्थितियों में घातक शत्रु प्रमाणित होता है। उसने पद्मसिंह शर्मा के यहाँ परिचारिका कार्य सम्भाल संरक्षण चाहा था। क्या वह उसे मिला ? उसे धनिकों के आमोद के लिए, सर्व-साधारण की वासनामयी दृष्टि से बचने का एकमात्र स्थल 'कोठा' ही मिला। 'गबन' की जौहरा भी सुमन के समान ही वेश्यावृत्ति को संरक्षण प्राप्त होते ही त्याग देती है। पतन की ओर बढ़ने वाली नारी केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं, समाज की अनुदार मनोवृत्ति के कारण भी कोठों पर बैठने के लिए विवश होती है।

स्त्री जीवन से सम्बन्धित समस्याओं में भी कभी-कभी राजनीतिक कारण भी उपस्थित हो जाते हैं। कर्मभूमि का नायक अमरकान्त पिता के पेशे लेन-देन से सहानुभूति नहीं

11 प्रेमचन्द गोदान, पृष्ठ संख्या 310
12 प्रेमचन्द, कायाकल्प, पृष्ठ संख्या 205
13 प्रेमचन्द, कर्मभूमि, पृष्ठ संख्या 128

रखता। उसके गान्धीवादी विचारों के कारण पिता अप्रसन्न हैं। पत्नी सुखदा को भी चर्खा चलाना और खादी गट्ठर कंधे पर लादकर घर-घर घूमना अशोभनीय और असंगत लगता है। पति पत्नी का वैमनस्य बढ़ता जाता है और मेल तभी होता है जब सुखदा भी आन्दोलन के महत्व को समझ कर जेल पहुँच जाती है। घटना क्रम से इस उपन्यास के कई पात्र आन्दोलन में भाग लेते हैं। मैना तो गोली का शिकार ही बन जाती है। 'रंगभूमि' की इन्दु महेन्द्र से अन्त तक समझौता नहीं कर पाती। महेन्द्र सिंह अफसरों की ठकुर सोहाती को अधिकार एवं शक्ति का साधन बनाते हैं। उचित मार्ग से दबाव के कारण हट जाते हैं। इन्दु को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने से रोकते हैं। और स्थिति उस विन्दु पर जा पहुंचती है कि इन्दु पति गृह छोड़ने पर विवश होती है।

विवाह-विच्छेद का शास्त्र सम्मत अधिकार स्त्री को समाज नहीं देता किन्तु विच्छेद होते ही हैं। इन्दु का महेन्द्र का गृह-त्याग विवाह-विच्छेद ही है। 'गोदान' में मीनाक्षी के दाम्पत्य सम्बन्ध टूटने का उल्लेख है। यद्यपि प्रेमचन्द जी के जीवन काल में विवाह विच्छेद को मान्यता नहीं मिली थी किन्तु प्रेमचन्द जी इसके प्रबल समर्थक थे यह उनकी कृतियों से स्पष्ट है।

प्रेमचन्द जी स्त्रियों के अधिकारों के प्रति जागरुक थे। उनकी सहज सम्वेदनशील प्रकृति ने सामाजिक अत्याचारों के नाग पाश में आबद्ध नारी को मुक्त करने के लिए उपन्यास को माध्यम चुना था। अपनी सशक्त लेखनी से उन्होंने नारी जीवन के जो चित्र खींचे वे घर-घर की कहानी थे। अनुभूति की तीव्रता में इन चित्रों को वह मार्मिकता प्रदान की थी कि वे पाठक के मानस को झकझोर सकें, उसके विवेक को जाग्रत कर सकें।

इस प्रकार प्रेमचन्द जी के उपन्यासो में नारी जीवन के बहुरंगी चित्रों के साथ उसकी अनेकोन्मुखी समस्याओं का चित्रण है। समाज की हृदयदीनता का चित्रण करते हुए उन्होंने नारी को उसके अधिकारों से अवगत कराया और उसमें आत्म विश्वास जाग्रत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

प्रेमचन्द साहित्य में जीवन की यथार्थता

डा० एस. टी. नर्सिंहाचारी, *

साहित्य यथार्थ नहीं है, वह साहित्यकार के मन की यथार्थोन्मुत्व सृष्टि है। जीवन की यथार्थता लेखक के मन की कल्पना में एक विशेष मूल्य दृष्टि के साथ न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्तित होकर नवीन रूप धारण करती है। जिस तरह सृष्टिगत सौन्दर्य ललित-कलाओं में रूप की परिधि में बांधने के कारण अधिक प्रयविष्णु (स्ट्राइकिंग) प्रतीत होता है उसी तरह सफल साहित्यकार की रचना में जीवन की यथार्थता उसके सारभूत तत्वों को लेकर अभीष्ट मूल्यानुभूति के साथ अत्यन्त सजीव लगती है। इस सजीवता की पराकाष्ठा इस बात में है कि लेखक के पात्र पाठक के मानस में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं, दृष्टिकोणों और मूल्य दृष्टि को यथार्थ जीवन की गतिविधि में हमारे सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों की तरह प्रभावित करते हैं। प्रेमचन्द-साहित्य में जीवन की यथार्थता की पकड़ को परखते समय एक ओर साहित्य में यथार्थाभिव्यक्ति की सीमाओं और उसकी प्रकृति को ध्यान में रखना है तो दूसरी ओर पात्र-सृष्टि के माध्यम से उसकी प्रभविष्णुता को।

साहित्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति, साहित्यिक परिस्थिति और परम्परा की सीमाओं का अतिक्रमण बहुत कम कर पाती है। प्रतिभाशाली लेखक अपनी प्रतिभा के बल पर या अन्य भाषा-साहित्यों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी विद्या की परिधि को अत्यन्त व्यापक बना सकता है; उसे काल और परिस्थिति के निम्न धरातल से ऊपर ले जाकर गतिशील बना सकता है; फिर भी यथार्थता की पकड़ की अपनी सीमाएँ रह जाती हैं। यह साहित्याभिव्यक्ति के माध्यम, विद्या और रूप विधान की अविकसित या अर्द्ध विकसित स्थिति का परिणाम है। प्रेमचन्द के पूर्व और उनके समय हिन्दी कथा साहित्य में जीवन की यथार्थता के निरूपण के धरातल को देखते हुए इस दिशा में उनके ऐतिहासिक योगदान का अनुमान किया जा सकता है। अपने युग की साहित्यिक चेतना से ऊपर उठकर वे 'गोदान', 'कफन', 'पूस की रात' आदि कुछ रचनाओं में तत्कालीन जीवन की यथार्थता की वास्तविक पहचान दे सके, यह उनकी प्रतिभा का परिचायक है। प्रेमचन्द के समय हिन्दी कथा-साहित्य की परम्परा अभी विकासशील थी; उसके पाठकों में उच्च साहित्यिक अभिरुचि का प्रायः अभाव था; लेखक-पाठक दोनों में मनोरंजन की दृष्टि प्रबल थी—ऐसी परिस्थिति में प्रेमचन्द ने सोद्देश्य रचना करते हुए साहित्यिक अभिरुचि को जीवन की यथार्थता की ओर अभिमुख करने, उसे नये रूप में ढालने और उसे ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। जहाँ यह कार्य उनकी ऐतिहासिक भूमिका को स्पष्ट करता है, उनकी सोद्देश्य रचना प्रचार के विषजाल में फंसकर जीवन के सतही यथार्थ का निरूपक मात्र रह गई है।

---

* तिरूपति, आ० प्र०

जीवन की यथार्थता क्या है--इसका निर्धारण सरल काम नहीं है। दर्शन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में मोटे तौर पर जीवन के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। एक भौतिकतावादी दृष्टि है जो पदार्थ या परिस्थिति को महत्व देकर उसी को जीवन का, व्यक्ति-मानस का निर्धारक मानती है। दूसरी दृष्टि में व्यक्ति-मन और उसकी चेतना जीवन की गतिशीलता का प्रेरक तत्व है। परिस्थितियों की प्रबलता को स्वीकार करने वाले प्रेमचन्द को यथार्थवादी दृष्टि का लेखक कहा जा सकता हैं। उनकी रचनाओं में ऐसे सन्निवेशों की कमी नहीं है जहां पात्र के मन की प्रतिक्रिया परिस्थिति को ढालती है। पर वे मन की चेतना को स्वयं सामाजिक संस्कारों से विकसित और नियन्त्रित मानते हैं। इस दृष्टि से यथार्थ-प्रेमचन्द की साहित्य–साधना की मूल संरचना है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यह मूल संरचना अधिकांश रचनाओं में आदर्शोन्मुख क्यों हो गई है? यह कला के सम्बन्ध में लेखक के दृष्टिकोण का परिणाम है। पहले गांधीवाद से और बाद को मार्क्सवाद से प्रभावित उनकी विचारधारा, सुधारवादी दृष्टि और सामाजिक जीवन दर्शन ने रचना की मूल यथार्थ-वादी संरचना की प्रकृति को बदल डाला है। इस प्रक्रिया में लेखक जीवन की यथार्थता की गहराई में पैठने के बदले बाहरी यथार्थ में परिवर्तन लाने की दिशा की ओर अग्रसर हो गया है। समीक्षक इसे प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता कह रहे हैं, लेकिन क्या वास्तविक गति या प्रगति जीवन की यथार्थता के मूल तत्वों में प्रविष्ट हुए बिना सम्भव है? प्रेमचन्द की रचनाओं के सूक्ष्म अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी अन्तिम रचनाओं में सुधार और प्रगति के सैद्धांतिक घेरों से मुक्त होकर गतिशील यथार्थ के वास्तविक स्वरुप को पह-चानने की ओर उन्मुख हुए हैं। उस यथार्थ में परिस्थितिजन्य कुंठा और निराशा हो सकती है, लेकिन उसकी पहचान के माध्यम से ही जीवन में वास्तविक गतिशीलता लाई जा सकती है।

प्रेमचन्द साहित्य में जीवन के सामयिक यथार्थ के अनेक पहलुओं का चित्रण किया गया है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित पहलू विशेष उल्लेखनीय हैं। गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन, सत्याग्रह और उग्रवादी दलों के द्वारा विद्रोह एवं क्रान्ति की भावनाएं 2. भारत का ग्रामीण जीवन, संस्कार और स्वभाव, 3. पारिवारिक जीवन और सम्बन्ध जिसके अन्तर्गत सयुक्त परिवार के विघटन की परिस्थितियां और व्यक्तिवादी दृष्टि के विकास को भी लिया जा सकता है 4. भारतीय सामाजिक जीवन की गतिविधि–जिसमें धार्मिक पाखंड या आडम्बर, रुढ़ियों के प्रति विद्रोह, बदलते सामाजिक सम्बन्ध, समाज के विभिन्न वर्गों की स्थिति, किसान मजदूर हरिजन नारी वेश्या आदि दलित-शोषित वर्गों की समस्याएं आदि सम्मिलित है 5. भारत की औद्योगिक परिस्थितियों का निरुपण विशेषतः गांधीवादी-मानवतावादी विचार धारा के विरोध में और 6. भारत के आर्थिक शोषण की ओर संकेत जिसमें साम्राज्यवादी, सामन्तवादी एवं पूंजीवादी तीनों व्यवस्थाओं का हाथ है तथा जो शोषण वर्ग-संघर्ष को जन्म देने वाला है। प्रेमचन्द साहित्य में जहाँ पहले गांधीवाद के प्रभाव से वर्ग-समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है वहाँ परवर्ती यथार्थोन्मुख रचनाओं, में वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता को भी स्वीकार किया गया है। वास्तव में भारतीय

जीवन की यथार्थता के ये पहलू प्रेमचन्द साहित्य की पृष्ठभूमि है जिस पर पात्रों के व्यक्तित्व चरित्र और जीवन-व्यापारों का अंकन किया गया है। दूसरे शब्दों में यह तत्कालीन परिस्थितिजन्य यथार्थता को पहचानने का आरम्भिक प्रयास मात्र है।

प्रेमचन्द की पात्र सृष्टि भी एक सीमित अर्थ में हीं जीवन की यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है। पात्रों के स्वभाव चरित्र और व्यवहार को मानवोचित सहज स्वरूप प्राप्त हुआ है। उनकी वैचारिक–भावात्मक प्रतिक्रियाएँ व्यावहारिक मनोविज्ञान की कसौटी पर प्राकृतिक मानी जा सकती हैं। ग्रामीण पात्रों में स्वभाव की सरलता और सामाजिक संस्कारों की प्रबलता के साथ-साथ व्यवहार कुशल दाँव-पेंच, पात्र-सृष्टि को भारतीय जीवन के व्यक्त यथार्थ के अति निकट पहुँचा देती है। इससे आगे बढ कर पात्रों के आन्तरिक व्यक्तित्व और मानस की गहराइयों में पैठने का प्रयत्न कम किया गया है। इसलिए शरत या प्रसाद की तरह प्रेमचन्द की रचनाओं में पात्रों की अव्यक्त मानसिक यथार्थता का नया उद्घाटन और उसके बोध से पाठकों को चमत्कृत कर देने वाली अनुभूति नहीं होती, यह सही है कि साहित्य मनोविज्ञान नहीं है; मनोविज्ञान के आधार पर सैद्धांतिक पात्र-परिकल्पना लेखक का लक्ष्य नहीं है; लेकिन व्यक्ति-मानस की गहराइयों से अछूते रूप में जीवन की यथार्थता अपनी समग्रता में प्रस्तुत नहीं हो सकती। यथार्थता का अर्थ रचना के वातावरण वस्तु और पात्र-परिकल्पना में जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के साथ बहिर्मुखी अनुरूपता नहीं है, जीवन का अनुकरणात्मक प्रतिबिंब नहीं है।

भारतीय जीवन की यथार्थ परिस्थिति के साथ वातावरण, वस्तु और पात्र-परिकल्पना की अनुरूपता के अतिरिक्त प्रेमचन्द के कथा साहित्य की यथार्थोन्मुखता की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता रचना के सभी पक्षों में उसकी सामान्योन्मुखता है। वस्तु, अनुभूति, कथ्य, रूप और यहाँ तक कि माध्यम भाषा भी जीवन के अति साधारण धरातल से सम्बद्ध है। यह बात नहीं है कि प्रेमचन्द के साहित्य में मानव जीवन के संभाव्य, असाधारण या कल्पित पहलुओं या अंशों को लेकर रचना ही नहीं की गई हों। लेकिन वे अंश या तो मात्रा में उपेक्षणीय हैं या उनको सामान्य के धरातल पर ले आकर उसकी परिधि में प्रस्तुत किया गया है। साहित्य में जीवन के सामान्य या साधारण पहलू का प्रतिपादन, सच्चे यथार्थ का आभास देते हुए, विश्वसनीयता और आत्मीयता की अनुभूति देते हुए एक सौंदर्य शास्त्रीय धर्म का सम्पादन भी करता है।

प्रेमचन्द की यथार्थवादी चेतना की परिधि-केवल जीवन की बहिर्मुखी यथार्थता की सीमाओं में बंधी हो, ऐसी बात नहीं है। वे ग्रमीण चेतना की अभिव्यक्ति में पर्याप्त तल स्पर्शिता का प्रमाण देते हैं। ग्रामीण संस्कारिता की उनकी सूक्ष्म पकड़ अनेक अवसरों पर मानव मन की मूल मनोवृत्तियों को व्यक्त करने में सफल हुई है। 'गोदान' आदि परवर्ती रचनाओं में व्यक्त यथार्थ के मूल में क्रियाशील प्रेरक मानसिक बिन्दुओं और प्रभावों का सशक्त विश्लेषण किया गया है। 'कफन' की यथार्थवादी चेतना केवल वातावरण वस्तु, और पात्र परिकल्पना की यथार्थोन्मुखता पर आधारित नहीं है। वह जीवन की प्रतिकूल यथार्थ परिस्थितियों में पराजित मानव मन की कहानी है। आर्थिक विषमता मानव-मन

को विकृत कर देती है और उस विकृत मन की क्रियाशीलता, जीवन की परिस्थितियों को, उसकी गति-विधियों को ही प्रभावित नहीं करती बल्कि मन की चिन्तन शीलता, संवेदनशीलता, और कल्पनाशीलता को भी उस विकार का शिकार बना देती है। लेखक ने उस विकारग्रस्त मन का विश्लेषण किया है और उस विकृति के माध्यम से जीवन की कठोर वास्तविकता की ओर संकेत किया है। मन का विकार और उसका प्रभाव, संरचना में व्यंग्य का रूप धारण करता है तो व्यक्ति की कहानी सामाजिक होकर सामाजिक दायित्व के अनेक प्रश्नों को उठाती है। ध्यान देने की बात यह है कि कहानी में व्यंग्य प्रत्यक्ष नहीं है : वह कहीं भी आक्षेप का रूप धारण नहीं करती। इसलिए वह व्यक्तिपरक या वर्गपरक न होकर सामाजिक परिस्थितियों की विवशता को प्रकट करता है उस विवशता में लेखक समस्या का समाधान न ढूंढकर, कर्तव्य की ओर अप्रत्यक्ष रूप से भी संकेत न करके यथार्थताबोध को ही अपना लक्ष्य मानता है। परिस्थिति में विवश पक्षों के प्रति समवेदना जाग उठती है तो उसे आदर्शोन्मुखता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। लेखक सहानुभूति जगाने का सचेष्ट प्रयत्न नहीं करता। जीवन के यथार्थ की इस कथात्मक संरचना में केन्द्र बिन्दु आर्थिक परिस्थितियों की विषमता मात्र नहीं है, अपितु उन परिस्थितियों में व्यक्ति की मानसिकता है। उस मानसिकता के वैचारिक, भावात्मक और काल्पनिक पक्षों का उद्घाटन, यथार्थ को गहराई प्रदान करता है। व्यक्ति-मानस की स्पंदनशीलता और प्रतिक्रिया में पहुँचे बिना जीवन का यथार्थ सच्चा यथार्थ नहीं हो सकता। दूसरी ओर जीवन का आर्थिक यथार्थ जब तक व्यक्ति के सामाजिक जीवन का संस्पर्श प्राप्त नहीं करता और उससे ऊपर उठकर समाज के दायित्व को ध्वनित नहीं करता, वह यथार्थ का समग्र रूप नहीं हो सकता। लेखक ने एक छोटी कहानी के दायरे में यथार्थ के व्यापक चित्र को प्रस्तुत करते हुए उस यथार्थ के मूल में व्यक्ति की मनोवृत्तिया मनोवैज्ञानिक चेतना का निरुपण किया है। कहानी में यथार्थ परिस्थिति, घटना या पात्रों के क्रिया व्यापारों को प्रमुखता न देकर व्यक्ति की संवेदनात्मक अनुभूति को प्रधानता दी गई है जिसके माध्यम से ही वस्तुनिष्ठ यथार्थता की अभिव्यंजना होती है। बुधिया की प्रसव-पीड़ा और मृत्यु, कहानी की पूर्व पीठिका है। उस घटना को केन्द्र बनाकर घीसू और माधव; भूख और प्यास को तृप्त कर लेने में यत्नशील होते है। मृत्यु की घटना, दरिद्रता की नग्न परिस्थितियों में दोनों के लिए मन की वेदना का विषय नहीं रह जाता। वह दोनों के व्यक्त मन के केन्द्र में अवश्य रहती है; लेकिन मन को धोखा देकर अन्य क्रिया कलापों के प्रेरक के रूप में। समस्त कार्य व्यापार सहज सामाजिक जीवन के ढांचे में व्यंग्य के माध्यम से असाधारण मानस को द्योतित करता है और फिर पाठक के मन में विचारों-विचारोत्तेजन की प्रक्रिया के द्वारा जीवन की कटु वास्तविकता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। यही वास्तव में वहिर्मुखी यथार्थ की कलात्मक या साहित्यि अभिव्यक्ति कहलाती है।

'कफन' की यथार्थवादी चेतना की तुलना 'गोदान' में होरी के जीवन की निर्मम परिस्थितियों के साथ की जा सकती है। दोनों में जीवन के यथार्थ की कटुता और कठोरता उससे उत्पन्न मानसिक वेदना है; पर पहले में वह विकारग्रस्त मन को जन्म देता है तो

दूसरे में करुण विवशता को पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है। मन दिग्मूढ़ होकर प्रश्न करता है कि इस परिस्थिति में सामाजिक व्यवस्था का कितना दायित्व है और व्यक्ति का क्या कर्तव्य है या यह सब विधि-विधान है जिससे मनुष्य अपने को उबार नहीं सकता ? निराशा में जीवन की कहानी समाप्त होती है लेकिन लेखक का स्वर निराशावादी नहीं है। वह आदर्शवादी होकर प्रश्न का समाधान ढूंढने का प्रयत्न नहीं करता, फिर भी जीवन में आस्था को बनाये रखता है। होरी के जीवन की यथार्थता को लेखक ने उसके मानस के साथ सफल रूप में संबद्ध किया है। उसकी मानसिक सम्वेदनशीलता परिस्थितियों की दुखद प्रतिक्रियाओं, सहज मानवीय अनुभूतियों और संस्कारों के प्रतिबन्धों से गहन रूप धारण करती है। परिस्थितियाँ व्यक्ति-मन के प्रेरणा-सूत्र बन जाते हैं, उससे मन झकझोर उठता है और लेखक मानसिक यथार्थता के अनावरण में संलग्न हो जाता है। प्रेमचन्द ने होरी के जीवन के माध्यम से भारतीय किसान की आन्तरिक चेतना और बहिर्मुखी परिस्थितियों का सामयिक परिवेश में ऐसा समन्वित एवं समग्रचित्र अंकित किया है कि वह जीवन की व्यापक यथार्थता को एक निश्चित लम्बी कलावधि में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाला हो गया है। उसी उपन्यास में नागरिक जीवन के चित्र को क्या उसकी आन्तरिक यथार्थता का अभि-व्यंजक कहा जा सकता है ?

'कफन' और 'गोदान' के साथ 'पूस की रात' की तुलना करते हैं तो यथार्थ की गहराई का वास्तविक रूप समझ में आ जाता है। उसमें भी आर्थिक विषमता की अभि-व्यंजना है जो परिस्थितियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। परिस्थिति का पात्र की मान-सिकता पर प्रभाव और उस प्रभाव के कारण उस में परिवर्तन की ओर भी संकेत है। किसानी से मजदूरी अपेक्षाकृत अधिक सुखद है, यह मनोवृत्ति जीवन की विषमता का द्योतक हैं। परिस्थितियों और घटनाओं के माध्यम से इस मनोवृत्ति की व्यंजना यथार्थ की अनुभूति को गहन बना देती है। पूस की रात इस अनुभूति में प्रतीक हो जाती है। वह जीवन की बहिर्मुखी विषमता को व्यक्त करने के साथ-साथ आन्तरिक चेतना को भी आमूल बदल डालने वाली केन्द्र बिन्दु है। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी में पात्रों की मानसिकता से सम्बद्ध रूप में आन्तरिक यथार्थता की वह अभिव्यक्ति उसमें नहीं है जो कफन और होरी की गाथा में है। उसमें पात्रों के मानस-विश्लेषण से कहीं अधिक प्रमुखता परिस्थिति निरूपण को दी गई हैं।

जीवन की यथार्थता की साहित्यक अभिव्यक्ति के सदर्भ में उठने वाला सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न सामयिक बोध का है। साहित्यकार अपने युग जीवन से प्रभावित ही नहीं होता, उस की सर्जना सामयिक यथार्थ से बंधी भी होती है। युग जीवन का अनुकृति मूलक प्रतिबिंब प्रस्तुत करने वाले कलाकार के सम्बन्ध में ही नहीं, उसको कल्पनाशील रूप में ग्रहण करने वाले लेखक पर भी यह बात समान रूप से लागू होती है। यहाँ तक कि साहित्यकार की रचना अपनी वर्गीय दृष्टि और संस्कारों से भी न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित अवश्य हो जाती है। प्रेमचन्द-साहित्य में सामयिक यथार्थ का समग्र चित्रांकन हुआ है। युग के सामा-

जिक जीवन के समस्त पहलुओं में काल की परिवर्तनशीलता को देखने-दिखाने का प्रयत्न उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिल जाता है। लेखक की पैनी दृष्टि कहीं-कहीं सामयिक यथार्थता में परिस्थितियों की अनिवार्यता को व्यंजित करती है तो कहीं-कहीं परिस्थितिजन्य आशा-निराशा से ऊपर उठकर भावी परिवर्तन की दिशाओं की ओर संकेत करती हैं। इस परिवर्तनशीलता में भी जीवन की आस्था और आशा लेखक की स्वस्थ दृष्टि का प्रमाण है। 'गोदान', 'कफन', 'पूस की रात' आदि में अभिव्यक्त सामयिक यथार्थ की विषय एवं करुण परिस्थितियों में भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि लेखक उदासीनता और निराशा का शिकार हो गया है या वह जीवन और उसकी गतिशीलता के प्रति विमुख है। यहाँ यथार्थ को आदर्श के ढाचे में ढालने का प्रयत्न नहीं हुआ है; सामयिक स्थिति का बोध-वेदनामय हैं, फिर भी लेखक के मन का कलाकार अपनी जीव शक्ति को अव्यक्त प्रवाहित कर रहा है।

साहित्य में सामयिक यथार्थ की अभिव्यक्त पर विचार करते समय सहज ही यह प्रश्न उठता है कि रचना में उसका साहित्यिक या सौन्दर्य शास्त्रीय क्या मूल्य है? क्या वह रचना की वस्तु या उसकी अनिवार्य भूमिका मात्र है, अथवा साहित्य की मूल्य–व्यवस्था से उसका कोई सम्बन्ध है? यदि मोटे तौर पर यह मान ले कि साहित्य की मूल्य-व्यवस्था मानवीय संवेदना और सौन्दर्य बोध पर निर्भर है तो क्या सामयिक जीवन का आधार छोड़-कर उनकी अभिव्यक्ति की जा सकती है? गतिशील और परिवर्तनशील मानव जीवन को शाश्वत तथा सामयिक कठघरों में वन्द नहीं किया जा सकता। साथ ही कला या साहित्य की परिधि में सामयिक यथार्थ अपने में मानसिक चेतना के कुछ ऐसे सूक्ष्म तन्तुओं को समेट लेता है कि सामयिक रचना का प्रभाव कालजयी होता है। किसानों की समस्याओं के हल हो जाने के वाद भी गोदान का प्रभाव अक्षुण्ण रहने का यही कारण है कि लेखक ने होरी के माध्यम से सामयिक यथार्थ को जीवन की मानवीय संवेदनशीलता और जीवन्तता का रूप प्रदान किया है। अनमेल विवाह की विषम परिस्थितियों को लेकर चलने वाली निर्मला की करुण कहानी गोदान के समान सामयिक यथार्थ को रूप देती है, लेकिन संवेदना के स्तर पर दोनों के साहित्यिक मूल्य में अन्तर है। वह अन्तर केवल शिल्पगत नहीं है। वास्तव में रचना का शिल्प जीवन का ताना-वाना है जिसकी सघनता पर उसका सौंदर्य-बोध निर्भर करता है और इस ताने-बाने की सघनता में साहित्य की मानवीय संवेदन-शीलता का मूल्य अनुभूत होता है।

सामयिक यथार्थ की तरह उसकी वर्गीय सीमाओं और संस्कृति से साहित्य का प्रभावित होना और बँधा होना स्वाभाविक है। लेखक कलाकार के रुप में काल की गति में बह नहीं जाता, उसकी आंतरिक चेतना को पहचानने की साधना करता है और उसके प्रति-बंधों को लाँघकर मानवीय चेतना के धरातल पर पहुँच जाता है। वर्गीय परिधि के सम्बंध में भी यह बात लागू हो जाती है। व्यापक अर्थ में सामयिकता और वर्गीयता रचना की वस्तु का बाह्य आवरण कह सकते हैं यद्यपि यह आवरण रचना और रचनात्मक प्रक्रिया का अनिवार्य एवं अभिन्न अंग है। प्रेमचंद मध्यवर्गीय साहित्यकार हैं। उनके कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन का निरूपण निम्नवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति की तुलना में उपेक्षणीय

नहीं है। लेकिन उनकी सफलता, उनका साहित्यिक मूल्य ग्रामीण शोषित वर्ग को आवाज देने में है। यहाँ पर लेखक सामयिक और वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण कर जाने वाला सच्चा साहित्यकार हो जाता है।

सामयिक यथार्थ में परिस्थितियों की प्रतिकूलता या सामाजिक जीवन की रुढिबद्धता लेखक को विद्रोही या क्रांतिकारी बना देता है। यदि लेखक वर्तमान से संतुष्ट नहीं है तो लेखक की रचना में विद्रोह या क्रांति का स्वर अवश्य सुनायी पड़ता है। यह कहीं प्रत्यक्ष मुखरित होता है तो कहीं व्यंजित। महान साहित्यकार वर्तमान की वस्तु स्थिति से संतुष्ट नहीं हो सकता। जो संतुष्ट है वह महान कलाकार नहीं हो सकता। क्रांतिकारी न होने पर भी वह जीवन में और कुछ चाहता है और इसी और कुछ में उसकी महानता ही नहीं साहित्य की महानता का भी रहस्य छिपा हुआ है। यथार्थवादी साहित्यकार में प्रतिकूल परिस्थितियों की विवशता के कारण विद्रोह या क्रांति की भावना कुछ प्रबल हो सकती है। प्रेमचंद को क्रांतिकारी कलाकार तो नहीं कह सकते, लेकिन उनकी रचनाओं में विद्रोह या क्रांतिकारी भावना का अभाव नहीं है। यहाँ तक कि होरी के जीवन की शुद्ध यथार्थवादी परिस्थितियों के चित्रण में भी उसके पुत्र गोबर का विद्रोही स्वर सुनायी पड़ता है।

साहित्य के क्षेत्र में यथार्थ के स्वरूप और उसके कलात्मक मूल्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है। कलात्मक मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और मार्क्सवादी दृष्टियों से उसकी विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की जा रहीं हैं। वास्तव में ये सब दृष्टिकोण साहित्य यथार्थ—के सौन्दर्यशास्त्रीय, मानसिक, तथ्यात्मक और सामाजिक पक्षों के उद्घाटक होकर अपने समन्वित समग्र रूप में ही जीवन की यथार्थता का प्रतिपादन करते हे। प्रेमचंद अपने कथासाहित्य में अनेक विचारधाराओं या वादों से प्रभावित अवश्य हैं, लेकिन उनकी रचना न यथार्थ-निरूपण में और न रचनात्मक प्रक्रिया में उनसे बँधकर एक पक्षीय है। सच्चे साहित्यकार की दृष्टि जीवन पर केन्द्रित रहती है, उसकी व्याख्या करने वाले किसी सिद्धान्त पर नहीं। सिद्धान्त केवल जीवन को, उसकी यथार्थता को समझने के लिए है, उसका पर्यायवाची नहीं है। महान से महान सिद्धान्त से भी व्यापक जीवन की अनन्तता है। यदि एक क्षण के लिए अभिव्यक्ति के स्तर की बात भूल जावें तो जीवन की यथार्थता का जितना व्यापक चित्रण प्रेमचन्द-साहित्य में मिलता है उतना शायद ही अन्य किसी भारतीय लेखक की रचनाओं में प्राप्त होता है। इस यथार्थ निरूपण की सीमाएँ व्यापक अर्थ में अभिव्यंजना–शिल्प सम्बन्धी या सौन्दर्यशास्त्रीय कह सकते हैं। जीवन और साहित्य दोनों में सौन्दर्य उनके व्यक्त रूप की मोटी सरल रेखाओं में नहीं है। उनकी सघनता और जटिलता में सौन्दर्य की सूक्ष्म संवेदनाएँ प्रकट होती हैं। जीवन और साहित्य की गहराइयों में प्रविष्ट होकर ही व्यक्ति या कलाकार उसकी तात्विक अनुभूति को प्राप्त कर सकता है। सौन्दर्य को काल्पनिक मानकर उसे वस्तुनिष्ठ या तथ्यात्मक यथार्थ के विरोध में खड़ाकर

देना भ्रामक है। अव्यक्त वासनाओं और वैचारिक वाग्जाल से मुक्त यथार्थ में जीवन की स्वस्थ-स्पंदनशीलता अभिव्यक्त होती है जो वास्तव में कलात्मक या साहित्यिक सौन्दर्य की आधार भूमि है। यथार्थ के धरातल को छोड़कर ऊँची काल्पनिक उड़ान, अनुपात में जीवन-सौन्दर्य की स्वस्थ अनुभूति के लिए घातक सिद्ध होती है प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में अनेक ऐसे अवसर प्राप्त हो जाते हैं जहाँ लेखक ने जीवन की यथार्थता और उसके सौन्दर्य को सैद्धान्तिक घेरों से मुक्त सहज मानवीय अनुभूति का रूप प्रदान किया है। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रेमचन्द-साहित्य का अनुशीलन अनेक नये तथ्यों का आविष्कारक हो सकता है।

कला या साहित्य में यथार्थता, उद्देश्य या दृष्टि रहित जीवन का आख्यान है। किसी भी प्रकार का दृष्टिकोण—चाहे वह धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सिद्धान्त से सम्बद्ध क्यों न हो, साहित्य की रचना को आदर्शोन्मुख बना देता है। यह आदर्शीकरण मानव-जीवन की प्रगति के लिए आवश्यक हो सकता है, साहित्य रचना में उसका महत्व असंदिग्ध भी हो सकता है; लेकिन वह साहित्य में जीवन की यथार्थता का तटस्थ निरूपण नहीं है। सच्चा यथार्थवादी साहित्यकार जीवन के सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य को ईमानदारी के साथ-अपनी समझ और अनुभूति के अनुरूप यथातथ्य निरूपित करने का प्रभाव करता है। लेखक रचना में जीवन की गति-विधि से निर्मित होकर नाटकीय तटस्थता को बरतने की साधना करता है। यह आदर्श स्थिति सदा साध्य नहीं होती; लेखक की दृष्टि कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाती है। तब पाठक सामाजिक प्राणी के रूप में रचना की यथार्थता के साथ, उससे संबद्ध लेखक की दृष्टि का भी मूल्यांकन करने लगता है। रचना में तटस्थ यथार्थ निरूपण के अनुपात से ही उसका मूल्यांकन हो यह आवश्यक नहीं है पर तटस्थता रचना की यथार्थता के उचित मूल्यांकन का पथ प्रशस्त करती है। वह अपने में स्वयं कलात्मक मूल्य हो सकता है, विशेषतः जब वह जीवन के समग्र आकलन में, उसकी व्यवस्था एवं प्रेरक बिंदुओं के निरुपण में, उचित मूल्य बोध कराने में लेखक के लिए सहायक बनती है। ऐसी स्थिति में जीवन की यथार्थता का, उसके कलात्मक मूल्य बोध का भार पाठक पर पड़ता है। लेखक जब जीवन के यथार्थ निरुपण में तटस्थ न होकर अपनी दृष्टि से समझने—समझाने का प्रयत्न करता है तो साहित्य की परिधि में जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति की उपेक्षा लेखक की दृष्टि की प्रधानता हो जाने की आशंका रहती है। तब साहित्य—साहित्य होने के साथ प्रचार का साधन भी हो जाता हैं और केवल दृष्टि का प्रचारक हो जाना भी असम्भव नहीं है। प्रेमचंद की रचनाओं में इस दुर्बलता को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है कि "जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रुप लिया गया है और प्रचार का रूप ऊपर आ गया है" (हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं० 1999—पृ० 601)। रचना में दृष्टि व्यंजित होनी चाहिए। उसका निषेधात्मक रूप अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में सफल होता है और साथ ही जीवन की यथार्थता को संवेदना के रूप

में ध्वनित भी कर देता है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में भोग विलास प्रधान दृष्टि का विरोध और उसके दुष्परिणामों की व्यंजना इस प्रकार की है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक जीवन की यथार्थता के निरुपण में बिलकुल तटस्थ है; लेकिन यह भी साथ है कि लेखक की दृष्टि कहीं प्रत्यक्ष अभिव्यक्त नहीं है । मानव जीवन के यथार्थ कलाकार के रुप में प्रेमचंद की महानता 'गोदान' की होरी की कथा तथा उन कहानियों पर आधारित है जहाँ लेखक ने यथासम्भव तटस्थता बरतते हुए जीवन की गति-विधि को, उसकी मूल प्रेरणाओं को साकार किया है।

प्रेमचंद साहित्य में जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति की विशेषताओं और उपलब्धियों पर विचार करते समय उचित मूल्यांकन के लिए उसकी सीमाओं का बोध भी अत्यन्त आवश्यक है।

———

प्रेमचन्द की जिन्दगी का दस्तावेज 'मंगल सूत्र'

बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे *

प्रमचन्द जी के सम्पूर्ण साहित्यिक-जीवन में पूर्णता की एक विशेष झलक मिलती है। वैसे हर एक साहित्यकार की जीवनी में प्रयोगशीलता का दर्शन मिलता है और उसके साधना-पक्ष की व्याख्या बदलती रहती है। साहित्यकार चारों ओर बिखरी हुई परिस्थितियों में घेरा जाता है और उसके जीवन के मानदंड भी बदलते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतः उसके साधना-पक्ष के विकास क्रम पर विचार करना बहुत कठिन हो जाता है। प्रेमचन्द के संपूर्ण साहित्य पर विचार करते समय हमें भी इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

प्रेमचन्द ने अपने जीवन के तीस साल हिन्दी के कथा-साहित्य को शक्तिशाली बनाने के लिए दिये हैं। उन्होंने पहले उर्दू में लिखना आरम्भ किया और हिन्दी भाषा का आदर्श रूप जन सामान्य को दे दिया। कहानी से आरम्भ करके उपन्यास द्वारा अपने साहित्यिक जीवन की इति करा दी है। अन्त में जो कुछ कहना था वह उन्होंने अपनी अपूर्ण कला-कृति 'मंगल सूत्र के द्वारा भारतीय जीवन को दे दिया है। पूर्ण कृति की अपेक्षा अपूर्ण कृति अधिक श्रेष्ठ होती है, क्योंकि उसमें सुधार के लिए अवकाश होता है। इसी प्रकार प्रेम-चन्द ने अपनी अपूर्ण कृति 'मंगल सूत्र' के द्वारा हमारे लिए—सुधार के लिए भीं अनेक मार्ग खुले रखे हैं।

केवल उपन्यास-साहित्य पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि 'सेवासदन' से 'गोदान' तक वे एक ही सीढ़ी पर चढ़ते हुए दिखाई पडते हैं। 'सुमन' और 'धनिया' में भारतीय नारी का संघर्षमय जीवन दिखाई पड़ता है। परन्तु 'धनिया' के विधवा होने पर यह भी सिद्ध होता है कि लेखक की भी अपनी हार हुई है। शायद हार की इस प्रक्रिया में 'मंगल सूत्र' के निर्माण के बीज ढूंढे जा सकते हैं। केवल बौद्धिक आदर्शवाद के द्वारा जीवन को परखना नहीं चाहिए। बुद्धि के साथ अनुभवों के आधारों को लेकर जीवन में सही रास्ते से चलने की बातें प्रेमचन्द में निर्माण हुई होंगी। साहित्य-निर्माण और जीवन-निर्मित में सामंजस्य कराने के लिए साहित्यकार को भी अपने परिवार के विचार-धाराओं के साथ जीवन की असली परिस्थितियों का सामना करना चाहिए। साहित्यकार को केवल बुद्धि-जीवी बन कर आदर्शवादों की इमारतें खड़ी नहीं करनी है। उसे तो वास्तविक यथार्थ के साथ युद्ध करके अपने परिवार एवं समाज को लेकर आगे बढ़ना है।

प्रेमचन्द ने अपनी 'मंगल-सूत्र' रचना के ऐतिहासिक एवं आत्मकथात्मक आलेख या जिन्दगीनामा में देव कुमार नामक साहित्यकार का व्यक्तित्व कुछ अभिनव रूप में लोगों के सामने उपस्थित किया है। इसमें देव कुमार के नए और पुराने सिद्धान्तों का संघर्ष दिखाया है। देव कुमार के पुराने सिद्धान्त थे—

* 364/1, 'सेवासदन', हेमू कालोनी चौक, बेलगाँव-590002

"धर्म वह है जिससे समाज का हित हो। अधर्म वह है जिससे समाज का अहित हो। समाज अपनी मर्यादाओं पर टिका है। उन मर्यादाओं को तोड दो और समाज का अन्त हो जायगा"

इस प्रकार कुछ लगता है कि एक साहित्यकार के रूप में प्रेमचन्द भी अपने साहित्य निर्माण के कार्य में मर्यादाओं का कृत्रिम राजमहल निर्माण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। परन्तु समाज में व्यक्ति और परिवार होते हैं और साहित्यकार का भी अपने परिवार की आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति करने का पवित्र कर्तव्य होता है। उसे भी अपनी साहित्य,साधना को लेकर जीवन के नये परिवर्तनों के वातावरण में अपने परिवार के साथ चलना पड़ता है। देवकुमार को भी अपने पुत्र सन्तकुमार और साधुकुमार एवं पुत्री पंकजा की जिम्मेदारियाँ लेकर अपना पारिवारिक जीवन भी सफल बनाना है।

आधुनिक जीवन की पूर्ति के लिए पुत्रों को योग्य शिक्षा देकर उन्हें सुयोग्य नागरिक और ठीक आदमी बनाने का महत्वपूर्ण कर्तव्य पिता का होता है। उसी प्रकार अपनी पुत्री को सब प्रकार की आधुनिक शिक्षा लेने की सुविधाओं को प्राप्त करा देना भी पिता जी का आद्यकाम है। पुत्री का विवाह कराने के लिए दहेज आदि के लिए आर्थिक प्रबंध करना पड़ता है। इसलिए संपन्न परिवार की मान्यताओं को लेकर साहित्यकार को अपने परिवार के भविष्य के बारे में सोचना पड़ता है। साहित्यकार को संत या साधु का स्वभाव रखना आवश्यक है, फिर परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति कराने के लिए भी साधन या सम्पन्न होना भी परमावश्यक है। इसलिए उसे समाज के सुधार का दायित्व लेते हुए भी अपने परिवार के दायित्व का भार पहले उठा लेना भी आवश्यक हो गया है। साहित्य में कल्पना की उडान के साथ सौंदर्य को प्राप्त किया जा सकता है, परंतु अपने परिवार का एक मुखिया होने के साथ उसे जीवन के कठोर यथार्थ के साथ भी उसे ठीक सामना करना पड़ता है। उसे अपने अधिकारों एवं आत्माभिमान की रक्षा कराने की दृष्टि से अपने जीवन-सिद्धातों को मोड़-देने का काम भी करना चाहिए। दांपत्य-प्रेम, पिता-पुत्र के संबंध, घर मालिक-किरायेदार का रिश्ता, धर्म-दर्शन का आदर्श आदि किस प्रकार समाज में क्रय-विक्रय के आधारों को लेकर चलते हैं, यह भी देखकर साहित्यकार को अपनी साधना की सफलता के लिए कुछ सिद्धांतों में परिवर्तन कराने के लिए यथार्थ के साथ समझौता करना अत्यंत आवश्यक बन गया है।

इन सारी परिस्थितियों का मुकाबला करा देने के लिए उन्होंने देवकुमार के जीवन के आदर्शों के निर्णय पर निम्नलिखित रूप में परिवर्तन किया है। अब देवकुमार इस प्रकार अपने मन में सोच रहे हैं—

"अगर कानून कर्जदारों के साथ इतना न्याय भी नहीं करता तो कर्जदार भी कानून में जितनी खींचतान हो सके करके महाजन से अपनी जायदाद वापस लेने की चेष्टा करने में किसी अधर्म का दोषी नहीं ठहर सकता।" महाजन, मकान-मालिक आदि लोग एक ही प्रवृत्ति की धन लिप्सा रखते हैं। इसलिए धर्म-अधर्म का विचार न कर के यथार्थ

मान दंडों को लेकर ही आगे बढ़ना आज के आधुनिक जीवन की माँग है। देवकुमार पहले निस्पृह आदमी थे ही। उन्होंने कभी भी धन की सेवा नहीं की है। परंतु अब उन्हें परिवार की परिस्थितियों के साथ चलना है और साहित्यकार यदि अपने परिवार के साथ नहीं चल सकता तो वह जनता के साथ भी ठीक नहीं चल सकता। उसे भी काल और परिस्थितियों के आधार पर अपने साधना-पक्ष में यथार्थ परिवर्तन करना चाहिए। जन-सेवा, साहित्य-सेवा आदि के आदर्श साहित्यकारों में होने चाहिए। परन्तु उन्हे अपनी पारिवारिक कठिनाइयों के साथ समझौता कराने की बात भी उनमें होनी चाहिए। इसलिए देवकुमार को उनकी साहित्य सेवा के लिए जनता द्वारा थैली दी जाती है, तब वे अपने प्राव्डिेन्ट फन्ड के रूप में थैली को स्वीकार करने में धन्यता तथा आनन्द मानते हैं। देवकुमार जैसे एक महान् साहित्यकार के जीवन में इसी प्रकार का परिवर्तन दिखाना तत्कालीन आधुनिकता की माँग तथा प्रगतिशीलता का अपूर्व लक्षण है। यहाँ प्रेमचन्द जी देवकुमार के असली रूप को लेकर बैठे हैं। प्रेमचन्द ने देवकुमार की मानसिकता का चित्र बहुत अपूर्व ढंग से इस प्रकार चित्रित किया है—

"सहसा उन्हें एक आश्रय मिल गया और उनके विचारशील, पीले मुख पर हल्की सी सुर्खी दौड़ गई। यह दान नहीं प्राव्डिेन्ट फन्ड है जो आज तक उनकी आमदनी से कटता जा रहा है। सरकारी नोकरी में लोग पेंशन पाते हैं क्या वह दान है? उन्होंने जनता की सेवा की तन-मन से की है, इस धुन से की है, जो बड़े से बड़े वेतन से भी न आ सकती थी। पेंशन लेने में क्यों लाज आये?

राजा साहब ने जब थैली भेंट की तो देवकुमार के मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय भी।"

प्रेमचन्द की 'मंगल-सूत्र' कलाकृति की इन आखिरी पंक्तियों में उनकी साहित्य-साधना की अन्तिम मौन-इच्छाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। हमने प्रेमचन्द को किसी प्रकार की थैली देकर उनका प्राव्डिेन्ट फन्ड उन्हें नहीं दिया हैं। इस प्रकार 'मंगल-सूत्र' एक आत्मकथात्मक ऐतिहासिक आलेख है जिसमें आधुनिक साहित्यकार अपने जिन्दगीनामा के प्रगतिशीलता का परिचय तत्कालीन प्रकाश में दे सकता है। प्रेमचन्द की जिन्दगी का यह दस्तावेज उनकी महान् कृति 'गोदान' के बाद लिखी है, इसलिए 'मंगल-सूत्र' पर और ढंग से भी विचार किया जा सकता है।

———

उपन्यासकार प्रेमचन्द का समकालीन बोध

डा०रामगोपाल शर्मा (दिनेश) *

प्रेमचन्द का रचना-संसार पराधीन भारत की विषम परिस्थितियों का सजीव चित्र है। बीसवीं शताब्दी के लगभग तृतीयांश का भारत उनकी कहानियों और उपन्यासों में शताब्दियों के लिए अमर हो गया है। हिन्दी में उनके समान ऐसा अन्य साहित्यकार अभी तक पैदा नहीं हुआ, जो समकालीन जीवन को निरन्तर अपनी रचनाओं में स्थान देता हुआ अपनी कला-साधना को पूर्णता प्रदान करे। प्रेमचन्द ने भारत के अतीत और वर्तमान् को बहुत गहराई से समझकर भविष्य-दर्शन के लिए अपनी प्रतिभा और प्रज्ञा का रचनात्मक प्रयोग किया था। उनके उपन्यासों में इस प्रयोग सामर्थ्य का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। यदि कोई व्यक्ति बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पराधीन भारत का सही स्वरूप देखना चाहे, उसके मानस की हलचलों, आवेशों, विद्रोही स्वरों तथा शक्तियों से साक्षात्कार करना चाहे, तो उसे प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

भारत का मूल स्वरूप ग्रामों से बना है। इसीलिए उसे शस्य-श्यामला भारतमाता कहा जाता है। सुदूर अतीत में इस देश का ग्रामों के कारण ही महत्व था। धीरे-धीरे शस्य-श्यामला धरती माता की छाती पर शहरों का जंगल उगा, बढ़ा, बढ़ता गया और अब भी बढ़ता जा रहा है। इन शहरों में जो कुछ है, वह वास्तविक भारत नहीं है। शोषण अत्याचार, बलात्कार, भीड़-भाड़, शोर-गुल छल-कपट और चरम कोटि की अनैतिकता यह सब उस भारत वृक्ष के पुष्प-फल नहीं है, जिसे ऋषि-मुनियों ने अपने नैतिक जीवन के अमृत से और कृषकों ने अपने श्रम-जन्य स्वेद कणों से सींचा था। शहरों में बढ़ने वाला अधिकाश जीवन बाहर से आरोपित हुआ है। प्रेमचन्द के उपन्यास समकालीन जीवन की साक्षी में हमें उस ग्रामीण भारत की सही तस्वीर दिखाते हैं, जो अब भी अपनी परम्परागत मूल से जुड़ा हुआ है और यह भी बताते हैं कि उस की काया पर सहस्त्राधिक वर्षों की पराधीनता ने कितनी कीचड़ और दुर्गन्ध छोड़ी है तथा कितने श्वान और गिद्ध उसे नोंच-नोंच कर खाने के लिए इकट्ठे कर दिए है।

भारत पराधीन क्यों हुआ—इस प्रश्न के उत्तर से प्रेमचन्द अपने औपन्यासिक चित्रों की रेखाएँ आरम्भ करते हैं। उनका प्रथम उपन्यास 'रूठी रानी' एक अत्यन्त सामान्य कृति है, किन्तु यही उनकी वह कथा-कृति भी है, जिसमें वीर और देश भक्त क्षत्रियों की आपसी फूट, ईर्ष्या-द्वेष आदि के कारण पराधीनता का अन्धकार भारत में प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है। यह अन्धकार चारों ओर इतना घना हो गया है कि उसे हटाना-मिटाना कोई सरल काम नहीं। प्रेमचन्द उस अन्धकार के नीचे छटपटाते, कसमसाते और उससे बाहर निकलने के लिए अपनी शक्तियो को तौलते दरिद्र गांव की इतनी अधिक तस्वीरें खींचते है

* हिन्दी विभाग
43/84 सुन्दरवास नार्थ उदयपुर, राजस्थान

तथा इतने गहरे रंग उभारते है कि गुलामी से दबा-पिसा भारत अपनी पूरी दीप्ति और क्रान्ति के साथ नए प्रकाश में जागने के लिए प्रतिबद्ध एवं कटिबद्ध हो उठता है। 'वरदान', (1905-6), प्रतिज्ञा (1906), सेवासदन (   ), प्रेमाश्रम (1918-19), निर्मला (1922-23), कायाकल्प (   ), रंगभूमि (1927-28), गबन (   ), कर्मभूमि (1932), गोदान (   ), और मंगल-सूत्र (1936)–इन सब उपन्यसों से भारत के समकालीन जीवन के प्रति प्रेमचन्द की गहरी आस्था और उसे अपने रचना-संसार में उतारने की अधीरता-तत्परता झलकती है। कुछ आलोचक यह आरोप लगाते हैं कि प्रेमचन्द का अनुभव बहुत संकीर्ण था और वे समकालीन नगर-जीवन के प्रति प्रबुद्ध नहीं थे, इसलिए वे अपनी औपन्यासिक प्रतिभा का उपयोग केवल ग्रामीण जीवन के चित्रण में ही करते रहे। वस्तुतः यह आरोप निराधार है। प्रेमचन्द का बनारस और बम्बई–जैसे नगरों के जीवन से गहरा साक्षात्कार हुआ था। वे नगर-जीवन के अनुभवों से शून्य नहीं थे, किन्तु वे उसे भारतीय समाज की अनुभूतियों का सही केन्द्र नहीं मानते थे। आज के समान ही उस समय भी नगरों में आयातित जीवन वृद्धि पा रहा था। यह सही है कि गाँव से भी लोग भाग-भाग कर नगरों में पहुँचते हैं–उस समय भी और आज भी पहुँच रहे हैं, किन्तु उनकी जिन्दगी में कोई धनात्मक परिवर्तन ही आया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जिस भारत को स्थान दिया, उसमें शरीर पर उगे कुष्ट के दागों की तरह नगर तब भी बढ़ रहे थे और आज भी बढ़ रहें हैं। सही मानव का जन्म और पोषण तो तब भी गाँव में ही होता था और आज भी हो रहा है, नगर में तो तब भी मानव आत्म-साक्षात्कार खोकर विदेश बुद्धि-विलास ओढ़ रहा था और आज भी इस क्रिया में कमी नहीं आई है। ऐसे मानवत्व-हीन नगर-मानव के चित्रण को लक्ष्य बनाकर प्रेमचन्द उपन्यास नहीं लिखना चाहते थे, क्योंकि उससे भारत की सही तस्वीर कदापि नहीं बन सकती थी।

"रूठी रानी" में प्रेमचन्द ने जब जैसलमेर के रावल की पुत्री "उमादे" को नायिका के रूप में प्रस्तुत किया, तब शायद वे यह नहीं सोचते होंगे कि यह उपन्यास उनके किन औपन्यासिक उद्देश्यों की भूमिका बनने जा रहा है। उमादे (उमादेवी) से विवाह करने के लिए उत्सुक मारवाड़ के राजा मालदेव की हत्या का षड़यन्त्र रचने वाले रावल के छल–कपट में कायरता की जो दुर्गन्ध थी, वह संकेत मात्र है उन कारणों का जिनसे भारत पराधीन हुआ। किन्तु इसी सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने उस पराधीनता से मुक्ति के लिए अनिवार्य निष्कपट संगठन और शौर्य–पूर्ण बलिदान की भावना का महत्व भी अनुभव करा दिया है।

अपने द्वितीय उपन्यास "वरदान" में प्रेमचन्द देश –भक्ति की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सचेष्ट होते हैं। इस उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ही नारी "सुवामा" देवी के मन्दिर में जाकर यह प्रार्थना करती है कि हे देवी ! मुझे ऐसा पुत्र दो जो देश की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दे। इस प्रार्थना के पीछे भारत का समस्त अतीत खड़ा हुआ है—अनुभूति से, विचार से, व्यवहार से वह आस्था जागृत है, जो शताब्दियों से आज तक भारत का प्राण–तत्व रही है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि सुवामा को अपनी प्रार्थना के फल–स्वरूप पुत्र मिला। उसका नाम प्रताप रखा जाता है। वह बालक अपने पिता मुन्शी शालि-

ग्राम के साधु-सन्त-समागम वाले पवित्र परिवार में पलता है। जहाँ एक ओर इस परिवार में मानवीय नैतिकता और सदाचार हैं, वहीं दूसरी ओर वे सामाजिक विषमताएँ और पीड़ाएँ भी उसे घेरे हुए हैं, जो पराधीनता की उपज है। असमय पर शालिग्राम की मृत्यु, परिवार पर कर्ज का भार और उसे चुकाने के लिए किए गए प्रयत्नों में आधा मकान किराए पर उठाने की विवशता तथा उस विवशता के बाद नई परिस्थिति में प्रताप और किराएदार की पुत्री विरजन का प्रेम परन्तु दोनों का विवाह-सूत्र में न बंध पाना आदि ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप अन्त में प्रताप संन्यासी बन कर देश की सेवा में शेष जीवन व्यतीत कर देता है और उसकी पत्नी बनने की इच्छुक दूसरी युवती माधवी भी उसके साथ अविवाहित रह कर देश सेवा का व्रत ले लेती है। शिल्प की दृष्टि से भले ही यह उपन्यास अस्वाभाविक प्रतीत हो कठपुतली पात्रों का जम-घट लगे, किन्तु जिस उद्देश्य से इसकी रचना की गई है, वह बहुत स्पष्टता से चित्रित हुआ है। नारी-प्रेम की कथा के माध्यम से देश-सेवा की कथा कहने के पीछे प्रेमचन्द की यह दृष्टि छिपी है कि नारी-प्रेम पर जो विजय प्राप्त करले वही देश-सेवा कर सकता है।

"प्रतिज्ञा" उपन्यास में देश-सेवा के एक विशेष क्षेत्र की तत्कालीन महत्वपूर्ण समस्या को चुना गया है। देश-भक्ति का प्रमाण केवल अंग्रेजों के विरुद्ध सत्याग्रह करना या अन्य प्रकार के आन्दोलन छेड़ना ही नहीं था, बल्कि देश की विभिन्न समस्याओं को सुल-झाना उसके समान ही महत्वपूर्ण था । इस उपन्यास में विधवा-समस्या पर विचार करके देश की एक भयंकर बुराई को मिटाने पर बल दिया गया है। प्रेमा की बड़ी बहिन की मृत्यु के पश्चात् उसके जीजा अमृतराय से उसके विवाह का निश्चय होता है, जो उसके दूसरे प्रेमी दाननाथ को बुरा लगता है, किन्तु अमृतराय एक दिन विधवा-विवाह सम्बन्धी भाषण सुनकर विधवाओं की सेवा में लग जाता है। वह प्रेमा से विवाह नहीं करता। तब प्रेमा का विवाह दाननाथ से हो जाता है। प्रेमा की एक सहेली पूर्ण विधवा हो जाती है, जिसे अमृतराय द्वारा संचालित विधवाश्रम में शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार यह उपन्यास देश की तत्कालीन एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या का चित्रण ही नहीं करता, बल्कि विधवाश्रम के रूप में उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। ऐसे समाधान उस समय की तत्कालीन राजनीति को भी नई दिशा देने का कार्य कर रहे थे। महात्मा गान्धी-जैसे नेताओं ने आश्रम स्थापित करने की प्रेरणा इसी प्रकार के रचनात्मक साहित्य से प्राप्त की होगी। यह सही है कि इस उपन्यास के पात्र पर्याप्त अस्वाभाविक आचरण करते हैं, किन्तु उनके पीछे समकालीन जीवन को अतीत के रस से सींच कर आदर्शों के सहारे नया स्वरूप प्रदान करना ही प्रेमचन्द का मुख्य लक्ष्य रहा है।

"सेवा सदन" उपन्यास देश-सेवा के क्षेत्र में "प्रतिज्ञा" के आगे की एक नई कड़ी का काम करता है। स्त्री की दयनीय स्थिति को लक्ष्य बना कर लिखे गए इस उपन्यास में आर्थिक कठिनाइयों और सामाजिक बन्धनों पर प्रकाश डाला गया है तथा अभिजात वर्ग के आडम्बरों को अनावृत किया गया है। समकालीन शासन की बुराइयों की भी इस उपन्यास में उपेक्षा नहीं की गई। कृष्णचन्द थानेदार है। ईमानदार होने के कारण वह सदा निर्धन

रहता है। जब उसकी पुत्री,," सुमन शादी–योग्य होती है, तब धन का अभाव उसे रिश्वत लेने के लिए बाध्य कर देता है। किन्तु रिश्वत लेने की कला में निपुण न होने के कारण वह पांच वर्षों की सज़ा भोगने को बाध्य होता है। सुमन की शादी अत्यन्त निर्धन व्यक्ति के साथ हो जाती है। फलतः वह भाँति–भाँति के कष्ट सहने लगती है। प्रेमचन्द ने समकालीन समाज के अनैतिक चित्रों के बीच ईमानदार व्यक्ति (थानेदार) और निर्दोष युवती (सुमन) की कहानी की जो रेखाएँ उभारी हैं, वे उनकी स्पष्ट और सचेत दृष्टि का प्रमाण हैं। एक ओर वेईमान महन्त, जागीरदार और साहूकार श्रम से कोसों दूर रह कर अपने अनैतिक उपायों से विलास का जीवन व्यतीत करते है, गुण्डे पाल कर निर्धन श्रमिकों को भाँति–भाँति की ताड़नाएँ देते हैं और दुर्व्यसनों के सहारे अधिकारियों से भी अत्याचार कराते हैं, दूसरी ओर निर्धन शिक्षित व्यक्ति श्रम और नैतिकता के पक्षधर होने के कारण जानवरों–जैसा जीवन व्यतीत करने को बाध्य होते हैं। "सुमन" जैसी गृह–बधुएँ भूखे पेट रह कर दिन भर काम करतीं और ताड़नाएँ सहती हैं, किन्तु" भोली जैसी वेश्याएँ ठाठ और सम्मान का जीवन व्यतीत करती हैं। सुमन का पति ही उसकी पवित्रता की झूठी बदनामी उड़ाकर अपवित्रता में बदल देने की भूल करता है। प्रेमचन्द ने विधवाओं, उपेक्षिताओं और वेश्याओं के प्रति समाज की तत्कालीन व्यवस्था और पुरुष के दृष्टि–दोषों को एक व्यापक फलक पर उभारा है। यह ठीक है कि परिवर्तनवादी विद्वान् प्रेमचन्द के समाधानों से सहमत नहीं हो सकते, किन्तु प्रेमचन्द का युग ही ऐसा था जिसमें सामाजिक बुराइयों और व्यवस्थाओं को एकदम बदल देना सम्भव नहीं था। उस समय देश की सारी शक्ति अंग्रेजों का शासन समाप्त करने में लगी हुई थी। प्रेमचन्द उन परिस्थितियों में भी समाज की विषमताओं के प्रति जागरूक थे और मानववादी समाधान प्रस्तुत करके समस्या-ग्रस्त नारी को मुक्ति का मार्ग दिखा रहे थे।

"प्रेमाश्रम" की रचना के समय प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका से समस्त विश्व त्रस्त हो चुका था। रूस की राज्य–क्रान्ति ने सर्वहारा की विजय का मार्ग खोला था। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में बाहरी दृष्टि से गतिरोध आ गया था, किन्तु भीतर–ही–भीतर मुक्ति की कामना एक ज्वालामुखी के विस्फोट की भूमिका तैयार करने लगी थी। इस पृष्ठभूमि पर प्रेमचन्द ने एक संयुक्त परिवार के विघटन की कहानी के माध्यम से जमींदारी प्रथा के दोषों और परिणामों का विस्तृत सामाजिक फलक पर अनेक रंगों में चित्रांकन किया है। सम्पति चाहे चल हों या अचल, व्यक्तियों को किस सीमा तक भ्रष्ट कर देती है, यह दिखाने के लिए प्रेमचन्द ने ज्ञानशंकर का चरित्र खड़ा किया है। वह अपने परिवार में ही अनैतिकता का आचरण नहीं करता, बल्कि ससुराल के वातावरण को भी विषाक्त बनाता है। अपने एक मात्र साले की मृत्यु पर उसका प्रसन्न होना, विधवा साली गायत्री के साथ कृष्ण लीला करके उसे अपने प्रेम में फँसाने का यत्न करना–आदि कार्यों के पीछे मूलतः सम्पत्ति प्राप्ति का लालच ही निहित है। अपने भाई प्रेमशंकर की अमेरिका से वापसी भी उसे खलती है और वह उसे बदनाम कर के अपने गाँव से भगाना चाहता है। व्यक्तित्व के विघटन और नैतिक पतन की एक लम्बी कहानी ज्ञानशंकर के इर्द–गिर्द घूमती

है। प्रेमचन्द का समकालीन ज़मींदार कितना पतित बेईमान, भ्रष्ट और धन–लोलुप था, उसका प्रमाणिक चित्रण प्रेमाश्रम में किया गया है। लखनपुर के किसानों पर होने वाले अत्याचार तथा सरकारी कर्मचारियों' सूदखोरों और महाजनों द्वारा किये गये विभिन्न प्रकार के शोषण इस उपन्यास में सजीव हो उठे हैं। खेतों में पैदावार दिनों–दिन कम होती जा रही है, किन्तु लगान बढ़ाने के लिए ज्ञानशंकर के प्रयास बराबर चल रहे हैं। प्रेमचन्द, प्रेमशंकर और बलराज के माध्यम से समकालीन रूसी क्रान्ति और गान्धीवादी सुधार की वैचारिक पृष्ठभूमि उपचार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गाँवों में नारी–सम्मान और स्वाभिमान की भावनाएँ गरीबी में भी जीवित रहती हैं और इन भावनाओं की रक्षा के लिए निर्धन ग्रामीण किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। अत्यधिक सहनशील मनोहर अपनी पत्नी के अपमान पर इतना क्षुब्ध हो उठता है क ज्ञानशंकर के कारिंदाँ गौस खाँ की हत्या कर देता है और फिर नैतिकता का बोध जागृत होने पर थाने में जाकर अपना अपराध भी स्वीकार कर लेता है। इसी सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने पुलिस के अत्याचारों का भी जीता–जागता चित्र अंकित किया है। प्रेमशंकर ने अमेरिका में जो उच्च शिक्षा प्राप्त की है, उसका प्रभाव उसके विचार और जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह दरिद्र एवं दुर्दशा–ग्रस्त किसानों की सेवा के लिए "प्रेमाश्रम" की स्थापना करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द के सामने ग्रामों का दुःखी, दरिद्र और अत्याचर पीड़ित जो समाज था, उसकी मुक्ति के लिए तब तक आश्रमों के अतिरिक्ति अन्य कोई मार्ग नहीं था, जब तक देश को अंग्रेजों की राजनैतिक दासता से मुक्ति न मिल जाती। सामन्ती व्यवस्था के माध्यम से ही अंग्रेज भारत में अपने शासन की नींव मजबूत बनाये हुए थे। इस व्यवस्था को तोड़ने के लिए प्रेमचन्द के सामने केवल सुधारवादी मार्ग ही था।

'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्द ने समकालीन ग्रामीण जीवन की एक दूसरी बुराई की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। दहेज के अभाव में लड़कियों का विवाह न तो अनुकूल वर के साथ हो पाता है और न अनुकूल घर में। पिता उदयभानु की अचानक मृत्यु हो जाने पर दहेज के अभाव में निर्मला का विवाह बूढ़े वकील तोताराम के साथ होता है, जिनके निर्मला से भी बड़े पुत्र हैं। प्रेमचन्द निर्मला को भारतीय ग्रामीण कन्या के सभी गुणों से युक्त दिखाते हैं। वह तोताराम के परिवार में सब प्रकार से संतुलन बनाये रखना चाहती है, किन्तु फिर भी उसे सुख नहीं मिलता। हमारे समाज की इस दयनीय स्थिति में पड़ी ग्रामीण नारी का रक्षक और सहारा धरती-आकाश में कहीं कोई दिखाई नहीं देता। यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' वाले देश में हजार वर्षों की गुलामी ने नारी को किस दुर्दशा में पहुँचा दिया है और पुरुष का कितना चारित्रिक पतन हो गया है, यह प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में पूरे मानवीय विवेक के साथ चित्रित किया है।

'कायाकल्प' में चक्रधर की उच्च शिक्षा और मनोरमा से उसका प्रेम मात्र औपान्यासिक आकर्षण के लिए उस कथा का आधार बनते हैं, जिसमें किसानों की लूट-खसोट के कुछ अन्य नये चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। राजकीय अधिकारी और कर्मचारी अत्याचारियों के रूप में सामने आते हैं। चक्रधर को प्रेमचन्द ने अहिंसावादी समाज सेवक की भूमिका में

प्रस्तुत किया है, जो मजिस्ट्रेट को बचाने का प्रयत्न करता हुआ भी मजदूरों को भड़काने के झूठे आरोप मे जेल भेज दिया जाता हैं। इसी संदर्भ में शासक के नैतिक पतन सम्प्रदायिक दंगों और छुआछूत की परिस्थितियां सामने आती हैं, जिनका प्रेमचन्द के समकालीन जीवन से सीधा सम्वन्ध है।

'रंगभूमि' में तत्कालीन पूंजीवाद के प्रसार और पुरानी मान्यताओं के विघटन के चित्र प्रस्तुत हुए हैं। इस उपन्यास का मुख्य पात्र सूरदास एक गाँव का भिखारी है, गाँव में उसके पूर्वजों की कुछ जमीन है, जो पशुओं के लिए चरागाह का काम करती है। एक ईसाई पूंजीपति अच्छे दामों पर सूरदास की जमीन खरीदना चाहता है, लेकिन भिखारी होते हुए भी सूरदास गाँव के हित को ध्यान में रखकर अपनी जमीन नहीं बेचता। गाँव को केन्द्र बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में भी सम्प्रदायिक तनाव और उसके समाधान के चित्र मिलते हैं। लेकिन मूल समस्या पूंजीवाद के विस्तार की ही दिखाई देती है। प्रेमचन्द के युग में औद्योगिक पूंजीवाद का प्रसार इतनी तेजी से हो रहा था कि गाँव भी उसकी चपेट से आते जा रहे थे। प्रेमचन्द इस आक्रमण के प्रति सजग थे। उन्होंने बहुत सावधानी के साथ पूंजीवादी प्रपंचों का इस उपन्यास में चित्रण किया है। शहरों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जीवन में भ्रष्टाचार अनेक रूपों में पनपने लगा था। जो लोग शहरों के प्रति आकर्षित थे, वे भी धीरे-धीरे निराश और नास्तिक होते जा रहे थे।

उस समय अंग्रेजों ने एक ऐसा मध्यवर्ग पैदा कर दिया था, जो शासन की सेवा करता हुआ भी दुःखी और पीड़ित था, जिसके लिए एक ओर तो शासन उत्तरदायी था ही, किन्तु दूसरी ओर सामाजिक बुराइयां भी उसका कारण थीं। 'गबन' उपन्यास में इन स्थितियों को विस्तार से उभारा गया है। मध्य वर्ग के नौकर-पेशा लोग वेतन से काम न चल पाने पर छोटी-छोटी रिश्वतें लेते हैं और फिर कई दृष्टियों से अपराधी बनते हैं। प्रेमचन्द 'गबन' में मध्यवर्गीय पात्रों के साथ-साथ क्रांतिकारियों आदि के प्रसंग भी नियोजित करते हैं, जिससे देशभक्ति के राजनैतिक संदर्भ टूटने नहीं पाते और पुलिस के अत्याचार तथा समाज के भ्रष्टाचार की कहानी एक हो जाती है।

'कर्मभूमि में समकालीन राजनैतिक और आर्थिक स्थितियां विस्तार से चित्रित हुई हैं। इस उपन्यास का कथानक शहर से उभरता है और गांधीवादी जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि में पात्र खड़े किये जाते हैं। प्रेमचन्द के अन्तिम समय देश में गांधी जी का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ चुका था जो इस उपन्यास में भी दिखाई देता है। व्यापार और उद्योगों का विस्तार भी इस उपन्यास में अपनी झलक दिखाता हैं, लेकिन प्रेमचन्द जी यहाँ भी ग्राम-सेवा को नहीं भूले हैं। अमरकांत धन-संचय और विलास-मय जीवन का विरोध करता हुआ एक नये जीवन के सूत्रपात की घोषणा करता है। यह नया जीवन है चमारों के गाँवों में जाकर निवास करना और उनके उद्धार के लिए आन्दोलन चलाना। निश्चय ही प्रेमचन्द के युग में अछूतोद्धार का एक बहुत बड़ा कार्यक्रम गांधी जी के नेतृत्व में चल रहा था, जिसे प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि; में सजीव बनाकर प्रस्तुत किया है। किसानों की बिगड़ती

हुई आर्थिक दशा और उसके सुधार के लिए अमरकांत के नेतृत्व में लगान-बन्दी का आन्दोलन प्रेमचन्द-युग की राजनैतिक चेतना के प्रतीक हैं।

'गोदान' में प्रेमचन्द जी गाँव की धुरी को और मज़बूती से पकड़ते हैं। गोवर, सोना और रूपा-तीन संतानों का पिता होरी अपनी पत्नी धनिया के साथ विपदाओं से भरा हुआ गांव का जीवन बड़ी आस्था के साथ व्यतीत करता है। गाय पालकर अपने जीवन को थोड़ी सी ज़मीन के सहारे सुख से काट देना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है। किन्तु वह इस लक्ष्य तक कभी नहीं पहुँच पाता। गाय खरीदेने से लड़की की शादी करने तक वह बराबर कर्ज से दबता जाता है और ज़मींदार तथा सरकारी कर्मचारियों द्वारा उसके सभी कल्पित सुख, महत्वाकांक्षाएँ, स्वाभिमानी विचार आशाओं से भरे हुए इरादे ऐसे ही चुन-चुन कर खा लिये जाते हैं, जैसे किसी की लाश को श्वान, कौए और गिद्ध नोंच डालते हैं। निराश और टूटा हुआ होरी अपनी छोटी लड़की रूपा का विवाह रूपये लेकर एक बूढ़े आदमी से करता है और जब फिर भी गरीबी दूर नहीं होती, तो किसान से मज़दूर बन जाता है। अन्त में बीमार पड़ता है और अपनी 'गोदान' की इच्छा सवा रूपये में पूरी करता है। इस प्रकार प्रेमचन्द किसान की टूटती हुई आशाओं और आकांक्षाओं का एक ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत करते हैं, जो उनके समकालीन बोध की सही गवाही देता है।

'मंगल-सूत्र' उपन्यास में एक लेखक की दुर्दशा का चित्र अधूरा रह गया है, क्योंकि प्रेमचन्द इस उपन्यास को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्गवासी हो गए थे। अतः इस अधूरे उपन्यास से अपने युग के साहित्यकार की जिस दुर्दशा का बोध कराना चाहते थे, उसे पूरा विस्तार नहीं मिल सका। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रेमचन्द जी अपने युग के साहित्यकारों के जीवन के प्रति भी पर्याप्त जागरुक थे।

इस प्रकार 'रुठीरानी' से 'मंगल-सूत्र' तक की औपन्यासिक यात्रा में प्रेमचन्द निरन्तर भारत के समकालीन जीवन को विविध आयामों में प्रस्तुत करने में तल्लीन रहे हैं। ग्रामजीवन को मूलाधार मानकर इन्होंने पराधीन मानव की स्वाधीनता का जो स्वप्न देखा है, वह केवल राजनीतिक मुक्ति तक सीमित नहीं हैं। अतीत के संस्कारों में जीवित भारतीय जन-जीवन की आत्मा को उन्होंने उसके समग्र ग्रामीण परिवेश के साथ मुक्ति की आकांक्षा से उद्वेलित दिखलाया है। अपने समूचे आचरण में भारत का जन समाज ग्रामों के उस सुदृढ़ आधार पर खड़ा है, जिसे अंग्रेजों के शोषण-चक्र ने भयंकर आंधी बन कर झकझोर रखा है, फिर भी उसके भीतर मुक्ति की कामना का एक ज्वालामुखी निरबाध रूप मे सुलग रहा है। निश्चय ही प्रेमचन्द के समकालीन बोध की दिशाएँ बहुत स्पष्ट और सोद्देश्य हैं। वे जिस वस्तु जगत् को घेरती हैं, उसकी प्रासंगिकता आज भी समाप्त नहीं हुई है, क्योंकि प्रेमचन्द ने मानव मुक्ति का जो स्वप्न देखा था उसका केवल राजनैतिक पक्ष ही अभी तक पूरा हुआ है, शेष क्षेत्रों का शोषण-उत्पीड़न अभी भी उतनी ही भंयकरता से जीवित है, जितनी भयंकरता से प्रेमचन्द के युग में जीवित था।

———

प्रेमचन्द: अनुभव-सन्दर्भ और कथा-विधा के रिश्ते की तलाश

डॉ० राजेन्द्र कुमार *

किसी भी लेखक का यथार्थ से साक्षात्कार कितना प्रामाणिक है—यह तय करने के लिए पहले यह देखा जाना चाहिए कि वह अपने परिवेशगत यथार्थ के प्रति क्या रूख अपनाता है : उसका यह रूख जितनी शक्तिमत्ता के साथ उसकी रचना में सम्प्रेषित हो, समझना चाहिए कि उसकी रचना–प्रक्रिया गतिमानता की संगत दिशा में होने का उतना ही अधिक प्रमाण हमें दे सकी है। अनुभव को आधार बनाये बिना कोई भी रचना अपने अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकती। रचना की मूल प्रतिश्रुति अनुभवों के रूपायन के प्रति होती है। आधुनिक साहित्य में; अन्य विधाओं के मुकाबले, कहानी द्वारा हमारा ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किये जाने का एक कारण यह भी है कि इस मूल प्रतिश्रुति के निर्वाह में कहानी ने आडम्बर–रहित रुचि लेते हुए अपनी सम्भावनाओं का (और सीमाओं का भी) यथेष्ट परिचय दिया है। यह परिचय निस्सन्देह उत्साह-वर्द्धक रहा पर इससे वर्द्धित उत्साह ने इस बीच बहुधा उलट कर कहानी में अनुभव की रचनात्मक पहचान को कहीं-कहीं बाधित भी किया। नतीजा यह हुआ कि कहानी के नाम पर कितने ही अनुभव-आलेखों का ढेर लगने लगा। कथानक के घटनाभिनिविष्ट स्वरूप से पल्ला छुड़ा कर आगे बढ़ने में कहानी ने जो एक नई आन्तरिक संयोजना विकसित की, उसके मर्म को पहचानने वाले लोग कम निकले। कथानक की पूर्व-प्रचलित धारणा को तोड़कर, घटना से सीधे अनुभव की ओर आने का अर्थ यह नहीं होता कि अनुभव के महज विवरणात्मक आकलन को ही कहानी -धर्म मान लिया जाये।

आज की कहानी को प्रायः मनः स्थिति प्रधान कहा जाता है, पर जिस समय की कहानी को कथानक प्रधान कहा जाता है, उस समय का लेखक अनुभवों से अपने लेखन में कितना एकात्म होने की जरूरत महसूस कर रहा था–इस प्रश्न का ईमानदार और वास्त। में भरोसेलायक जवाब पहले-पहल जिस कलम ने हमें दिया, उसका एक ही नाम है—प्रेमचन्द।

कुछ आधुनिकतावादी लोगों को यह शिकायत है कि प्रेमचन्द का लेखन एक खास तरह की 'स्थूलता' का शिकार रहा है जिससे उसकी कलात्मकता पर आघात पहुँचा। वे यह भी मानते हैं कि अनुभव के समकालीन दबावों को व्यंजित कर पाने के लिए प्रेमचन्द की कहाँनियों का वह स्वरूप अब नहीं अपनाया जा सकता जो अपनी सारी क्षमताएँ घटना-धर्मी होने में हीं निहित रखता था। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी कहानी की विकसित आन्तरिक संयोजना में उसके कथानक ने अपने घटनाभिनिविष्ट स्वरूप का मोह धीरे-धीरे

* हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

छोड़ा है। लेकिन घटनाभिनिविष्ट कथानकों वाली कहानियाँ हमेशा निरी कल्पना सृष्ट रही हों या उनमें अनुभव का यथार्थ होता ही न हो, ऐसा नहीं है। कल्पना के लिए भी तो आनुभविक आधार की जरूरत, किसी न किसी रूप में पड़ती ही है। इसलिए उनमें से भी ऐसी कहानियों को अलग किया जा सकता है जो अनुभवव्याप्ति की दृष्टि से सफल हैं। पर, इस तरह की कहानियों में कथानक का ढाँचा तैयार करने वाली घटनाओं की भूमिका पर सूक्ष्मता से विचार करें तो हम पाएँगे कि वहाँ हर घटना किसी न किसी स्थिति और अनुभव के बीच की कड़ी है और ऐसी कहानियों को सार्थक सिद्ध करने वाली विशेषता यह है कि उनमें कथानक को आधारक घटना, स्थिति-विशेष की ओर प्रत्यावर्तित होने के बजाय उससे सम्बन्धित अनुभव-विशेष की दिशा में अपने को व्यंजित करती हैं। 'घटना' को इस सशक्त भूमिका (रोल) में अवतरित कर पाने का सामर्थ्य प्रेमचन्द में भरपूर था। इसलिए आधुनिकतावादियों द्वारा प्रेमचन्द पर लगाया जाने वाला यह आरोप कि प्रेमचन्द की कहानियाँ 'स्थूलता' का शिकार हो गई हैं, एकदम बेमानी है। और इसके आधार पर नये लेखकों को यह सलाह देना कि वे प्रेमचन्द की घटना-प्रधान कथानकों वाली शैली को पुराना और अप्रासंगिक मानकर उनसे नाक-भौं सिकोड़ें, उन्हे गुमराह करना होगा। कथानक में घटनाओं के अभिनिवेष से यदि इस कदर चिढ़ हो, तब फिर तो आधुनिक कहानी के विकास-क्रम में हम प्रेमचन्द के उस रूप को भी याद करने के काबिल नहीं रह जाएँगे जो उनको 'कफन' या 'पूस की रात' जैसी कहानियों में हमें आकृष्ट करता है।

अनुभव (अनेक विविधताओं के साथ) हम सब के जीवन का सार्वनिष्ठ या सामान्य व्यापार है। यह भी उन व्यापारों में एक है जो इस एक शब्द 'जीवन' को 'मानव' या मानवीय जैसे विशेषण-पदों का विशेष्य बनाता है। लेकिन साहित्य और कला के क्षेत्र में इस सामान्य व्यापार को भी एक अर्थ में विशिष्ट बनकर स्थान पाना होता है। लेखक को अपनी रचना से सम्बन्धित अनुभव को एक बार और एक ही तरह से नहीं; बार-बार और अनेक छोरों से अर्जित करना होता है। यहाँ मुझे भौतिक विज्ञान (फ़िज़िक्स) की पुस्तकों में पढ़ा हुआ एक पारिभाषिक शब्द याद आ रहा है—'मोमेण्टम' अर्थात् 'आघूर्ण'। कोई भी पिण्ड अपनी गतिशीलता की दशा में जो शक्ति अर्जित करता है उसे मोमेण्टम (momentum) या 'आघूर्ण' कहते हैं। रचना को अधिकाधिक संवेद्य और संवेदनावेग को अधिकाधिक विश्वसनीय बनाने के लिए लेखक जीवनानुभव से ही अपना चुनाव करेगा और करता आया है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि अनुभव को प्रत्यक्ष जीवन से उठाकर कहानी में सीधे-सीधे रख भर देना उसका अभीप्सित हो। रचना में लेखक अनुभव को इस तरह फिर से 'कमाता' है—अर्जित करता है कि वह अपनी स्थैतिक जड़ता से मुक्त हो सके। तभी वह सम्प्रेषण के स्तर पर गतिशील हो सकेगा। इस गतिशीलता में ही लेखक का अनुभव वह शक्ति अर्जित करेगा जिसे, 'रचनात्मकता का आघूर्ण' कहा जा सकता है।

'कफ़न' में प्रसव-पीड़ा से एक स्त्री का कराहना और उधर उसके ससुर और पति का अलाव से आलू खोद कर खाना तथा फिर, उसी स्त्री का मर जाना और उससे ससुर

और पति द्वारा कफ़न के पैसे बचाकर शराब पी जाना—ये सब घटनाएँ एक दम अगल-बगल रखी हुई घटनाएँ हैं। गौर करने की बात यह है कि ये घटनाएँ हमें किसी स्थिति (जिसे हम यहाँ घीसू और माधव के परिवार की आर्थिक स्थिति या ग़रीबी कह सकते हैं) की ओर लौटाकर जड़ीभूत नहीं करतीं बल्कि उस स्थिति के परिणामी अनुभव के यथार्थ की ओर आगे बढ़ाती हैं।

प्रेमचन्द के साथ, उनकी अपनी कहानियो में, कई बार ऐसा भी हुआ है कि रचना में अपनी जीवन-दृष्टि अथवा मूल्य–दृष्टि की व्याख्या के लिए अनुभवों को टटोलते हुए उन्होने पाया है कि उनकी कोई रचना अनुभव के सर्वथा नये, यानी पहले से एक-दम भिन्न पक्ष को सामने ले आई। ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द की अन्य कहानियों से दृष्टिगत भेद रखते हुए भी महत्व की होती हैं क्योंकि अनुभव को अन्वेषित करती हैं।

रचना में लेखक द्वारा अनुभव को अर्जित करने की बात मैंने कही और अब प्रसंग-वश. अनुभव के अन्वेषित किये जाने की बात तक पहुँच गया हूँ। पर इससे पिछली बात झूठी नहीं पड़ जाती। और न यह ही, कि अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए, इन दोनों में से किसी एक ही बात का चुनाव कर लेना मेरे लिए जरूरी हो। वस्तुतः दोनों ही बातें, न केवल अलग-अलग लेखकों की दृष्टि के अनुसार बल्कि एक ही लेखक के रचना-प्रासंगों के अनुसार महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो सकती हैं। प्रेमचन्द की अधिकांश श्रेष्ठ कहानियों में अनुभव को शक्तिशाली ढ़ंग से अर्जित ही किया गया है पर 'कफ़न' में हम पाते हैं कि प्रेमचन्द ने अनुभव को अन्वेषित किया है। 'कफ़न' में अनुभव की स्थिति उनकी पिछली कहानियों में अनुभव की स्थिति से भिन्न है। जो प्रेमचन्द जीवन-भर अपनी कहानियों में यथार्थ को आदर्शोन्मुख बनाये रखते हैं वही 'कफन' में एकाएक एक ऐसे अनुभव के सामने खड़े मिलते हैं जिसके वैसे साक्षात्कार का कोई लक्षण उनकी पिछली कहानियों में नहीं मिलता। यह कहानी में अनुभव के अन्वेषित किये जाने का एक सफल उदाहरण है। सामाजिक जीवन में अमानवीकरण की ओर ठेलने वाली दुर्दान्त व्यवस्था को उन्होने जीवन में देखा था लेकिन आदर्शाग्रही और हृदय-परिवर्तनवादी दृष्टि जब उन्हें इस अनुभव को रचना में भटका देने वाली लगी तो उन्होने उसे तिलाँजलि देने में कतई संकोच नहीं किया।

———

प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना

डा० अशोक कुमार सिंह *

उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना सतत् विकासशील रही है। वे कभी एक विचार अथवा दर्शन से बंधे हुए नहीं रहे। उन्होंने अपने समय के प्रचलित प्रायः सभी सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया था और उनका अंधानुकरण न कर पर्याप्त सजगता एवं समझदारी के साथ उपयोग किया था। उन्हें जो वस्तु मानवता के विकास में सहायक प्रतीत होती है उसका वे बेहिचक चयन कर लेते थे। उनकी वैचारिक चेतना में देशी एवं विदेशी दोनों तरह के जीवन दर्शनों का अदभुत सामंजस्य है। वे एक ओर जहाँ गांधीवाद, आर्यसमाज एवं अन्य भारतीय नैतिक सिद्धान्तों (निष्काम कर्मयोग आदि) से प्रभावित थे वहीं वे दूसरी ओर टालस्टाय, गोर्की एवं मार्क्स आदि पाश्चात्य चिन्तकों के दृष्टिकोणों से भी प्रभावित थे। इन सभी विचार सूत्रों के सामंजस्य द्वारा उनकी वैचारिक चेतना का निर्माण हुआ था। उनका एक मात्र लक्ष्य था भारतीय समाज एवं देश की यथार्थ स्थितियों की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट करना। इस यथार्थ चित्रण द्वारा उन्होंने सब लोगों का ध्यान अपने देश एवं समाज के अन्तर्विरोधों, विषमता, शोषण, दुःख, दर्द, कटुता, संघर्ष, आपसी वैमनस्य, निर्धनता, पराधीनता, गुलामी एवं बैर आदि कुप्रवृत्तियों की तरफ खींचा ताकि लोग इसे दूर करने के लिए सक्रिय भूमिका का निर्वाह करें।

प्रेमचन्द के साहित्य को देखने से स्पष्ट होगा कि वे अपने सृजनात्मक दौर के प्रथम चरण में गांधीवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित थे, परन्तु क्रमशः वे इन विचारों से दूर होते-होते मार्क्सवादी विचारधारा एवं समाजवादी चेतना के करीब पहुँच जाते हैं। ज्ञातव्य है कि उनकी चेतना कहीं भी किसी वाद विशेष से आक्रान्त नहीं हुई है। वे प्रारम्भ में देश की स्वतंत्रता एवं पराधीनता की चेतना से अनुप्रेरित हो देशप्रेम की भावना से आपूरित पात्रों का सृजन करते हैं और बाद में चलकर परतंत्रता से उत्पन्न होने वाली विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का गम्भीर चित्रण करने लगते हैं। पराधीनता के दुष्परिणामों के विभिन्न आयामों का सन्धान करते हुए वे उसकी मूल में पहुँचकर जिस सामाजिक सत्य का दर्शन करते हैं वह बहुत ही भयंकर एवं चौंकाने वाला है। उन्हें लगता है कि देश की स्वतंत्रता के बावजूद समाज के भीतर समाहित शोषण की गहरी जड़ों को निकालना अत्यन्त कठिन है। वे देख रहे थे इन कुप्रवृत्तियों को समाप्त करने में गांधीवाद एवं सुधारवाद असफल सिद्ध हो रहे हैं। उन्हें मार्क्सवाद के सिद्धान्त कुछ सीमा तक इन समस्याओं के समाधान में सहायक प्रतीत होते हैं। उनकी वैचारिक यात्रा की शुरुआत स्वाधीन चेतना से शुरु होकर विश्व बन्धुत्व एवं समता के सिद्धान्तों तक विकसित हुई है। इनकी गत्यात्मक वैचारिक चेतना के व्यापक फलक के किसी विशेष पक्ष को ही देखने

---

* हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

के कारण विभिन्न आलोचक उन्हें वाद विशेष के कटघरे में आबद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं। यही कारण है कि कोई उन्हें गांधीवादी कहता हैं, तो कोई मार्क्सवादी, कोई आदर्शवादी कहता है तो कोई यथार्थवादी। इसके अतिरिक्त कोई उन्हें नैतिकतावादी, आशावादी, निराशावादी, संशयवादी, अराजकतावादी, संशोधनवादी, समझौतावादी, सुधारवादी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी एवं यथार्थोन्मुख आदर्शवादी आदि कहते हैं। वस्तुत: ये तमाम फतवे प्रेमचन्द को सम्पूर्ण वैचारिक चेतना के गत्यात्मक स्वरूप को ठीक से न समझ सकने के कारण दिये गये हैं। प्रेमचन्द मनुष्य की समता के पक्षधर थे। वे किसी भी प्रकार के शोषण एवं अन्याय के विरोधी थे। उन्होंने बहुत पहले ही प्रेमाश्रम में बलराज के माध्यम से अपनी वैचारिक चेतना को स्पष्ट किया है—मेरा सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी कमाई खानी चाहिए। किसी को यह अधिकार नहीं कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवनवृत्ति का आधार बनाए।

मराठी साहित्यकार टी० टीकेकर से हुई प्रेमचन्द की वार्ता उनकी वैचारिक चेतना को पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट करती है। प्रेमचन्द ने उन्हें उत्तर दिया था कि—मैं गान्धीवादी नहीं हूँ फिर भी गान्धी जी के चेंज आफ हार्ट पर विश्वास रखता हूँ और "मैं कम्युनिस्ट हूँ किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल यह है कि हमारे देश में जमींदार सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं न रहें।" ये दोनों ऐसे विचार-सूत्र हैं, जो संक्षिप्त रूप से प्रेमचन्द की सम्पूर्ण वैचारिक यात्रा को रेखांकित करते हैं। प्रेमाश्रम में बलराज के माध्यम से उन्होंने जो विचार व्यक्त किया है उसके आलोक में उपर्युक्त कथनों को देखें तो सारी स्थिति स्पष्ट हो जायगी। प्रेमचन्द का लक्ष्य था कि हमारा समाज समता के सिद्धान्त पर बने। उसमें कोई किसी का शोषण न करें और कोई पराश्रित अथवा परोपजीवी न रहे। सभी लोग मेहनत करें और और सुखपूर्वक रहें। समाज में किसी प्रकार की पराधीनता अथवा गुलामी न रहे। कोई किसी को सताये नहीं। परन्तु इस समाज की प्रतिष्ठा कैसे हो ? वर्तमान समाज की तमाम असंगतियों, विडम्बनाओं, शोषण एवं गुलामी, वर्ग विषमता एवं मतभेद कैसे समाप्त होंगे ? प्रेमचन्द द्वारा कल्पित भावी समाज की रचना किस प्रकार हो ? क्या यह मार्क्सवाद के सशस्त्र क्रान्ति एवं विध्वंसात्मक विद्रोह द्वारा सम्भव है ? गाँधीवाद के हृदय—परिवर्तन द्वारा ? या अन्य किसी सिद्धान्त द्वारा ? प्रथम स्तर तक तो प्रेमचन्द के अन्दर कोई द्विविधा नहीं है परन्तु दूसरे स्तर पर स्वयं उनमें अन्तर्विरोध, द्विविधा एवं संशय है। वे कभी मार्क्सवादी वसूलों के कायल प्रतीत होते हैं, तो कभी गान्धीवादी सिद्धान्तों के। यही कारण है कि उनके पात्र सामाजिक उत्पीड़न से परेशान हो हिंसात्मक विद्रोह पर तो उतर आते हैं, परन्तु एक सीमा पर जाकर रुक जाते हैं। वे उनके एकदम विध्वंसकारी एवं क्रान्तिकारी चरित्र का सम्यक् विकास नहीं कर पाये हैं। यहां आकर उनकी "चेतना द्विविधाग्रस्त हो जाती है। हाँ यह सच है कि उनकी परवर्ती रचनाओं में विद्रोह का स्वर धीरे-धीरे बढ़ता गया है, जिसमें पता चलता है कि वे मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के करीब पहुँच रहे हैं लेकिन कभी भी वे मार्क्सवाद के कट्टर अनुयायी होने का आभास नहीं देते। यही कारण है कि कायाकल्प में किसान एवं मजदूर काफी दूर तक विद्रोहात्मक भूमिका निभाते हैं। वे हिंसक

हो उठते हैं। लाठियों एवं पत्थरों से ब्रिटिश सैनिकों का मुकाबला करते हुए गोरों के कैम्पों पर अधिकार भी कर लेते हैं, लेकिन उसके बाद क्या होता है ? उसके बाद प्रेमचन्द का अन्तर्विरोध उमड़ पड़ता है और तब वे मार्क्सवाद के सिद्धान्त का पूरी तरह उपयोग नहीं कर पाते और गान्धीवादी विचारधारा की आड़ लेकर उपयुक्त संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं। गान्धीवादी विचारधारा से प्रभावित चक्रधर नामक पात्र उन मजदूरों एवं किसानों को आगे बढ़ने से वैसे ही रोक देता है, जैसे चौरा-चौरी काण्ड के बाद गान्धी जी ने भारतीय जनमानस के अन्दर उमड़ते हुए विद्रोह को रोक दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने लक्ष्य एवं साधन के चयन में संशयग्रस्त मानसिकता पूरे प्रेमचन्द साहित्य में फैली हुई है।

प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना के कई स्तर हैं। वह विभिन्न सोपानों में विकसित हुई है। पहले स्तर पर वे राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित हो देश भक्ति से युक्त रचनाएँ लिखी हैं। इस तरह की रचनाओं का मुख्य लक्ष्य था ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति एवं अपने देश की स्वतन्त्रता। ब्रिटिश साम्राज्य के बढ़ते भयंकर शोषण को स्पष्ट करने के लिए जब वे अगला कदम बढ़ाते हैं तो देखते हैं कि उनके एजेंट (दलाल) देशी नरेश एवं जमींदार किसानों एवं खेतिहर मजदूरों का भयंकर शोषण करते हैं। ये ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के शोषण के मुख्य साधन थे। अतएव प्रेमचन्द ने इस शोषण तन्त्र को अपने उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया है, फलतः उनके कथा-साहित्य में इस वर्ग के चरित्रों का अच्छा चित्रण हुआ है। इसके बाद वे देखते हैं कि ये किसान एवं मजदूर जमींदारों की निर्मम लगान वसूली से त्राण पाने के लिये महाजनों की शरण में जाने को बाध्य होते हैं और विवश हो उनसे कर्ज लेते हैं। यहाँ भी उनका भयंकर शोषण होता है। इस प्रकार प्रेमचन्द तत्कालीन समाज के शोषण के त्रिभुज को अच्छी तरह पहचानते हैं और उसका जीवन्त एवं स्पष्ट चित्रण करते हैं। इस त्रिभुज के शीर्ष पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद स्थित है और अगल-बगल जमींदार एवं महाजन। इस त्रिकोण में फंसी बेचारी जनता की छटपटाहट को प्रेमचन्द ने अपनी रचना में वाणी दी है। जमींदार लगान एवं बेगारी द्वारा, महाजन कर्ज एवं सूद द्वारा तथा ब्रिटिश सरकार प्रशासन (पुलिस) एवं कानून द्वारा मनमाने ढंग से बिना किसी रोक टोक के भारतीय जनता का भयंकर शोषण करते हैं। इन सारी स्थितियों को निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है :—

ब्रिटिश साम्राज्य

कानून | प्रशासन

किसान खेतिहर मजदूर

जमींदार लगान बेगार कर्ज सूद महाजन

उपर्युक्त त्रिभुज प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना के विभिन्न आयामों को काफी दूर तक स्पष्ट करता है। प्रेमचन्द शोषणयुक्त समाज के चित्रण के बाद शोषण मुक्त की प्राप्ति का एवं उसके साधनों का भी संकेत करते हैं। इस प्रकार मोटे तौर पर हम प्रेमचन्द की वैचारिक यात्रा को मुख्यत: चार सोपानों में विभक्त कर सकते हैं। ज्ञातव्य यह है कि यह विभाजन मात्र अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किये गये हैं, क्योंकि ये सभी एक दूसरे से इस प्रकार अन्त: सम्बद्ध हैं कि उन्हें दो टूक शब्दों में पूर्वापर क्रम से अलगाना या सजाना अत्यन्त कठिन है :—

(1) मुक्ति संग्राम का दौर।
(2) शोषणयुक्त समाज का यथार्थ चित्रण।
(3) शोषण से मुक्ति के उपाय का संकेत
(4) शोषणमुक्त भावी समाज की रूप रेखा।

1 मुक्तिसंग्राम (स्वदेश प्रेम)का दौर :—

प्रेमचन्द देश की स्वतंत्रता के बहुत बड़े समर्थक थे। उनमें देशप्रेम की भावना पर्याप्त मात्रा में भरी थी। कांग्रेस एवं गाँधी जी के प्रभाव में आकर उन्होंने स्वदेशप्रेम की भावना से प्रेरित होकर असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और अपनी दयनीय आर्थिक अवस्था का बिना ख्याल किये बाइस साल पुरानी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। वे गांधी जी के विचारों एवं व्यक्तित्व से पूर्णतया प्रभावित थे, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे उनके सिद्धान्तों का अन्धानुकरण करने वाले परम भक्त थे। उन्होंने सन 1930 (अप्रैल) के हंस में लिखा था—स्वाधीन बनकर आधी खा लेना, गुलामी की पूरी से कहीं अच्छा है। इसी समय के लगभग उन्होंने बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखा था कि मेरी एक ही महत्वाकांक्षा है और वह यह कि मेरा देश आजाद हो। मरने से पहले मैं जरूर कुछ किताबें लिख जाना चाहता हूँ पर उनका भी ध्येय देश की आजादी ही है।—इसी प्रकार प्रेमचन्द जी समय-समय पर देश की आजादी की इच्छा को विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में व्यक्त करते थे। 1907 में उनकी प्रथम महत्वपूर्ण कहानी 'अनमोल रतन' प्रकाशित हुई, जिसकी मूल-संवेदना देशप्रेम की भावना से ओत-प्रोत थी। इस कहानी में दिलफरेब नामक शहजादी दिल फिगार नामक अपने प्रेमी से दुनिया का अनमोल रतन लाने को कहती है। वह उसे तब तक नहीं स्वीकार करती जब तक कि उसका प्रेमी अनमोल रतन के रूप में स्वतंत्रता की बलिवेदीपर चढ़ने वाले किसी देश-भक्त का खून लाकर नहीं देता। इस आरम्भिक दौर में उन्होंने देश-प्रेम की भावना को ध्यान में रखकर अनेक रचनाएँ कीं, परन्तु बाद में भी चलकर वे इससे एकदम विमुख नहीं हुए। सन् 1930 के लगभग उन्होंने देश-प्रेम की भावना से आप्लावित 'आहुति' नामक कहानी की रचना की। देश की स्वतंत्रता, देश-प्रेम एवं मुक्ति-संग्राम की चेतना प्राय: उनकी सभी रचनाओं में मिलती है परन्तु इस दृष्टि से प्रेमाश्रम रंगभूमि, कायाकल्प, गबन एवं कर्मभूमि का विशेष स्थान है। रंगभूमि का सूरदास गांधी जी का प्रतिरूप प्रतीत होता है। विनय में पण्डित जवाहर लाल नेहरु की और सौफिया में श्रीमती एनीबेसेंट की झलक मिलती है। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव में

असेम्बलियों का बायकाट करने वालों के प्रतीक मि० गांगुली हैं। तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता से निराश हुए लोगों की प्रतिच्छवि भारत सिंह में मिलती है। जान्हवी उन आदर्शमाताओं की प्रतीक है जो प्रसन्नतापूर्वक देश-प्रेम की बलिवेदी पर अपने पुत्र (विनय) को चढ़ा देती है। रंगभूमि उपन्यास पर गांधीवादी दृष्टि, (त्याग, सत्य, अहिंसा आदि), राष्ट्रीयता आन्दोलन, मातृ-भूमि प्रेम एवं देश-प्रेम का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। यह इस दौर की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

2 शोषण-युक्त समाज का यथार्थ चित्रण :—

ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति एवं आर्थिक शोषण की प्रणाली का विरोध करना प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना का अगला चरण है। वे स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि अंग्रेज सरकार किस प्रकार से देशी राजाओं, जमींदारों एवं महाजनों के माध्यम से देश की गरीब जनता का खून-चूस रही थी। उन्हें इस भयंकर एवं दारुण शोषण तंत्र के मूल में अंग्रेजों का हाथ स्पष्ट रूप से दिखायी दे रहा था। इस संदर्भ में उनकी दृष्टि काफी साफ थी। अतः वे अंग्रेज सरकार के साथ-साथ जमींदारों एवं सेठ साहुकारों की भी घोर आलोचना करते हैं। वे अपनी रचनाओं में इस मिली भगत का पर्दाफास करते हैं। वे देशी नरेश एवं जमींदार अंग्रेजी नीति के सिकजों में बुरी तरह फंस गये थे, जिसके कारण उन्हें न चाहते हुए भी किसानों पर निर्मम अत्याचार एवं कठोर लगान वसूली करते थे, अन्यथा उनका पद एवं सुख सुविधाएँ असुरक्षित थीं। उनकी स्थिति मात्र कठपुतली की तरह थी जिसकी डोर अंग्रेज अधिकारियों के हाथ में थी। इस लिए कहीं प्रेमचन्द इस बर्ग के प्रति भी सहानुभूति दिखाते हुए नजर आते हैं। इस वर्ग की स्थिति का अच्छा चित्रण रंगभूमि उपन्यास के जसवन्त नगर के प्रसंग में एवं गोदान के जमींदार एवं होरी के बातचीत के सिलसिले में हुआ है।

जमींदार अंग्रेज सरकार के एक तरह के एजेंट अथवा दलाल थे, जो किसानों द्वारा वसूल की गयी सम्पूर्ण धनराशि का दस हिस्सा सरकारी खजाने में जमा करते थे और ग्यारहवाँ हिस्सा अपने पास रखते थे। उस समय सम्पूर्ण उत्तर भारत (मुख्यतः संयुक्त प्रान्त आज का उत्तर–प्रदेश–विहार और बंगाल" में यह प्रथा प्रचलित थी। चूँकि जो जमींदार निश्चित्त अवधि तक सम्पूर्ण लगान की वसूली नहीं कर पाता था उसे उसके पद से हटा दिया जाता था और तरह-तरह के दण्ड दिये जाते थे। इसलिये ये लोग किसानों पर भयंकर से भयंकर अत्याचार करके पूरी लगान वसूली करने के चक्कर में रहते थे। उन्हें लगान वसूल करने में सरकार हर तरह की सहायता प्रदान करती थी। तत्कालीन सरकार के कानून, प्रशासन, एवं सम्पूर्ण सरकारी तन्त्र जमींदारों का समर्थक एवं किसानों का विरोधी था। किसानों के जमीन से बेदखली एवं कुर्की का पूरा अधिकार जमींदारों के हाथ था जिसका वे इच्छानुसार उपयोग करते थे। इसमें उन्हे पुलिस वर्ग का पूरा सहयोग मिलता था बल्कि वह भी ऐसे मौकों पर किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार कर शोषण करती थी। किसानों को जमीन के लगान के अतिरिक्त समय-समय पर जमींदार को सगुन, चन्दा, बेगारी एवं

डाँड़ आदि भी देना पड़ता था। लगान की वसूली से ही किसानों की स्थिति दयनीय हो जाती थी ऊपर से इन चीजों के बोझ से उनकी कमर ही टूट जाती थी। पूरा वसूली न कर सकने वालों को कोड़े से पिटवाया जाता था। जमींदारों का इतना आतंक था कि कोई उनका विरोध करने का साहस नहीं करता था, फिर भी विद्रोह के अँकुर किसानों में फूटने लगे थे। इन तमाम स्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण प्रेमचन्द ने किया था। किसान जमींदारों के अत्याचार से बचने के लिए महाजनों के पास कर्ज लेने जाते थे, ताकि वे समय पर पूरा भुगतान कर सकें। ये महाजन और भी रक्तपिपासु थे। जो एक बार उनके चँगुल में फँस जाता उसकी पीढ़ी दर पीढ़ी उससे मुक्त नहीं हो पाती थी। महाजन की जमींदार से साँठ गाँठ रहती थी और वह रूपया वसूल करने में उसकी हर तरह से सहायता करता था। बेचारा किसान इन तेहरी शोषण की दीवारों में बुरी तरह पिसता जा रहा था, जिसकी अत्यन्त कारुणिक एवं धार्मिक गाथा प्रेमचन्द के कथा साहित्य में विभिन्न कोणों से चित्रित की गयी है। उक्त परिस्थितियों में किसानों की वेदना एवं स्थितियों के जितने रूप एवं आयाम हो सकते हैं, उन सभी का इनके यहाँ यथार्थ एवं जीवन्त चित्रण किया गया है। चूँकि प्रेम चन्द ग्रामीण जीवन एवं परिवेश से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके चित्रण में पर्याप्त सजीवता एवं विश्वसनीयता है। इनके पात्र काल्पनिक जगत् के न प्रतीत होकर वास्तविक जगत् के जीते जागते इन्सान प्रतीत होते हैं जिन्हें हम अपने आस-पास विभिन्न रूपों में देख सकते हैं। उपर्युक्त शोषण तन्त्रों के भयंकर नीति का परिणाम यह होता गया कि गरीब किसान धीरे-धीरे भूमिहीन होकर मजदूर या सर्वहारा होता जा रहा था। इस बदलाव में उन किसानों की जो हृदय द्रावक पीड़ा होती है उसका भी मार्मिक चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। उपर्युक्त सभी चेतनाएँ एवं स्थितियाँ प्रेमचन्द के गाथा संसार में सर्वत्र दिखायी पड़ती है, परन्तु उनमें भी मंगलसूत्र, गोदान, प्रेमाश्रम एवं कर्म-भूमि का विशेष स्थान है।

प्रेमाश्रम के ज्ञान शंकर के पिता की बरखी में बाजार-भाव से आधे मूल्य पर घी न दे सकने के कारण बलराज एवं मनोहर को विभिन्न प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं। कर्म-भूमि का महन्त जमींदार अत्यधिक कड़ाई से किसानों से लगान वसूल करता है। चाहे सूखा पड़े या बाढ़ आये या महामारी फैले उसे हर हालत में पूरी लगान चाहिये। इसके अतिरिक्त ठाकुर जी के नाम पर भेंट, चढ़ावन एवं न्यौछावर आदि भी बेगार रूप में किसानों को देना पड़ता हैं। गोदान के रायसाहब भी अत्यधिक कड़ाई से किसानों से लगान वसूल करते हैं। प्रेमचन्द ने होरी के माध्यम से किसानों के जीवन के प्रत्येक पक्ष का सूक्ष्मता से चित्रण किया है। ऊपर गिनाई गई लगभग सभी स्थितियों से होरी को देखा परखा गया है। वह ब्रिटिश सरकार (पुलिस), जमींदार, एवं महाजन तीनों के भयंकर शोषण का शिकार बनता है और अन्त में अपनी जमीन से हाथ धोकर मजदूर की जिन्दगी जीने को विवश होता है। उसके जीवन का एक-एक पक्ष, एक-एक घटना सम्पूर्ण शोषण तन्त्र को बेनकाब कर देता है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने देशी एवं विदेशी दोनों तरह के शोषण तन्त्रों का वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए संकेत करते हैं कि मात्र ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त के साथ ही किसानों की हालत में सुधार नहीं होगा।

(3) शोषण से मुक्ति के उपाय का संकेत :—

प्रेमचन्द को जैसी सफलता उपर्युक्त दोनों सोपानों के चित्रण में मिली है, वैसी सफलता परवर्ती सोपानों के चित्रण में नहीं मिल पायी है इसका कारण है कि वे इस क्षेत्रों में संशयग्रस्त थे। चूंकि उन्हें अपने लक्ष्य के बारे में तनिक भी सन्देह नहीं था अतएवं वे उसके स्वरूप एवं कारणों का अच्छा चित्र खींच सके हैं, परन्तु लक्ष्य प्राप्ति के साधन के सन्दर्भ में वे निश्चयात्मक रूप से किसी मार्ग का सन्देश नहीं दे सके हैं। यही कारण है कि वे कभी गान्धीवाद के शरण में जाते हैं तो कभी मार्क्सवाद के शरण में। यही कारण है कि प्रेमचन्द की छटपटाहट एवं बेचैनी के परिणाम स्वरूप विद्रोही पात्रों की सर्जना तो होती है परन्तु उनके चरित्र का सम्यक् विकास नहीं हो पाता है। उन्होंने सेवा-सदन के चैतू, प्रेमाश्रम के बलराज एवं मनोहर, कायाकल्प के कृषक मजदूरों के हिंसात्मक विद्रोह एवं चौधरी की चेतना कर्म-भूमि में किसानों एवं पुलिस के बीच हुये संघर्ष तथा गोदान के गोबर के चरित्र का सम्यक् विकास वे नहीं कर पाये हैं। इन चरित्रों के विकास की काफी अपेक्षा थी। मंगल सूत्र के देवकुमार में विद्रोही चरित्र के विकास की पूर्ण संभावना दिखायी पड़ती है, परन्तु दुर्भाग्य से यह उपन्यास अधूरा ही रह गया। देवकुमार स्पष्ट शब्दों में हिंसा एवं विद्रोह के स्वर की उद्घोषणा करता है—"दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।" और वे पूर्ववर्ती मान्यताओं से हटकर देवतापन के नये स्वरूप को उद्घाटित करते हैं—"देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है और अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो यह अन्धा भी है और मूर्ख भी देवता किसी तरह नहीं।———"

(4) शोषण मुक्त भावी समाज की रूपरेखा :—

प्रेमचन्द ने शोषण विहीन, कुव्यवस्था हीन, समता एवं कर्ममय जीवन पर आधारित समाज के स्वरूप का संकेत बहुत पहले ही प्रेमाश्रम में कर दिया था, जिसका स्वरूप परवर्ती काल की रचनाओं में और अधिक स्पष्ट रूप में यत्र तत्र आभासित होता है। यहीं पर वे बलराज द्वारा बलगारी देश के किसानों एवं मजदूरों के पंचायत राज की चर्चा कर चुके हैं। कायाकल्प में वे कहते हैं—'चारों तरफ देखते हैं कि जमाना कितना पलट गया। यहाँ तक कि किसान और मजदूर राज करने लगे हैं, पर अब भी लोगों की आखें नहीं खुलतीं।' प्रेमचन्द द्वारा कल्पित भावी समाज का पर्याप्त परिचय उनके द्वारा लिखित महाजनी सभ्यता नामक लेख से मिलता है। वे उसकी रूपरेखा बताते हुए कहते हैं कि—'नि.संदेह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दांत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। नयी सभ्यता हमारे देश के परिवेश एवं संस्कृति के अनुकूल नहीं है, कहने वालों का जबाब देते हुए वे इसी लेख में कहते हैं कि 'वह सभ्यता श्रेयस्कर है जो धनियों के शासन का, व्यक्तिगत सम्पत्ति का खात्मा कर रही है। आज नहीं तो कल, दुनिया उसी के कदमों पर चलेगी। यह कहना कि यह व्यवस्था इस या उस देश की सामाजिक अथवा धार्मिक स्थितियों के

अनुरूप नहीं बैठती, या इस अथवा उस देश का माहौल उसके मुजाफिक नहीं बैठता, फिजूल बात है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना, राष्ट्र प्रेम एवं गांधीवाद के प्रभाव से प्रारम्भ होकर क्रमशः विविध रूपों एवं भंगिमाओं में विकसित होती हुई शोषण-विहीन सामाजिक व्यवस्था एवं मार्क्सवाद के करीब पहुँचती है। प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना के इस गत्यात्मक स्वरूप के सन्दर्भ में सम्पूर्ण भारतीय समाज एवं देश की आन्तरिक एवं वाह्य स्थितियाँ साकार हो सकी हैं। विशेष रूप से उन्होंने ग्रामीण जन जीवन एवं परिवेश को अपनी लेखनी का मुख्य विषय बनाया है। उसमें जनता की कराहती आवाज एवं छटपटाती स्थिति की मार्मिक व्यंजना की गयी है। उसमें कृषक जीवन के समस्त संभावित पक्ष किसी-न-किसी रूप में चित्रित किये गये हैं। स्पष्ट है कि उनकी गत्यात्मक वैचारिक चेतना बहु आयामी है जिसके विभिन्न फलक एवं विकासात्मक सोपान हैं। इन सबका समग्र आकलन ही प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना के मूल्यांकन का सही तरीका है। उनकी यह बहु आयामी गत्यात्मक चेतना देश एवं समाज के विविध पक्षों को स्पर्श करती हुई उसकी प्राणवान अभिव्यक्ति कर सकी है। प्रेमचन्द के कथा साहित्य में पूरा युग मूर्त्तमान हो उठा है।

———

कहानीकार प्रेमचन्द

ओमप्रकाश राय *

कमलेश्वर ने नयी कहानी की संस्तुति में लिखा था–"एक शानदार अतीत कुत्ते की मौत मर रहा है उसी में से फूटता हुआ एक विलक्षण बर्तमान रूबरु खड़ा है....अनाम, अरक्षित आदिम अवस्था में। और आदिम अवस्था में खड़ा यह मनुष्य अपनी भाषा चाहता है, आस्था चाहता है कविता और कला चाहता है, मूल्य और संस्कार चाहता है अपनी भौतिक दुनियाँ चाहता है।" उनकी यह उक्ति नयी कहानी के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई है। प्रेमचन्द के अवतरण के समय गद्य साहित्य, विशेष रूप से कथा साहित्य अपनी शैशवावस्था में था। उसका कोई शानदार अतीत नहीं था। कहानी अपनी आदिम अवस्था में थी, जिसे भाषा, भाव, मूल्य और संस्कार की अपेक्षा थी। प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में अपने अवतरण के साथ ही इस आवश्यकता को परखा और देखा और अपने रचना धर्मी दृष्टिकोण से सजा-सँवार कर कहानी को लोक धर्मी आयाम प्रदान किया। इस प्रकार आलोचना के क्षेत्र में जो स्थान रामचन्द्र शुक्ल का है, कविता के क्षेत्र में जो स्थान निराला का है, कहानी साहित्य के क्षेत्र में वही स्थान प्रेमचन्द को प्राप्त हुआ। डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार–"प्रेमचन्द ने भारतीय कथा साहित्य में वैसी ही ख्याति अर्जित की है, जैसी कविता में तुलसी दास को प्राप्त है। दोनों के जीवन मूल्य सर्वथा समान नहीं हैं, फिर भी भारतीय जनता से गहरी सम्पृक्ति और मानव कल्याण की विश्व व्यापी भावना उनके व्यक्तित्व को औरों से पृथक कर देती है।"

प्रेमचन्द सचेतन–दृष्टि सम्पन्न कलाकार थे। सचेतन कलाकार अपने रचनाधर्मी उत्तरदायित्व से पूरी तरह परिचित होता है। प्रेमचन्द भली-भाँति जानते थे–"स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर कृति के लिए जबाव देना पड़ता हैं।" वे इस तथ्य से परिचित थे–"लिखते तो वे लोग हैं जिनके अन्दर कुछ दर्द है, अनुराग है, लगन है, विचार है। जिन्होंने धन और भोग विलास को जीवन का लक्ष्य बना लिया वे क्या लिखेगें।" उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है–"धन अगर मेरे जीवन का आदर्श होता तो आज इस दशा में न होता। मुझे भी धन कमाने की कला आती है, आज चाहूँ तो लाखों कमा सकता हूँ, लेकिन यहाँ तो धन कुछ समझा नहीं। साहित्य की सेवा अपना धर्म है और रहेगा। स्पष्ट है कि जनता की अदालत के प्रति सचेतनता मानव जीवन के प्रति गहरे लगाव, उसके दुःख-दर्द में साझी होने के भाव से ही प्रेमचन्द कला के प्रति एकनिष्ठ रूप से समर्पित हो सके थे। यह एक निष्ठ समर्पण उनका जीवन धर्म बन गया था। इसीलिए वे जनता के साथ जुडे ही नहीं थे अपितु जनता को ही उन्होंने साहित्य को परखने का अधिकार भी दिया था। उनकी यह स्थापना हमें गांधी जी की याद दिलाती है, जिनके अनुसार–"साहित्य को खेतों में काम करने वाला चरस खीचता किसान भी समझ सके।" प्रेमचन्द ने जनता के लिए

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कहानियों की रचना की और वे अपनी इस प्रतिबद्धता के साथ अन्त तक अन्योनाश्रित भाव से जुड़े रहे। प्रेमचन्द के पूर्व कहानी साहित्य का उद्‌भव हो चुका था, पर उसमें कुतूहल, विस्मय, रहस्य और कल्पना की प्रधानता थी प्रेमचन्द ने इसे इस तथाकथित घरौंदे से मुक्त करके मा.व मुक्ति और संघर्ष का वाहक बनाया। कपोल कल्पना के स्थान पर यथार्थ की उष्मा से पाठक हृदय में आदर्श के प्रति एक ललक जगी। प्रेमचन्द ने पहली बार कहानी साहित्य में जीवन के विविध क्षेत्रों के अनुभव का समावेश किया और उसे व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। जीवन के यथार्थ की गहरी और सटीक पकड़ के कारण मानव जीवन के आपसी रिश्ते अपनी उतार-चढ़ाव के साथ कहानी में चित्रित होने लगे। समूचे देश के जनजीवन के सही चित्रण के कारण उनकी कहानियाँ पहली बार जीवन की लोमहर्षक दास्तान बनी। उनमें मानव के प्रति अटूट आस्था थी। जीवन के शिव और अशिव दोनों पक्षों से भली-भाँति परिचित थे। इसीलिए अपने कहानी साहित्य के माध्यम से उन्होंने जनता को उत्तरदायित्व का बोध कराया। प्रेमचन्द की रचनाओं में मानवता का सही आकलन हुआ और उसके सभी पक्षों पर उचित प्रकाश पड़ा। यही उनकी कहानी साहित्य को लोकप्रियता का प्रमुख कारण भी सिद्ध हुआ। मनुष्य मात्र की अनन्त सभावनाओं के प्रति इस हद तक सचेतन कलाकार किसी भी राष्ट्र की बेजोड़ सम्पदा होता है।

प्रेमचन्द की आरम्भ की कहानियों में आदर्शोन्मुख यथार्थ के प्रति ललक थी, वे यथार्थ को ग्रहण तो अवश्य करते थे पर उसे आदर्श का संस्पर्श प्रदान करने के लिए उत्सुक रहते थे। इस सूत्र के अनुसार लिखी गई कहानियों पर गांधीवादी आदर्शवाद की प्रमुख छाप थी। दूसरे और तीसरे दशक की प्रायः सभी कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी होते हुए भी प्रेमचन्द केवल मानव आत्मा के ही महान शिल्पी ही नहीं सिद्ध होते अपितु मानवता मात्र के संरक्षक ज्ञात होते हैं। यह सच है कि यथार्थ की राह चलकर उन्होंने आदर्श की मंजिल तय करने का प्रयत्न किया था। फिर भी वे उस विरोधाभास से सर्वथा मुक्त थे। जिसमें इस तरह के रचनाकार को फँस जाने और समझौता परस्त बन जाने की सम्भावना रहती है। इसीलिए प्रेमचन्द अपनी कहानी साहित्य के माध्यम से भारतीय लोक जीवन का विशद् और महान चित्रण करने में समर्थ हुए। उन्होंने नवयुग की मानसिकता की विभिन्न मुद्राओं को बड़े सजीव ढ़ंग से उभाड़ने में सफलता प्राप्त की। इनकी कहानियाँ सामाजिक हित एवं जनकल्याण की भावना से ओत-प्रोत हैं। इसलिए उनमें यथास्थान कलात्मकता और कौशल के अभाव के बावजूद वे अपनी सरलता और सहजता में विश्वसनीय बन पड़ी हैं। जीवन को जीवन की सच्चाई और मानव कल्याण को सर्वोपरि महत्व देने के कारण इस कहानीकार ने समूचे भारतीय परिवेश को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की है। भारतीय कृषकों की ज्वलंत समस्याओं, अभाव ग्रस्त लोगों की दैनन्दिन चुनौतियों को उजागर करने वाले प्रेमचन्द शिल्प की दृष्टि से भी नये आयामों के अन्वेषण में निरन्तर संघर्ष रत रहे। कहानी साहित्य में प्रसाद का भी अवतरण एक महत्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने गद्य साहित्य को उसकी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक चेतना के सन्दर्भ में परख कर नया आयाम प्रदान किया। वे मूलतः आदर्शवादी विचारधारा के रचना-

कार थे, और उनकी यह मानसिक रुझान उनके गद्य के माध्यम से भी व्यक्त हुई। इसीलिए उनकी कई कहानियों में ललित निबन्ध की विशेषताएँ विद्यमान हैं। पर प्रेमचन्द प्रसाद से भिन्न मानसिकता के रचनाकार थे। उन्हें लोक भाषा की परख थी वे लोक जीवन की चुनौतियों को समझते थे। अतः उन्होंने रचना की दृष्टि से लोकानुभूति और रचना के अन्तः सम्बन्ध पर भी विचार किया। उन्होंने स्वीकार किया है—"मैं यथार्थवादी नहीं। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय तो वह जीवन चरित्र हो जायेगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थ होना आवश्यक नहीं, वह हो भी नहीं सकता। साहित्य की सृष्टि मानव समुदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के वास्ते होती है········आदर्श अवश्य हो पर यथार्थवाद अस्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह यथार्थवादी भी आदर्शवाद को न भूले तो वह श्रेष्ठ है।······हमें तो सुन्दर आदर्श भावनाओं को चित्रित करके मानव हृदय को ऊपर की ओर उठाना है, नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जायेगी" प्रेमचन्द के इस कथन से केवल रचना के उद्देश्य का ज्ञान नहीं होता है अपितु उनकी रचनाधर्मी मानसिकता के दिग्दर्शन का संकेत सूत्र भी उपलब्ध होता है। प्रेमचन्द ने अपने को जन-जीवन से इस तरह संपृक्त कर लिया था कि उनकी अभिव्यक्ति समाज के मसीहा की अभिव्यक्ति बन गयी थी।

प्रेमचन्द की कहानियों की चर्चा करते समय प्रायः लोगों की दृष्टि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अथवा यथार्थवाद तक ही केन्द्रित रह जाती है। कुछ आलोचक उससे आगे बढ़कर कुछ विदेशी कहानीकारों के गठनशिल्प और आदर्श से उनकी तुलना करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इस तरह वे प्रेमचन्द के समूचे कहानी को कुछ जाने-माने आलोचनात्मक कठघरों से बाँध कर देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि इस बात की ओर जाती ही नहीं कि मात्र शिल्प, गठन या कथ्य से कहानी,-कहानी नहीं बन जाती, उसकी आन्तरिक उपलब्धि होती है जिस कहानी के माध्यम चलकर हमें समझना होता है। इसे हम अगर एक शब्द में कहना चाहे तो कहानी की साँकेतिकता की संज्ञा दे सकते हैं। प्रेमचन्द अपनी यथार्थवादी दृष्टि, प्रामाणिक अनुभूति और ईमानदार अभिव्यक्ति से सदैव अपने परिवेश से सामाजिक सत्य को पाने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने कहानी के कई स्तरों पर साँकेतिकता का सहारा लिया है। आवश्यक यह है कि इन कहानियों के पठन क्रिया की राह चलकर हम उसे अधिक से अधिक समझें और उसका समुचित वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करें।

सन् 1930 के पश्चात् प्रेमचन्द के कथा साहित्य में एक निश्चित मोड़ आता है जिससे उनकी कहानियों का प्रभावित होना भी आवश्यक है। इन्हें समझने में प्रायः अधिकांश आलोचकों ने बहुत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय नहीं दिया है। 'सवा सेर गेहूँ' 'पूस की रात' 'ठाकुर का कुँआ' 'तावान' और 'कफन' कहानियाँ उसी कोटि की नहीं है जिस कोटि की 'बूढ़ी काकी' 'शतरंज के खिलाड़ी' 'माता का हृदय' 'पंच-परमेश्वर' अथवा 'बड़े घर की बेटी' नामक कहानियाँ रही हैं। इनकी साँकेतिकता, स्वर, तेवर, तात्पर्य यह की संरचना पूर्ववर्ती कहानियों से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द की अनुभूति अभिव्यक्ति की

परम्परा को तोड़-कर नया आयाम ग्रहण कर रही हैं। इसका संकेत 'जुर्माना' और 'सवा सेर गेहूँ' में पहले ही मिल चुका था। 'कफन' कहानी का 'माधव' और 'पूस की रात' कहानी के 'हल्कू' में आन्तरिक साम्य है। इन दोनों कहानियों के नायक अपनी विषम स्थिति से पूरी तरह परिचित हैं, और वे जीवन-यथार्थ को नये धरातल पर ग्रहण करते हैं। अब प्रेमचन्द जीवन-यथार्थ की चुनौतियों का सामना करने के लिए हास्य और व्यंग्य का सहारा अधिक लेते हैं। इससे कहानी की त्रासद अनुभूति अधिक घनीभूत होकर पाठक को सीधे प्रभावित करती है। तीन दशकों तक निरन्तर आदर्श को सजोने और उसे रचना के माध्यम से व्यक्त करने में प्रेमचन्द अपने ही सजोये आदर्शों की थाती को त्याग देते हैं। वे विषम मोहभंग की स्थिति से गुजरते हैं। इस काल की कहानियों में अनुभूति की प्रामाणिकता, संश्लिष्टता, अन्तर्द्वन्द चित्रण और सजीव वातावरण की सृष्टि तथा प्राथमिकता और साँके-तिकता को विशेष महत्व दिया है। इनकी संरचना कई साँकेतिक स्तरों पर सम्पादित हुई है, और उसमें व्यंजना की तल्खी और व्यंग्य का पुट मिलता है। इस तरह इस दौर की कहानियाँ नये साहित्यकारों के लिए चुनौती बन गयी हैं।

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से पाठकों को नयी धरती और नये आकाश का दर्शन कराया है। उनका मूल स्वर साम्राज्य विरोधी, सामन्त विरोधी और महाजनी सभ्यता का विरोधी रहा है। उन्होंने ग्रामीण जीवन के चित्रण को पहली बार सहृदयता के साथ महत्व दिया है। अतएव उनकी कहानियों में ग्राम्य जीवन में घुन की तरह व्याप्त अन्धविश्वास, अज्ञान, द्वेष, फूट, कलह, छुआ-छूत और परवशता को मुखर अभिव्यक्ति मिली है। उन्होंने मनुष्य की अनन्त शक्तियों को परखा और पहचाना है और उसकी अनन्त संभावनाओं को उजागर करने का प्रयत्न किया है। इस तरह वे भारतीय जन-जीवन की मूक आकाँक्षा को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले रचनाकार रहे हैं। प्रेमचन्द की कहानी परम्परा अधिक स्थायी और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है। और अधिकांश आधुनिक कहानीकारों ने उसे 'दाय' के रूप में ग्रहण कर के सम्मान प्रदान किया है।

प्रेमचन्द की आस्था

श्रीमती कामना सिंह *

प्रेमचन्द का नाम स्मृति पटल पर अंकित होते ही हमारे सामने भारत के पुनर्जागरण युग के एक ऐसे सक्षम सर्जक की छवि उभरती है जिसने तीव्र गति से बदलते सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्यों को साहित्य के माध्यम से अंकित ही नहीं किया था बल्कि अंकित करने में पहल भी की। समाज मानव सम्बन्धों से बनता है और उन सम्बन्धों के निरीक्षण-परीक्षण की दृष्टि से प्रेमचन्द से अधिक सावधान और तत्पर लेखक मिलना दुर्लभ है। उन्होंने सब प्रकार के मानव सम्बन्धों का अपनी रचनाओं में अन्वयन किया है। प्रेमचन्द का लिखना मात्र कलात्मक नहीं था बल्कि सोद्देश्य भी था। इसलिए वह केवल भावात्मक एवं कल्पना परक ही नहीं रह गया, शैली की दृष्टि से उसमें गठाव है और परिणाम की दृष्टि से एक सन्देश है। यह तत्त्व उनके साहित्य को सौन्दर्य तो देता ही है, एक अनूठी सार्थकता भी प्रदान करता है।

प्रेमचन्द के साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका साहित्य समसामयिक सामाजिक समस्याओं और राष्ट्रीय प्रश्नों से सम्बन्धित है। उनकी सभी कृतियों में—चाहे उपन्यास हों या कहानियाँ, निबन्ध हों या जीवनियाँ, साहित्य-समीक्षा हो अथवा कोई अन्य गद्य-रूप—सामाजिक दृष्टिकोण ही सर्वोपरि रहा है। वे नव जागरण की विचार धारा से घनिष्ट रूप से जुड़े हुये थे। साहित्यकार के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुये उन्होंने एक स्थान पर लिखा है जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है[1]। उन्होंने जनमानस को आंदोलित किया और भारतीय चिंतन को एक नई दिशा प्रदान की। सामाजिक चेतना और स्वाधीनता-पूर्व के दर्द के वे दृष्टा ही नहीं भोक्ता भी थे। वे मात्र साहित्यकार ही नहीं रह गये थे, वे इन समस्याओं से सीधे जूझे भी थे।

आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों तथा समाज में प्रचलित परम्परागत मूल्यों के परस्पर संघात से जो नयी-नयी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उनकी समझ और विश्लेषणात्मक शक्ति 'सामाजिक चेतना' है। सामाजिक चेतना केवल समझ ही नहीं देती, अपितु वह सामाजिक उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा भी देती है और सामाजिक आयामों के विस्तार के साथ-साथ विकसित भी होती है। परम्परा से चली आ रही मान्यताओं, रूढ़ियों और संस्कारों के कारण कुण्ठाग्रस्त जनता के जीवन में आशा, प्रेरणा, आस्था एवं स्फूर्ति जाग्रत कर इन्हें एक सूत्र में पिरोना सामाजिक चेतना का कार्य है। विभिन्न समाजों और एक ही समाज में विभिन्न मान्यताओं के कारण

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सामाजिक चेतना भी भिन्न रूपी हो सकती है। किन्तु मूलतः इसमें समाज सुधार, सामाजिक प्रगति अथवा समाजोत्थान का प्राधान्य रहता है। इसके यही प्रेरणा-स्रोत हैं।

प्रेमचन्द को जिन चेतनाओं ने आंदोलित किया वे क्रमशः राष्ट्रीय, आर्थिक, नारी व सांस्कृतिक चेतनायें थीं। जिनके सुधार व पुर्ननिर्माण में वे जीवन भर जूझते रहे।

स्वाधीनता आंदोलन राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर चुका था ऐसे वातावरण में साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द का पदार्पण हुआ। स्वतंत्रता सेनानियों को अहिंसा, सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा का मंत्र देकर गान्धी जी इस आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। प्रेमचन्द पर गान्धी विचार-धारा का बहुत प्रभाव था जो उनकी समस्त रचनाओं में परिलक्षित होता है। प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार किया है—-मैं दुनिया में महात्मा गान्धी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों। वह हम लोगों को बढ़ाने के लिये आंदोलन चला रहे हैं, तो मैं लिख करके उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गान्धी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं। मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।[२]

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में उस समय की राजनीतिक समस्याओं को इतने विस्तृत और जीवन्त रूप में चित्रित किया है कि वह युग साकार होकर आंखों के सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है।

प्रेमचन्द की कांग्रेस में गहन आस्था थी। वे इसे देशहित में संलग्न महत्वपूर्ण संस्था मानते थे और इसके माध्यम से स्वराज्य–प्राप्ति का स्वप्न देखते थे। उन्होंने 'कांग्रेस' शीर्षक टिप्पणी में लिखा: 'वह गरीबों की संस्था है। गरीबों के हितों की रक्षा उसका प्रधान कर्तव्य है। उसके विधान में मजदूरों, किसानों और गरीबों के लिए वही स्थान है जो अन्य लोगों के लिए। वर्ग, जाति, वर्ण आदि के भेदों को उसने एकदम मिटा दिया है।[3] वस्तुतः उस काल में रची गयी प्रेमचन्द की सभी कृतियों में उनकी स्वाधीनता की तीव्र ललक तथा स्वराज्य आन्दोलन के दृढ़ समर्थन की झलक मिलती है। 'जेल' कहानी की मृदुला जुलूसों के समर्थन में कहती है: 'लोग कहते हैं जुलूस निकालने से क्या होता है? इससे यह सिद्ध होता है कि हम जीवित हैं, अटल हैं और मैदान से हटे नहीं।'[४]

राष्ट्रीय आन्दोलन में सत्याग्रह, अहिंसा और सविनय अवज्ञा का प्रेमचन्द ने समर्थन किया है। उदाहरणार्थ 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने सूरदास के माध्यम से इन्हीं आदर्शों की स्थापना करायी है। सूरदास सत्याग्रही है। गान्धीवादी अहिंसा का उपासक है और हिंसापूर्ण कृत्यों को कदापि सहन नहीं कर पाता है।'[५]

साम्प्रदायिकता स्वराज्य आन्दोलन की एक प्रमुख बाधा थी उस समय। साम्प्रदायिकता की भावना को भड़काने का काम विदेशी शासक बड़े ही सुनियोजित ढंग से कर रहे थे। अल्पमत सम्प्रदायों को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देकर भारतीय जनता में फूट डाला और ऐसा विषपान कराया जिसका प्रभाव आज तक पूर्ण रूपेण नष्ट नहीं हो सका है। जन मानस में प्रचार किया कि स्वाधीनता आन्दोलन में मुसलमानों का समर्थक नहीं है। साम्प्रदायिकता

की आग भड़कने से प्रेमचन्द विक्षुब्ध थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में मुस्लिम नेताओं के योग-दान विषय पर उनकी यह उक्ति विचारणीय है 'मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बनकर कैद हों, मार खायें, कितनी ही कांग्रेस कमेटियों के प्रधान और मन्त्री हों, लेकिन फिर भी यही कहा जाता है कि मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं।'[६]

उस समय हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने के लिए अनेक उक्तियाँ खोजी जा रहीं थीं। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने विद्यार्थियों के पाठ्य-क्रम में सुझाव भी दिया। यथा अभी तक हिन्दू मुसलमान एक दूसरे की रीति–नीति, विचार–व्यवहार, साहित्य और दर्शन से कोरे रहते हैं और गत कई वर्षों से यह पृथकता और भी बढ़ जाती है।.........ज्यों-ज्यों यह पृथकता बढ़ती जाती है, हमारी धार्मिकता, कूप मण्डूकता भी बढ़ती जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम एक दूसरे का साहित्य पढ़ें, विचार समझें, उनके दृष्टिकोण को जानें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सबसे सुगम उपाय यह है कि हिन्दी-उर्दू नीचे से ऊपर तक लाजमी कर दी जाये।[७]

प्रेमचन्द ने हिन्दू-मुसलमानों को संकीर्णता के दायरे से निकाल कर धर्म के प्रति व्या-पक दृष्टि कोण अपनाने की प्रेरणा दी : जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उतना ही प्रेम न करेगें जितना निज धर्म वालों के साथ करते हैं।·········जब तक हम पंथजनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायेंगे, इसे तोड़कर फेंक न देगें, देश का उद्धार होना असंभव है।[८]

बीसवीं शती के प्रथम चरण में राष्ट्रीय भावना का उत्तरोत्तर प्रसार हो रहा था। भारतीय जनता विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर रही थी और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। जन मानस में उभरती इस भावना को दृष्टि में रखते हुये राष्ट्रीय नेताओं ने स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया। विदेशी वस्त्र विक्रेताओं की दूकानों पर नेताओं ने पिकेटिंग आरम्भ कर दी। प्रेमचन्द ने 'पिकेटिंग आर्डिनेंस' शीर्षक निबन्ध में इस पर बड़ी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है—'आज लगभग साठ हजार आदमी जेल में केवल इसलिए बन्द हैं कि उन्होंने अपने भाइयों को विदेशी कपड़े लेने से रोकने की चेष्टा की थी। अगर भारत के कल्याण पर सरकार की निगाह होती तो क्या ऐसा कानून जारी किया जाता[९]। प्रेमचन्द जितने चिन्तित स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार के प्रति थे उससे ज्यादा स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन के प्रति थे।

उस समय एक सामान्य सम्पर्क भाषा की आवश्यकता का अनुभव गान्धी जी और अन्य नेताओं को हुआ। सर्व सम्मति से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। सभी यह अनुभव करते थे कि बिना समान भाषा के राष्ट्रीय भावना दृढ़ नहीं हो सकती। प्रेमचन्द भी देश के लिए राष्ट्र भाषा को अनिवार्य मानते थे। उनकी मान्यता है : 'राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध नहीं हो सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का प्रचार आपद्धर्म है। इसे हम राष्ट्रभाषा का पद नहीं दे सकते।[१०] राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण समन्वयवादी था।

वे ऐसी भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा देने के पक्ष में थे जो सभी के लिए ग्राह्य हो और भारतीय संस्कृति के अनुरूप हो। उनका स्पष्ट मत था कि हिन्दी इतनी अधिक सुबोध, सहज, सरल और कोई भाषा नहीं है।

प्रेमचन्द उन लेखकों में से थे जिन्होंने निर्धनता को बड़े निकट से देखा था और भोगा भी था। संभवतः इसीलिए निर्धनों के प्रति उनकी विशेष सहानुभूति थी। उनकी यह भावना उनकी सभी रचनाओं में चित्रित है। चाहे—उपन्यास हो या कहानी, निबन्ध हो या सम्पादकीय टिप्पणियां। भारतीय ग्रामों या ग्रामवासियों की दयनीय दशा प्रेमचन्द के चिन्ता का विषय थी। वे इसका मूल कारण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मानते थे। विदेशी शासकों की कृपा-दृष्टि प्राप्त करके जमींदार, महाजन और सरकारी कर्मचारी किसानों का शोषण करके विलासपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। वस्तुतः अंग्रेजों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के कारण भारतीय किसानों की स्थिति बहुत दयनीय हो गयी थी। किसानों और श्रमिकों की दुर्दशा, महाजनों द्वारा शोषण, किसानों का हित चिन्तन, जमींदार वर्ग, श्रमिकों के अधिकार, महाजनी सभ्यता : नई सभ्यता।

प्रेमचन्द प्रगतिशील विचारक थे। आर्थिक विषमताओं के फलस्वरूप किसानों में बढ़ते हुये असंतोष के प्रति उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया था। किसानों और मजदूरों की दुर्दशा के प्रति प्रेमचन्द की पूरी सहानुभूति थी। किसानों की स्थिति में सुधार के बिना देश का सुधार सम्भव न था। किसान के कष्टमय जीवन का उल्लेख उन्होंने 'जबर्दस्ती' शीर्षक निबन्ध में इन शब्दों में किया है—'जमींदार को समय पर मालगुजारी चाहिए, सरकार को समय पर लगान चाहिए, खाने के लिए दो मुठ्ठी अन्न चाहिए, पहनने के लिए एक चिथड़ा चाहिए, चाहिए सब कुछ पर एक ओर तुषार तथा अतिवृष्टि फसल को चौपट कर रही है, एक ओर आँधी उनके रहे सहे खेत को भी भ्रष्ट कर रही है। दूसरी ओर—रोग, प्लेग, हैजा, शीतला उनके नौजवानों की हरी भरी तथा लहलहाती जवानी में उसी तरह उठाये लिए जा रही है, जिस तरह लहलहाता खेत अभी छः दिन पूर्व के पत्थर पाले से जल गया।[११]

असामियों को महाजनों द्वारा अनेक प्रकार से शोषित किया जा रहा था। किसान की दीन हीन स्थिति और, महाजनों द्वारा उसके शोषण का चित्रण 'गोदान' में मिलता है—होरी कहता है, 'हमारा जनम इसीलिए हुआ है हम अपना रक्त बहायें और बड़ों का घर भरें। मूल का दुगुना सूद भर चुका पर मूल ज्यों का त्यों सिर पर सवार है।'[१२]

विदेशी सरकार की किसानों के प्रति चिन्ता स्पष्टतः साधारण किसानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए थी। वह यह जानती थी जमींदार और महाजनों का प्रभाव निस्तेज हो गया है, अतः उसने जमींदारों की उपेक्षा और भर्त्सना प्रारम्भ कर दी थी। परिणामस्वरूप जमींदारों की दशा दयनीय होती जा रही थी। प्रेमचन्द चाहते थे कि जमींदार अपनी स्वार्थवृत्ति और धन लोलुपता का परित्याग करके किसानों का हित-चिन्तन करें।

'गोदान' में उन्होंने राय साहब के माध्यम से जमींदारों को यह परामर्श दिया: 'काश्तकारों को बगैर नजराने लिए पट्टे लिख दें बेगार बन्द कर दें, इजाफा–लगान को तिलांजलि दे दें, चरावर जमीन छोड़ दें।'[13]

तत्कालीन जन मानस पर पश्चिमी देशों के श्रमिकों का जो प्रभाव पड़ रहा था उसके फलस्वरूप भारतीय मजदूरों में भी अपने अधिकारों के प्रति चेतना उत्पन्न हो रही थी। दलित तथा पीड़ित वर्गों ने अपने उद्धार के लिए संघर्ष किया। अपनी माँगों को बल देने के लिए कभी-कभी वे हड़ताल और असहयोग का मार्ग अपनाने लगे। प्रेमचन्द को उनके प्रति पूर्ण सहानुभूति थी। उन्होंने मजदूरों की समस्याओं के प्रति ध्यान आकृष्ट किया है—'मजदूरों ने अन्य देशों में कैसे-कैसे अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। इससे वे बेखबर नहीं हैं। वह अपना खून और पसीना एक करके भी अन्न नहीं पाता, उल्टे उसकी मजदूरी काटी जाती है। उधर मिल के पूंजीपति, डाइरेक्टर और सुख से दनदना रहे हैं तो उसका खून खौल उठता है। वह इस व्यवस्था को जड से खोद डालना चाहता है।'[14] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द मजदूरों की जीवन की विडंबना से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने उनकी माँगो का खुले समर्थन किया।

प्रेमचन्द युग में भारतीय ग्राम-व्यवस्था साम्राज्यवादी प्रभाव से पीड़ित थी। एक ओर जमींदार और दूसरी ओर महाजन के चंगुल में फँस कर किसानों का भरपूर आर्थिक शोषण हो रहा था। पूंजीवाद के इस बढ़ते हुये प्रभाव को प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' की संज्ञा दी। महाजनों की यह नई सभ्यता पुराने आदर्शों और पुरानी मान्यताओं को तिलाँ-जलि देकर नये मूल्यों की स्थापना कर रही थी। इस सभ्यता के प्रभाववश मानव दया, माया, ममता आदि का परित्याग करके और स्वार्थ मे प्रेरित होकर मशीन की भाँति ही जड़ तथा यान्त्रिक हो गया था। प्रेमचन्द ने इस व्यवसाय वृत्ति को सबसे घातक और रक्त पिपासु बताया –'धन के लोभ ने मानव-भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला—सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में है......बिजनेस इज बिजनेस अर्थात् व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए कोई गुंजाइश नहीं।'[15]

वस्तुतः प्रेमचन्द एक ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते थे जिसमें धनी वर्ग के लिए निर्धनों का शोषण करना सम्भव न हो और निर्धन तथा पीड़ित वर्ग के लिए समाज में समानाधिकार प्राप्त हों जिससे वे सम्मानपूर्वक सुख से रह सकें। भारतीय जन-मानस की दीन-हीन अवस्था का कारण देश की पराधीनता थी। किसानों का शोषण अमानुषिक बताया। इस कुप्रथा की घोर निन्दा की और इसे सामाजिक अपराध बताया। वे किसानों और मजदूरों को भी सुख-सुविधा उसी प्रकार चाहते थे जैसे धनी व्यक्तियों को प्राप्त थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में परम्परागत सामाजिक और साँस्कृतिक मूल्यों के ह्रास के कारण भारतीय समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। रूढ़िवादिता, मिथ्याडंबर

और अन्ध-विश्वासों की प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं समाज में। दहेज-प्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह, अनमेल विवाह आदि वैवाहिक कुप्रथायें बढ़ रहीं थीं। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, डॉ० राम मोहन राय, डॉ० घोड़ो केशव कर्वे आदि समाज सुधारकों ने देशव्यापी आन्दोलन चलाये, गान्धी जी ने भी भारतीय नारी के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। इन विभिन्न सन्दर्भों में प्रेमचन्द पर आर्य-समाज और महात्मा गान्धी का विशेष प्रभाव रहा, वे सुधारवादी साहित्यकार थे, अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने समाज-सुधार आन्दोलन को बल प्रदान किया, और समाज को खोखला करने वाली कुप्रथाओं के विरुद्ध अभियान छेड़ा, निरन्तर लिखकर उन्होंने जन-मानस को आन्दोलित किया। उनकी दृष्टि व्यक्ति-परक न होकर समष्टि-परक थी। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के मतानुसार "विधवा विवाह, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, अनमेल-विवाह, आभूषणप्रिय-विवाह आदि ऐसी बातें थीं जिनकी ओर आर्य-समाज विशेष रूप से उन्मुख था। इन कुरीतियों को मिटाने का संकल्प करके उन्होंने (प्रेमचन्द) फिर लिखना प्रारम्भ किया।"[१६]

प्रेमचन्द-युग में अशिक्षा, अज्ञान और रूढिवादिता के कारण भारतीय नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी, उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था। पुरुष की दया पर निर्भर घर की चहारदीवारी में वह पीड़ा और घुटन का जीवन व्यतीत कर रही थी, 'परम्परागत देवी' के स्थान पर वह 'दासी' बन गयी थी। 'नारी जाति के अधिकार' निबन्ध में नारी के इस अवस्था तक—पहुँचने के 'कारणों' का विश्लेषण करते हुए अपना मत इस प्रकार दिया "यों तो भारतीय नारी सदैव कुल-देवी समझी गयी है और उसे समाज में पुरुषों से ऊँचा पद प्राप्त है, किन्तु अन्यान्य कारणों से जिनकी विवेचना करने का यह अवसर नहीं है, उसका स्थान गौण हो गया था, वह मन्दबुद्धिता—जिसने एक ओर पराधीनता की बेड़ी पाँव में डाली, दूसरी ओर नारी जाति पर मनमानी अत्याचार करती गयी, ऊँच-नीच ऐसा संक्रामक रोग फैला कि उसने समाज को ही छिन्न-भिन्न नहीं कर दिया, बल्कि स्त्री-पुरुष में भेद डाल दिया, पुरुषों ने जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया।"।[१७]

'गबन' उपन्यास में नारी अधिकारों की समस्या पर उन्होंने गहनता से विचार किया है। पण्डित इन्द्रभूषण की मृत्यु के बाद उनका भतीजा मणिभूषण उनकी समस्त सम्पत्ति को हड़प लेता है और—इन्द्रभूषण की विधवा निराश्रित हो जाती है क्योंकि "सम्मिलित परिवार में विधवा को अपने पुरुष के सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता।" [१८]

प्रेमचन्द यह 'भली-भाँति जानते थे कि नारी को समान अधिकार दिलाने के लिये केवल कानून बना देना ही पर्याप्त नहीं होगा. शिक्षा के अभाव में वह अपने अधिकार का उपयोग न कर सकेगी। "स्त्रियाँ शिक्षित हों, इसके साथ-साथ स्त्रियों को वे अधिकार मिल जाँय जो पुरुषों को मिले हुए हैं;[१९] शिक्षा-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष श्री 'मेकेंजी' के इस कथन से वे सहमत नहीं थे कि कुमारों और कुमारियों की शिक्षा में वही अन्तर होना चाहिए जो उनके जीवन में है—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली उन्हें माता और गृहणी बनने योग्य नहीं बनाती।"[२०]

तत्कालीन विचारकों में नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में गान्धी जी के विचार प्रेमचन्द से भिन्न थे। वे यह आवश्यक नहीं मानते कि स्त्री-पुरुष दोनों की शिक्षा-प्रणाली प्रत्येक स्तर पर समान हो। प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर पाठ्यक्रम की समानता हो सकती है, किन्तु माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के स्तरों पर स्त्रियों के कार्य-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर उसमें आवश्यक परिवर्तन कर दिये जाने चाहिए।[२१] इस सम्बन्ध में 'नेहरू जी' ने यह मत प्रकट किया था—महिलाओं को केवल वैवाहिक जीवन के लिये क्यों तैयार किया जाय, उन्हें जब तक आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त होगी उस वक्त तक पति-पत्नी में साम्यवाद न उत्पन्न होगा।[२२] प्रेमचन्द ने न केवल इसका समर्थन किया, अपितु वे यह भी मानते हैं कि "स्त्री घर में जो काम करती है वह उनकी (पुरुषों की) कमाई से कई गुना ज्यादा महत्व की चीज है।"[२३]

आर्थिक स्वावलम्बन की इस पृष्ठभूमि में ही प्रेमचन्द ने स्त्री-शिक्षा के महत्त्व पर अपने उपन्यासों में भी बल दिया है। 'गबन' में उन्होंने इन्द्रभूषण से कहलवाया है—"जब तक स्त्रियों की शिक्षा का काफी प्रचार न होगा, हमारा कभी उद्धार न होगा।"[२४] 'गोदान' में वीमेंसलीग में अपने भाषण में प्रो० मेहता ने भी स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया है।"[२५]

भारतीय नारी का जितना शोषण विधवा–प्रथा के कारण हुआ उतना सम्भवतः किसी अन्य कुप्रथा के कारण नहीं। बाल-विवाह के प्रचलन के कारण अनेक स्त्रियाँ युवावस्था में ही विधवा हो जाती थीं और उन्हें आजीवन अपमान और प्रतारणा का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। विधवा का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहता था और वह गृहस्वामिनी से गृहविहीन दासी बन जाती थी। इस सम्बन्ध में कुछ अनुकरणीय आदर्श भी प्रस्तुत हुये। जब डॉ० कर्वे की पत्नी की मृत्यु हुई तब सबके विरोध के बावजूद उन्होंने गोंदूबाई नामक बाल-विधवा से दूसरा विवाह करके तथाकथित सभ्य हिन्दू समाज के सामने एक क्रान्तिकारी उदाहरण रखा।

आर्य समाज के सुधारवादी विचारों से प्रभावित प्रेमचन्द ने विधवाओं के जीवन को नष्ट करने वाली सामाजिक कुरीतियों का अपने साहित्य में अनेक स्थलों पर भण्डा-फोड़ किया है। विधवाओं की दुर्दशा को देखकर उनका हृदय पीड़ा से भर उठता है, अर्धांगिनी विधवा' शीर्षक निबन्धात्मक टिप्पणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[२६] विधवाओं की समस्या पर आर्य–समाज द्वारा अनेक महत्वपूर्ण निर्णय किए गये। उदाहरणार्थ विवाह के लिये विधुर की अधिकतम आयु के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया कि विधुर का विवाह, विधवा के साथ ही हो और विवाह के समय विधुर की आयु चालीस वर्ष से अधिक न हो।[२७] प्रेमचन्द ने अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को 'निर्मला' उपन्यास में मानों इसी पृष्ठभूमि में अंकित किया है। विधवा स्त्री के निर्वाह के प्रश्न का उन्होंने 'गबन' में गहनता से विश्लेषण किया है।[२८]

दहेज-प्रथा की नारी-जाति को दयनीय अवस्था तक पहुँचाने में विशेष भूमिका रही है, बढ़ती हुई दहेज की माँग ने नारी के हितों को बहुत हानि पहुँचायी है, दहेज-प्रथा कोढ़ की तरह समाज में नीचे से ऊपर तक प्रेमचन्द-युग में फैली हुयी थी। इस कुरीति की कटु आलोचना प्रेमचन्द ने की है। इसकी बढ़ती हुई प्रवृत्ति से वे अत्यन्त पीड़ित थे, उनकी यह पीड़ा विक्षोभ के रूप में प्रकट हुइ है। 'निर्मला' में यह विक्षोभ अत्यन्त उग्र रूप में व्यक्त हुआ है। वे दहेज लेने और देने वाले दोनों को ही गोली मार देना चाहते हैं, दहेज-उन्मूलन के लिये सभा और सम्मेलनों में पारित प्रस्ताव की निरर्थकता की ओर संकेत करते हुए प्रेमचन्द ने ऐसे सम्मेलनों पर व्यंग्य किया। उनका निश्चित मत था कि बिना जन-जागृति के दहेज–समस्या का समाधान नहीं हो सकता जब तक लेन–देन समाज में घृणा की दृष्टि से न देखा जायगा और जनमत उसे जघन्य न समझने लगेगा तब तक यही दशा रहेगी।[29] प्रेमचन्द के उपर्युक्त सभी विचार एक ओर सामाजिक यथार्थ पर आधारित हैं तो दूसरी ओर उनके द्वारा प्रस्तावित समाधान सर्वथा व्यावहारिक हैं।

वेश्यावृत्ति एक ज्वलन्त समस्या थी उस युग की; सभी समाज-सुधारक इस समस्या से चिन्तित थे, प्रेमचन्द भी इस समस्या के प्रति जागरूक थे; अपनी रचनाओं में इसके कारणों का विश्लेषण कर समाधान प्रस्तुत किये। वे घर वालों को ही स्त्रियों को इस नरक में धकेलने का उत्तरदायी मानते हैं। उनके द्वारा अपना पेट भरने के लिये स्त्रियों का क्रय-विक्रय करने वाले लोगों को भी वे क्षमा नहीं करते, 'गोदान' में उनके द्वारा प्रस्तुत किया यह निष्कर्ष भी सत्य की सीधी अभिव्यक्ति है "दुनिया में जब तक दौलत वाले रहेंगें, वेश्याएँ भी रहेंगी।"[30]

प्रेमचन्द ने विवाह-विच्छेद को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के विरुद्ध माना है क्योंकि दाम्पत्य-जीवन का केन्द्र बिन्दु प्रेम है। 'सुहाग का शव' में यही भावना परिलक्षित होती है।[31] समाज में नारी पर किये जाने वाले अत्याचारों के प्रति प्रेमचन्द सतत जागरूक रहे। इस तथ्य से वे भली-भाँति परचित थे कि महिलायें किस प्रकार अपने स्वार्थी पति की पाशविक यातनाओं तथा परिवार की भर्त्सनाओं के कारण तिल–तिल कर जीवन काट रही हैं। इन समस्याओं से त्राण दिलाने के लिये वे तलाक व्यवस्था को उचित समझते थे; विवाह विच्छेद का सीधा सम्बन्ध नारी की अशिक्षा और उसके आर्थिक परावलम्बन से है। इसीलिये तलाक की आवश्यकता को स्वीकार करने पर भी इस समस्या का पूर्ण समाधान मान लेना भ्रान्ति होगी, इस सन्दर्भ में 'चाँद' के विविध विषय' स्तम्भ में प्रकाशित तलाक और हिन्दू-समाज शीर्षक टिप्पणी दृष्टव्य है–"पुरुषों के अत्याचार अथवा स्त्रियों की परतन्त्र अवस्था को दूर करना ही उसका (तलाक का) पवित्र उद्देश्य है, किन्तु वह तलाक के द्वारा सिद्ध न होकर स्त्रियों की शिक्षा व उन्नति की साधना से हो सकता है"।[32] उनकी दृष्टि समन्वयात्मक थी और उनका साध्य था—जनहित।

आज समस्त विश्व में सन्तति–निग्रह अथवा परिवार कल्याण की महत्ता सर्वविदित है। प्रेमचन्द युग–द्रष्टा थे, उन्होंने बढ़ती हुई जनसंख्या के दुष्परिणामों को समझा और सतति-निग्रह के प्रश्न को अपनी रचनाओं के माध्यम से उद्घोषित किया। भारत में बढ़ती

हुई गरीबी, परिवार की दीन-हीन दशा, माताओं के गिरते स्वास्थ्य और बच्चों की दुर्दशा को देखकर प्रेमचन्द बहुत दुखी थे। इस दुर्दशा से उबरने का केवल एक ही उपाय है—और वह है—संतति-निग्रह, किन्तु इसके लिये भी उन्होंने ब्रह्मचर्य का पक्ष लिया, सन्तान वृद्धि, और वह भी दरिद्र देश में, विडम्बना है लेकिन उसके प्रतिबन्ध के लिये कृतिम साधनों का प्रचार और भी बड़ी विडम्बना है, उसका मंगलमय उपाय केवल ब्रह्मचर्य है।[33] इस गम्भीर समस्या के प्रति भी प्रेमचन्द ने जनमानस में चेतना उत्पन्न की, समाज में व्याप्त परम्परागत भ्रान्त धारणाओं को दूर करके—परिवार कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रेमचन्द द्वारा साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण का समय सांस्कृतिक ऊहापोह का समय था, भारतीय जनता परम्पराओं के नाम पर रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और बाह्याडम्बरों का पालन कर रही थी जिनसे विमुख होकर शिक्षित-वर्ग पश्चिमी संस्कृति की ओर प्रवृत्त हो रहा था, देश में नवजागरण और समाज सुधार आन्दोलनों के प्रणेता भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिये प्रयत्न कर रहे थे, प्रेमचन्द यद्यपि भारतीय संस्कृति में प्रगाढ़ आस्था रखते थे, किन्तु जड़ परम्पराओं का पालन वे समाज के लिये वांछनीय नहीं मानते थे, उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी के अनुसार वे किसी भी जाति, देश, सभ्यता या संस्कृति से मिलने वाली अच्छाइयों को ग्रहण कर ऊपर उठने को बुरा नहीं समझते किन्तु जब वह देखते थे कि भारतीय लोग जो अनुकरण कर रहे हैं वह भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि वे खराबियों का नकल तो तुरन्त कर लेते हैं लेकिन अच्छाइयों की ओर ध्यान तक नहीं देते तो उन्हें अत्यधिक कष्ट का अनुभव होता है।[34]

प्रेमचन्द की आस्था भारतीय संस्कृति के प्रति प्रारम्भ से लेकर अन्तिम क्षणों तक रही। भारतीय संस्कृति की महानता प्रेमचन्द के शब्दों में—हमारे देश की संस्कृति कर्तव्य-प्रधान, धर्म-प्रधान, परमार्थ-प्रधान, अहिंसा-प्रधान, व्रत और नियम-प्रधान संस्कृति है उसमें व्यक्ति और समष्टि के सामञ्जस्य का ऐसा विधान है कि एक दूसरे का शत्रु न होकर सहायक बनी रहें।

मनुष्य एक चेतन प्राणी है यन्त्र नहीं, वस्तुतः मानव कर्म के साथ ही आनन्द या सुख-प्राप्ति की आकाँक्षा भी करता है प्रेमचन्द इसी प्रवृत्ति-युक्त-निवृत्ति के समर्थक थे, इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण—

"कर्म मनुष्य के लिये स्वाभाविक क्रिया है आखें हैं तो देखेगा, पाँव है चलेगा, पेट है तो खायेगा। कर्म के पूर्ण विनाश की तो कल्पना नहीं की जा सकती मौन रहना भी कर्म है, सोचना भी कर्म है, नित्य कर्म हो या निमित्त कर्म आप कर्म के फन्दे से निकल नहीं सकते फिर कर्म सदैव बन्धन ही क्यों हो उससे परमार्थ भी तो किया जा सकता है, सेवा भी तो की जा सकती है। तत्व यह निकला कि स्वार्थ भाव से कोई कर्म न किया जाय वरन् जितने कर्म हो यथार्थ भाव से निष्काम-भाव से ही किये जाँय।[35] इस दृष्टिकोण में जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टि प्रमाणित होती है।

संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय संस्कृति एव सभ्यता की एक ऐसी विशेषता है जो विश्व की अन्य किसी भी संस्कृति व सभ्यता में इतने सफल एवं मर्यादित रूप में देखने को नहीं मिली। संयुक्त परिवार प्रणाली के प्रेमचन्द प्रबल समर्थक थे, विघटित होते हुए संयुक्त परिवारों की स्थिति के विषय में उनका यह मन्तव्य है—"हमारी सभ्यता का सम्मिलित परिवार एक प्रधान अंग था, पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ—केवल स्त्री और पुरुष। दोनों में भलाई और बुराई दोनों हैं पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है वहाँ दूसरे में स्वार्थ और संकीर्णता।"[36] सिद्धान्त और व्यवहार दोनों स्तर पर प्रेमचन्द संयुक्त परिवार को भारतीय समाज की महत्वपूर्ण इकाई मानते थे।

उत्सव के प्रति आस्था भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। अपने साहित्य में उत्सवों के महत्व को स्पष्ट करके भारतीय जन–जीवन में उनकी सार्थकता सिद्ध की है; हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य उन दिनों जोरों पर था, हिन्दुओं के त्यौहार होते थे, तब मुसलमान दंगे करते थे और जब मुसलमानों के त्यौहार हाते थे तो हिन्दू दंगे करते थे। पारस्परिक सद्भावना की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका मत था—"इससे तो कहीं अच्छा होता कि त्यौहार ही बन्द हो जाते; त्यौहार होता है इसलिये कि लोग एक दो दिन कुलफ़तों को भूल जायं और आपस में प्रेम से गले मिलें, यहाँ त्यौहारों म खून बहाया जाता है"।[37]

पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण और भारतीय युवकों की मानसिक दासता का चित्रण प्रेमचन्द ने अनेकशः किया है। अपनी संस्कृति और सभ्यता की अवमानना की बढ़ती प्रवृत्ति की भर्त्सना उनके इन शब्दों में, "हमारे राजनैतिक सिद्धान्त हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार सब हमारे कल्चर के अंग हैं पर आज हम कितनी बेकद्री से उसी कल्चर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये कि हममें शिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं और उनमें शिर से पाँव तक गुण ही गुण हैं इस अन्धभक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष"।[38]

शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायक है और इससे समाज और संस्कृति की प्रगति होती है यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन-भर चलती रहती है पर जीवन के प्रत्येक अनुभव से इसमें वृद्धि होती है। अंग्रेजों ने अपने शासन काल में यद्यपि शिक्षा–प्रसार के क्षेत्र में बहुत कुछ कार्य किया लेकिन शिक्षा अपने मूल उद्देश्यों से भटक गयी। तत्कालीन शिक्षा पद्धति का प्रेमचन्द के शब्दों में विश्लेषण द्रष्टव्य हैं—

"अंग्रेजी राज्य में नये–नये विद्यालय खुले मगर उनका आदर्श और उद्देश्य कुछ और था, वह दफ्तरी शासन का एक–विभाग मात्र था जिसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं–दफ्तरों के लिये कर्मचारियों का निर्माण था–वहाँ की पुस्तकों पर शिक्षा विधि पर अंग्रेजी राज्य की छाप थी, छात्रों के आत्मसम्मान को कुचला जाता था।[39] प्रेमचन्द की यह मान्यता थी कि केवल पुस्तकीय ज्ञान से व्यक्ति का समुचित विकास सम्भव नहीं बौद्धिक विकास के साथ ही शारीरिक और मानसिक विकास भी अनिवार्य है।

धर्म के नाम पर होने वाला मिथ्याचार बाह्याडम्बर और शोषण उस समय पराकाष्ठा पर था। पुजारी, पंडे और मुल्ला भोली भाली जनता का दिन दहाड़े शोषण करते थे। प्रेमचन्द से यह अत्याचार देखा न गया। उन्होंने धर्म की आड़ में होने वाले शोषण के विरुद्ध जनमत तैयार करने के उद्देश्य से अपने विचारों को इन शब्दों में प्रकट किया—'हिन्दू समाज के परम पवित्र और माननीय मन्दिरों की ओर दृष्टिपात करने से हृदय काँप उठता है। वहाँ आज दुराचार, पापाचार, भ्रष्टता तथा दुष्कृत्यों का केन्द्र देख कर आत्मा रो उठती है।'[४०]

अस्पृश्यता हिन्दू समाज में एक कलंक की तरह है जिसका आधार वर्ण व्यवस्था है। इसकी व्यवस्था आरम्भ में चाहे कितने ही अच्छे उद्देश्य को लेकर की गई हो धीरे-धीरे इसका स्वरूप विकृत होता गया और कालान्तर में इसके कारण हिन्दू समाज का पतन हुआ। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण इस सम्बध में—हमारा कर्तव्य तभी पूरा होगा जब हम देश के वर्तमान वर्ण व्यवस्था को जड़ मूल से नष्ट कर देगें।[४१]

प्रेमचन्द ने अस्पृश्यता के विरुद्ध समाज सुधारकों द्वारा आरम्भ किए गये अभियान को बल प्रदान करने में महती भूमिका निभायी। अपनी कृतियों के माध्यम से जन में छुआ-छूत की समस्या के प्रति चेतना उत्पन्न करने में उनका योगदान निश्चय ही सराहनीय है।

प्रेमचन्द का दृष्टिकोण व्यष्टि–प्रधान न होकर समष्टि प्रधान था। वे सामाजिक हित को सर्वोपरि मानते थे। समाज के निम्न से निम्न वर्ग के प्रति उनकी चिन्ता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वे समन्वयवादी लेखक थे। वे नवीन और प्राचीन, भौतिकता और आध्यात्मिकता, शोषक और शोषित, पश्चिमी व पूर्वी सभ्यता तथा स्वार्थ और परमार्थ के बीच समन्वय चाहते थे। पत्रकार के रूप में उन्हें सामाजिक समस्याओं से प्रतिदिन जूझना पड़ता था। इस प्रक्रिया में वे जो कुछ सोचते और लिखते थे, उसे ही अपनी कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से अभिव्यक्त करते थे। उनमें सच्ची सामाजिक चेतना थी।

सहायक ग्रन्थ—

1. कुछ विचार, पृ० 7—8
2. प्रेमचन्द घर में, शिवरानी देवी, पृ० 128
3. विविध प्रसंग (खण्ड 2), कांग्रेस, पृ० 74
4. मान सरोवर (भाग 7), पृ० 14
5. रंग भूमि, पृ० 393
6. विविध प्रसंग (खण्ड 2) आजादी की लड़ाई (पृ० 748)
7. मान सरोवर (भाग 1),
8. मेरा धर्म, महात्मा गान्धी—1960 ई०, नव जीवन प्रकाशन अहमदाबाद।
9. सम्पूर्ण गान्धी वाङमय (खण्ड 58) महात्मा गान्धी, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, नई दिल्ली।

10. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक: डा० नगेन्द्र तथा डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, 1973 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
11. विविध प्रसंग (खण्ड 2), पृ० 486
12. गोदान, पृ० 27—28
13. गोदान, पृ० 24
14. विविध प्रसंग (खण्ड 2) बम्बई में मजदूरों की हड़ताल, पृ० 511
15. प्रेमोपहार, पृ० 365—66
16. हिन्दी के कलाकार, पृ० 366
17. विविध प्रसंग (खण्ड 3), पृ० 249
18. गवन, प्रेमचन्द, पृ० 262
19. प्रेमचन्द घर में, शिवरानी देवी, पृ० 113
20. विविध प्रसंग (खण्ड 3), पृ० 266
21. श्री सीताराम सेकसरिया अभिनन्दन ग्रन्थ, डा० कैलाश चन्द्र भाटिया का स्त्री शिक्षा और गान्धी जी' शीर्षक लेख, पृ० 487
22. विविध प्रसंग (खण्ड 31), पृ० 266
23. " " , पृ० 266
24. गबन, प्रेमचन्द, पृ० 103
25. गोदान, प्रेमचन्द, पृ० 165
26. विविध प्रसंग, खण्ड 3, पृ० 262
27. आर्य समाज का इतिहास (भाग 2), इन्द्र विद्या वाचस्पति, पृ० 139
28. गवन, पृ० 262–63
29. विविध प्रसंग, खण्ड 3, पृ० 266
30. गोदान, प्रेमचन्द, 426
31. मान सरोवर (भाग 5), पृ० 228
32. चाँद, सम्पादक : रायराव सिंह सहगल, जनवरी, 1925, पृ० 316
33. विविध प्रसंग, पृ० 251
34. प्रेमचन्द घर में, पृ० 165
35. विविध प्रसंग (खण्ड 3), श्री कृष्ण और भावी जगत, पृ० 142
36. विविध प्रसंग, मानसिक पराधीनता, पृ० 193
37. विविध प्रसंग, 239
38. विविध प्रसंग (खण्ड 3), मानसिक पराधीनता, पृ० 189
39. विविध प्रसंग (खण्ड 3), स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली
40. विविध प्रसंग (खण्ड 3), पृ० 160
41. विविध प्रसंग (खण्ड 2), हमारा कर्तव्य, पृ० 441

रंगभूमि का प्रेरणा स्रोत : सूरदास

विजय बहादुर सिंह *

प्रेमचन्द के रंगभूमि उपन्यास का नायक सूरदास है। वह सत्य व अहिंसा का पुजारी और सत्याग्रही के रूप में चित्रित किया गया है। प्रेमचन्द गान्धी जी के सत्याग्रह से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने बाहर से दीन-हीन सम्पत्ति हीन, अधिकारहीन यहाँ तक नेत्रहीन किन्तु भीतर से सत्य और अहिंसा के पुजारी आत्मशक्ति के प्रेरक भिखारी को रंगभूमि का नायक बनाया। कमलेश्वर का कथन है कि—स्वयं वह साम्प्रदायिकता, सहिष्णुता और समझदारी के पक्ष में बराबर लिखते रहे। इसका सबसे बड़ा सबूत रंगभूमि का सूरदास है जो कि प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का समर्थ प्रतीक है। सूरदास का कोई धर्म नहीं है, केवल एक जीवन दर्शन है, जिसमें सब कुछ समाहित है और जिसकी आधार शिला है—मानवता। प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है—

रंगभूमि का बीजांकुर हमें एक अंधे से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। (प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, पृ० 66)

डॉ० रणवीर रांग्रा ने सूरदास के चरित्र विकास की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "प्रेमचन्द की सहानुभूति या घृणा समूची जाति अथवा वर्ग के प्रति रही है वे किसी को उसके जातीय वर्गीय गुणों तथा अवगुणों को अपवाद नहीं मानते थे, समाज या वर्ग से अलग व्यक्ति की सत्ता नहीं मानते थे.......... ...सूरदास को अन्धे भिखमंगे के वर्ग में घसीट कर प्रेमचन्द ने उसके प्रति अन्याय किया है....................वह भिखारी होते हुए भी अपने वर्ग का अपवाद ठहरता है।"

इस आलोचना का आधार यह है कि प्रेमचन्द ने केवल वर्ग चरित्रों की सृष्टि की है व्यक्ति चरित्रों को नहीं। यह प्रेमचन्द की चरित्र-सृष्टि को एक सामान्यीकृत कथन के आधार पर विवेचित करने का कार्य है। सूरदास एक वर्ग विशेष का होते हुए भी उस वर्ग से थोड़ा भिन्न ठहरता है। एक ओर वह अपने वर्ग से जुड़ा हुआ है दूसरी ओर उसकी अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। गान्धी जी के पारस व्यक्तित्व के कारण देश में अनन्त संभावनाओं का जन्म हो रहा था। स्त्री पुरुष अपना वर्ग चरित्र छोड कर उनके साथ हो लिये थे। इनमें सभी वर्गों के लोग थे। ऐसी स्थिति में भिखारी वर्ग में होते हुए भी सूरदास अपने भीतर उन गुणों को विकसित कर लेता है जो रंगभूमि में हमें देखने को मिलता है। इसे किसी प्रकार अतिरंजित, अस्वाभाविक या अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्द ने सूरदास की मूल कल्पना को यथार्थ जीवन से ग्रहण किया था। वह मात्र-कल्पना की उपज नहीं है बल्कि यथार्थ जीवन से अनुप्राणित है।

---

* शोध छात्र ,हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सूरदास के लिए यह संसार रंगभूमि है। रंगभूमि की मुख्य कथा ही इस अन्धे भिखारी को लेकर रची गयी है। वह अपनी झोपड़ी व जमीन के लिए जिन्दगी भर लड़ता है। उसकी जमीन पर पूँजीपति मि० जानसेवक सिगरेट का कारखाना बनाना चाहते हैं, जिस जमीन पर गाँव के जानवर चरते हैं, साथ ही सूरदास उसे अपने पूर्वजों की यादगार भी समझता है। वह उसे अपनी यादगार के रूप में छोड़ जाना चाहता है। उस जमीन पर कुआँ, धर्मशाला या मन्दिर बनवाकर जानसेवक उसे बहुत बड़ी कीमत देने को तैयार हैं, पर वह किसी भी हालत में जमीन बेचना नहीं चाहता। जमीन जबरदस्ती ले ली जाती है, साथ ही कारखाने के मजदूरों को रहने के लिए वह मुहल्ला भी गरीब ग्रामीणों से खाली करवाया जाता है। सूरदास जीवन पर्यन्त संघर्ष करता है। इसी में उसकी मौत हो जाती है लेकिन अपने जीते जी वह झोपड़ी देने को तैयार नहीं होता। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार—वह एक सच्चा सत्याग्रही है और उसका चरित्र 1920 से 22 के राजनैतिक आन्दोलनों के असहयोगी का है। सूरदास की कथा गाँवों के औद्योगीकरण के विरुद्ध एक चुनौती है………………सूरदास की कहानी यथार्थ से पूर्ण है। नायक भयंकर विपदाओं से लड़कर अनेक लड़ाइयाँ जीतता है।

सूरदास अपनी जमीन नहीं बेचना चाहता। उससे कहा जाता है कि—इससे लोगों का हित होगा तो वह कहता है—मुहल्ले भर की गौएँ चरती हैं, क्या इससे पुन्न नहीं होता ? गऊ की सेवा से बढ़कर कौन सा पुन्न का काम है। सभी कहते हैं साहब जमीन लेगें जरूर चाहे खुशी से दो चाहे रोकर तब सूरदास गर्वोन्मत्त होकर कहता है—खां साहब अगर जमीन जायेगी तो उसके साथ मेरी जान भी जायेगी !…… ……जमीन न बेचने के पीछे उसकी मुख्य अभिलाषा अपना नाम बनाये रखने की है, वह सोचता है कभी तो उस पर लक्ष्मी प्रसन्न हो सकती है। वहाँ वह एक कुआ और मन्दिर बनवाना चाहता है। जो मरने के बाद उसकी निशानी होगी। राजा महेन्द्र सिंह सूरदास से कहते हैं—जमीन बेचने से तुम्हें व जनता दोनों को बहुत लाभ होगा। सूरदास द्वारा प्रेमचन्द औद्योगीकीकरण के दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हैं – राजा साहब ठीक कहते है, इससे मुहल्ले की और रौनक बढ़ जायेगी, लोगों को रोजगार मिलेगा, लेकिन साथ ही शराब का भी प्रचार होगा, दूसरे आदमी हमारे बहू-बेटियों को घूरेगें, कितना अधर्म होगा, किसान मजदूर लालच में देहात छोड़कर भागेंगे और बुरी-बुरी आदतें सीखेगें, गाँवों की लड़कियाँ-बहुयें मजूरी के लिए आयेगीं और अपना धरम बिगाड़ेगीं।

सूरदास सभी की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहता है। भैरो अपनी पत्नी सुभागी पर बहुत अत्याचार करता है तो सूरदास उसे आश्रय दे देता है। प्रतिशोध की भावना से वह सूरदास की झोपड़ी में आग लगा देता है। सूरदास को अपनी झोपड़ी जल जाने का दुःख नहीं था। दुःख था उसे जीवन भर की कमाई का जो उसके जीवन की आशाओं का आधार थी। वह बहुत दुःखी होता है। हाय ? पाँच सौ रुपये थे। जगधर सूरदास से कहता है—वह थैली किसकी है जो भैरो के पास है; सूरदास कहता है—"मेरे पास थैली वैली कहाँ ? होगी किसी की। थैली होती तो भीख माँगता ?"

सूरदास में जीवन के प्रति अगाध विश्वास के साथ आत्म विश्वास व धैर्य भी है। झोपड़ी जल जाने पर उसका भतीजा मिठुआ उससे पूछता है—

मिठुआ—दादा, अब हम रहेगें कहाँ ?
सूरदास—दूसरा घर बनायेगें ?
मिठुआ—और कोई फिर आग लगा दे ?
सूरदास—तो फिर बनायेगें ?
मिठुआ—और कोई हजार बार लगा दे ?
सूरदास—तो हम हजार बार बनायेगें ?

डॉ० राम विलास शर्मा कहते हैं—उसके जवाब में चरित्र की दृढ़ता छिपी है। सूरदास हिन्दुस्तान के उन किसानों में हैं जिनमें रचने की, निर्माण करने की तीव्र आकांक्षा है। उनकी बनाई हुई चीजें लाखों बार बरबाद कर दो वे नये निर्माण के लिए फिर कमर कस कर तैयार हो जाते हैं।

सूरदास के चरित्र और उसकी महत्ता को लेकर हिन्दी समीक्षकों में एक विवाद सा उठ खड़ा हुआ है। एक ओर ऐसे समीक्षक और पाठक हैं जो उससे अत्यधिक प्रभावित हैं, उसे प्रेमचन्द की सर्वोत्तम पुरुष सृष्टि मानते हैं। दूसरी ओर ऐसे पाठक और समीक्षक भी हैं जो उसके चरित्र को दुर्बल और राष्ट्रीय संदर्भों में अनुपयोगी समझते हैं। डॉ० शान्ति स्वरूप गुप्त का कथन है–हमे सूरदास के रूप में भारतीय संस्कृति का मूर्तिमान् रूप आत्म-शक्ति का प्रतीक दुर्बल शरीर में आत्मा का भास्वर शक्ति छिपाये, सिद्धान्तों पर मर मिटने वाला, अद्‌भुत होते हुए भी सामान्य व्यक्ति के दर्शन होते हैं।

हरिभाऊ उपाध्याय के विचार से रंगभूमि का सूरदास मेरे हृदय में बैठ गया है। मुझे ऐसा लगता है वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुंजी लेकर आया हो, उसे पाकर ऐसा लगता है, मानो कोई खोई हुई चीज मिल गई है, मैंने उनका कर्मभूमि और गोदान पढ़ा। परन्तु दोनों रंगभूमि की होड़ में नहीं जँचे 'गोदान' मैंने उनकी अन्तिम कृति को योग्य आदर से पढ़ा। पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु न मिली जो रंगभूमि में मिलती थी। रंगभूमि में एक गरीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण जागृति और आन्दोलन को खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है इसका वह नमूना था। गोदान में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता।

मन्मथनाथ गुप्त ने सूरदास के चरित्र की अनेक त्रुटियों को ओर सकेत किया है। उनका आरोप है कि उसका चरित्र धीरोदात्त नायक का चरित्र नहीं है। इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि वह धीरोदात्त नहीं है तो अन्धा ही है। वास्तव में उपन्यास के पात्र का धीरोदात्त होना, न होना कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। अगर सूरदास धीरोदात्त पात्र नहीं है तो इससे उसका महत्व कम नहीं होता। धीरोदात्त न होने के कारण ही उसका चरित्र इतना प्रभावी व विश्वसनीय बन सका है।

सूरदास के चरित्र पर प्रो० रामदीन गुप्त का आरोप है–खेल की उपमा देकर सूरदास जीवन की गम्भीरतम जीवन की समस्याओं का महत्व कम करता है। एक थे रवीन्द्रनाथ जो विश्वपरिवार के तट पर मानवता को खेलता हुआ दिखा कर समस्त मानव जाति को महत्व पर घड़ोपानी डाल गये। प्रेमचन्द में संजीदगी का एकदम अभाव था। हर वक्त उन्हें खेलने की सूझती थी।

सूरदास के चरित्र पर प्रमुख रूप से तीन आरोप लगाये गये हैं–

1 सूरदास का चरित्र दुर्बल और अनुपयोगी है उसकी कार्यविधि किसी समस्या को नहीं सुलझा सकती।
2 उसका चरित्र धीरोदात्त नायक का चरित्र नहीं है।
3 उसने सम्पूर्ण संघर्ष को खेल का रूप दे कर संघर्ष की संजीदगी को खत्म कर दिया।

प्रेमचन्द रंगभूमि के माध्यम से देश की समस्या का हल प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं बल्कि ऐसी कथा प्रस्तुत कर रहे हैं जिसकी परिकल्पना उन्होंने गांधीवाद युग में की है। सूरदास के चरित्र की परीक्षा स्वाभाविक है या नहीं ? उसका चरित्र विकास उसके संस्कारों के अनुकूल है या नहीं ? सूरदास की सृष्टि तक कदाचित प्रेमचन्द के दिमाग में गांधीवाद का पूरा दर्शन स्पष्ट नहीं हो सका था। यह भी हो सकता है कि गांधी जी स्वयं प्रयोग करने में विश्वास करते थे।

होरी से सूरदास के चरित्र की तुलना में हरिभाऊ उपाध्याय की टिप्पणी है कि सूरदास की अपेक्षा होरी की चरित्र सृष्टि अधिक प्रौढ़ और परिपक्व है। पराजित दोनों ही होते हैं। होरी भी और सूरदास भी। लेकिन होरी की पराजय में वह नाटक नहीं है जो सूरदास की पराजय में है। इसीलिये दोनों ही उपन्यास दुःखान्त होने पर भी होरी का अन्त और उसकी पराजय हमें अधिक पराजित करती है। सूरदास की मौत हमें खलती है, लेकिन होरी की मौत हमें भीतर तक झकझोर देती है। हमारे आँसू तो रुके रहते हैं लेकिन हमारे भीतर बहुत कुछ टूट जाता है। लेकिन जो अधिक भावुक पाठक हैं वे होरी की अपेक्षा सूरदास के चरित्र से प्रभावित होंगे। इस प्रकार होरी के बावजूद सूरदास का अपना महत्व है और एक अर्थ में वह प्रेमचन्द की अनोखी चरित्र सृष्टि है। सूरदास की अत्यन्त आलोचना करने के बावजूद प्रो० रामदीन गुप्त इसकी प्रशसा के किए बिना नहीं रह पाते। उपन्यास के क्षेत्र में सूरदास जैसा जीवट वाला और संघर्षशील चरित्र शायद समूचे हिन्दी कथा साहित्य में दूसरा नहीं मिलेगा।

सूरदास का मूल्यांकन करते समय उसके सृष्टि के उद्देश्य एवं उसकी तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टि में रखे बिना जो निष्कर्ष निकाले जायेंगे वे न तो चरित्र के प्रति न्याय कर सकेंगे और न तो चरित्र स्रष्टा के प्रति ही। प्रेमचन्द की मानसिकता का निर्माण करने वाली परिस्थितियाँ जागरूक पाठक एवं सुधी समीक्षक से छिपी नहीं हैं।

———

प्रेमचन्द की रचनाओं में साम्यवाद और गाँधीवाद का प्रभाव

राम प्रवेश पाठक *

प्रेमचन्द की समूची रचनाओं का लक्ष्य एक शोषण-विहीन समतापूर्ण समाज की स्थापना करना है। उनकी साम्राज्यवाद, पूंजीवाद तथा राष्ट्रवाद विरोधी सोच राष्ट्र की उन प्रगतिशील चेतनाओं का मूर्तरूप है, जिन्होंने वर्तमान विषमतापूर्ण समाज से सामाजिक कुरीतियाँ, सड़ी–गली प्रथाओं, साम्प्रदायिक भावनाओं तथा गहरी आर्थिक असमानताओं को उखाड़ फेंकने का भगीरथ प्रयास किया। एक प्रगतिशील साहित्यकार अपनी रचनाओं में विद्रोह की अन्त.शक्ति निहित करता है। यही शक्ति मानव-स्वांतन्त्र्य की मूल उत्प्रेरक होती है। क्रान्ति शून्य निर्जीव रचना शासक एवं विरोधी दोनों दलों की उपेक्षा का पात्र है। प्रेमचन्द साहित्य में राजनीतिक चित्रण को महत्वपूर्ण मानते थे। इस रूप में वे साहित्यकार को आन्दोलनकारी से कम स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार साहित्य, समाज और राजनीति में अटूट सम्बन्ध है। साहित्य राजनीति का पथप्रदर्शक है। यह उसके पीछे चलने वाली चीज नहीं वरन् आगे–आगे चलने वाला 'एडवाँस गार्ड' है। यह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति और कुरुचि से उत्पन्न होता है।[1]

उक्त भावों से प्रेरित मुंशी प्रेमचन्द तत्कालीन विकृत समाज की कुरीतियों पर कुठाराघात करते हैं। केवल किसान मजदूर की समस्या ही नहीं वरन् अछूतोद्धार, नारी-जागरण साम्प्रदायिक–सद्भाव, अन्तर्राष्ट्रीय सह–अस्तित्व, कौमी व भाषायी एकता सभी सवालों पर प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि झाँकती है। मानव समाज की गर्हित मान्यताओं को मुंशी प्रेमचन्द वड़े दूर तक टटोलते हैं तथा उनमें छिपी दुर्व्यवस्थाओं का नग्न चित्र समाज के सामने रखते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द समसामयिक समाज को नवयुग की नयी मूल्य दृष्टि देते हैं, जिसमें मानव की साफ–साफ तस्वीर दिखायी है। उनकी रचनाओं में आधुनिक मानवता की पहचान करने वाला बुनियादी मूल्य 'संघर्ष' नहीं वरन् 'संवेदना' है, जो आद्यान्त प्रेरणास्पद बनी रहती है।

आर्थिक दृष्टि कोण से सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सर्वप्रथम मार्क्स द्वारा की गयी। समाज विज्ञान के लिए यह सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक सामाजिक परिवर्तन को आर्थिक दशाओं के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, पर मार्क्स आर्थिक कारकों को सामाजिक परिवर्तन का मूलाधार बताता है। इस ध्येय से साम्यवाद समाज में अर्थ के समान वितरण को महत्व देकर सामाजिक परिवर्तन का नया स्वरूप प्रस्तुत करता है।

1–प्रेमचन्द : कुछ विचार, पृ० 74।

* शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्याल

भारत में मार्क्सवादी दर्शन का सूत्रपात लगभग 20 वीं शताब्दी के दूसरे दशक के अन्तिम चरण में हुआ। यह युग स्वाधीनता संग्राम का युग था। मार्क्सवादी-समाजवादी विचार-धारा के पनपने का यह स्वर्णिम अवसर था। इस कार्य में अनेक कारण सहायक हुए। यथा-अक्टूबर 1917 की रूसी–क्रान्ति, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत विकसित समाजवादी प्रवृत्तियाँ, भारतीय कम्युनिस्ट तथा किसान–मजदूर पार्टियों का साम्राज्यवाद व पूँजीवाद विरोध आदि। 0 वीं श० के प्रारम्भिक चरण के अन्तिम दिनों में घटने वाली राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने राजनैतिक व्यवस्था को काफी बदल दिया। राजनैतिक दृष्टि से गान्धीयुग होते हुए भी इस समय मार्क्सवादी–समाजवादी विचारों का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रेमचन्द भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि 'मैं अब करीब–करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो चुका हूँ'[1] 'घीसू' और 'माधव' की पीड़ा झेलने वाले विद्रोही प्रेमचन्द ने अपने एक पत्र में लिखा 'मैं ऐसे महान आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता, जो धन–सम्पत्ति में डूबा हो। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ, उसकी कला और ज्ञान की सब बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं। मुझको ऐसा लगने लगता है कि इस आदमी ने वर्तमान समाज–व्यवस्था को जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है, स्वीकार कर लिया है।[2] 'साम्यवाद का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं कि' साम्यवाद का विरोध वही तो करता है, जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर समझता है, जो अपने में कोई सुर्खाव का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है; उसे साम्यवाद से विरोध क्यों होने लगा ?"[3]

साम्यवादी विचारों के अनुरूप प्रेमचन्द किसान–मजदूर की सारी समस्याओं के मूल में व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वामित्व देखते हैं। उनके मत में जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता।[4] मजदूरों का काम घटाने, जमीदारों एवं पूँजीपतियों के अधिकार घटाने, बेकारों को गुजारा देने, मजदूरों एवं किसानों के स्वत्वों को बढ़ाने तथा सिक्के का मूल्य घटाने से कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। इस तरह के चाहे जितने भी सुधार किये जाँय, लेकिन यह जीर्ण दीवार इनकी टीप–टाप से नहीं टिक सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।

गाँधीवाद में समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद और सार्वलौकिकवाद के मुख्य सिद्धान्तों में समन्वय का प्रयत्न किया गया है। गाँधीवादी दर्शन का केन्द्र मुख्यतः भारतीय है, पर परिधि विश्वजनीन है।[5] मार्क्सवाद को केवल राजनैतिक या आर्थिक सिद्धान्तों का

1–जागरण, 28 जनवरी, 1934।

2–बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा गया पत्र, 1 दिसम्बर, 1935।

3–1919 में दयानारायण निगम को लिखा गया पत्र (अमृतराय–कलम का सिपाही पृ० 202)।

4–देखिए–राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, जागरण 26 नवम्बर, 1933।

5–गान्धी और गान्धीवाद, डा० पट्टाभिसीता रमैय्या, पृ० 28।

पुलिन्दा मात्र समझना एक भूल होगी । वस्तुतः मार्क्सवादी विचारधारा एक दृष्टि है, जिससे इस जगत के सामाजिक जीवन का इतिहास परखा जा सकता है । मार्क्सवाद की दृष्टि इतिहास के उस सुदूर प्रदेश के क्षितिज तक फैली है जहाँ मानव समाज को अनिवार्यतः जाना ही है । यही है मार्क्स का आर्थिक–नियतिवाद (Economic Determinism) गाँधी अपने दर्शन में सर्वप्रथम मनुष्य को बदलते हैं । उसे पूर्ण नैतिक एवं स्वावलम्बी बनाते हैं । नये समाज का निर्माण गाँधी की दृष्टि में उनका 'नया मानव' ही करेगा । मनुष्य के साथ–साथ समाज खुद बदल जायेगा । जैसा साधन वैसा ही साध्य भी होगा । इस प्रकार गाँधी समाज का एक नया आधार उपस्थित करते हैं । आज की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की जड़ में वह केन्द्रीकरण की उस प्रवृत्ति को उत्तरदायी मानते हैं, जिसका विकास उत्पादन की यांत्रिक प्रणाली द्वारा हुआ । मार्क्सवाद यद्यपि आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि को ही आदर्श मानता है, तथापि वह उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली और केन्द्रित साधन को बनाये रखना चाहता है । यहाँ गाँधी, मार्क्स को पीछे छोड़ देते हैं । गाँधी के अनुसार उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण किये बिना मानव समाज की समस्यायें हल नहीं होंगी । ऐसा करने के लिए उत्पादन के साधनों को प्रत्यक्षत. उत्पादक के अधिकार में देना होगा । गाँधी जी अपने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त द्वारा अमीर–गरीब के बीच की दूरी कम करना चाहते थे । इसी प्रक्रिया से एक साम्ययोगी समाज का निर्माण सम्भव था । स्पष्ट है कि गाँधी ने मार्क्सवाद को हिंसा रहित बनाने का प्रयत्न किया ।[1] इस प्रकार गाँधी और मार्क्स के विचारों में मतभेद का मूल कारण उद्देश्यों को लेकर नहीं, वरन उन्हें प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में था ।

प्रेमचन्द को गाँधीवाद का अनुयायी मात्र मान लेना ठीक नहीं । गाँधी के सक्रिय राजनीति में आने के पहले प्रेमचन्द की रचनायें समाजवादी रुख की ओर अग्रसर थीं । शायद इसीलिए कुछ लोगों की दृष्टि में 'प्रेमचन्द गाँधी से पहले गाँधीवादी' थे । 'प्रेमाश्रम' में 'बलराज' द्वारा समाजवादी क्रान्ति की जिक्र इस ओर स्पष्ट संकेत करती है । शिवरानी देवी द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या आप भी गाँधी के चेले हो गये हैं ? प्रेमचन्द ने उत्तर दिया कि चेला बनने का मतलब किसी की पूजा करना नहीं, उसके गुणों को अपनाना होता है । मैंने उन्हें अपनाकर ही तो 'प्रेमाश्रम' लिखा जो सन् 1922 में छपा है । यह दलील की बात नहीं । वह भी मजदूरों-किसानों की भलाई के लिए आन्दोलन चला रहे हैं और मैं भी कलम से यही कुछ कर रहा हूँ ।[2] 'प्रेमाश्रम' हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है जिसमें तत्कालीन जमींदारी प्रथा के विरुद्ध संघर्ष का चित्रण है ।[3] 1928 में शिवरानी देवी से बातचीत के दौरान प्रेमचन्द खुलकर मजदूर काश्तकारों के राज्य की बात करते हैं और इस सम्बन्ध में रूस की समाजवादी व्यवस्था का हवाला देते हैं ।

---

1 देखिए–एम० के० गांधी, कम्यूनिज्म एन्ड कम्यूनिस्ट्स, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1959, पृ० 4 तथा तेन्दुलकर, महात्मा, खण्ड 3, पृ० 135 ।

2 शिवरानी देवी : 'प्रेमचन्द घर में' ।

3 राजेश्वर गुरु, प्रेमचन्दः एक अध्ययन, पृ० 155 ।

'स्वराज्य' के प्रश्न पर जहाँ गाँधी जी की दृष्टि 'हिन्द स्वराज्य' (1908) से लेकर अन्त तक अस्पष्ट थी[1], वहाँ प्रेमचन्द के लिए 'स्वराज्य' का अर्थ मात्र विदेशी शासन या साम्राज्यवाद से मुक्त होना भर नहीं था, किसानों मजदूरों और गरीबों की सामन्तों तथा पूँजीपतियों के शोषण से पूर्ण मुक्ति चाहते थे। प्रेमचन्द की दृष्टि में 'स्वराज्य' का अर्थ केवल आर्थिक स्वराज्य है। भारत का उद्योग-धन्धा पनप उठे, घर-घर में खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न, पहनने के लिए दो गज कपड़ा हो जाय, घर-घर में केवल स्वदेशी वस्तु हो, अथक परिश्रम के स्थान पर केवल थोड़ा परिश्रम हो, जीवन में कुछ कविता, कुछ स्फूर्ति, कुछ सुख मालूम पड़े तो कौन इस बात की चिन्ता करेगा कि भारत की पार्लियामेंट में अंग्रेज है या हिन्दुस्तानी।[2] "हम पूँजीपतियों का स्वराज्य नहीं चाहते। गरीबों का काश्तकारों का, मजदूरों का स्वराज्य चाहते हैं।[3]

वस्तुत: भारतीय सामाजिक जीवन में नृशंस–शोषण अंग्रेजी साम्राज्यवाद की देन है। इसके पूर्व की आर्थिक सामाजिक व्यवस्था उतनी विकृत न थी।[4] अग्रेजी साम्राज्यवाद में नयी भूमि व्यवस्था ने अंग्रेज व भारतीय पूंजीपति, जमींदार, काश्तकार तथा मजदूर आदि नये वर्गों का निर्माण किया। इस सामाजिक व्यवस्था में सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण होने लगा। बहुसंख्यक जनता शोषण, दरिद्रता और भुखमरी का शिकार बनने लगी। इस व्यवस्था के फलस्वरूप गरीब–अमीर के बीच खाई की दरार बढ़ती गयी। यह विभक्त समाज अपनी आन्तरिक फूट के कारण एकजुट होकर ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह न कर सका। इसके विपरीत देशी राजेराजवाड़े और बड़े जमींदार स्वयं अंग्रेजों के साथ होकर स्वदेशी गरीब किसान की दबी मानसिकता को उभाड़ने और उसके पक्ष को मजबूत करने में अपनी लेखनी का सहारा लेते हैं। वे मजदूर–किसानों को पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ एकजुट होकर जेहाद छेड़ने को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द समाजवादी विचारधारा की हिमायत करते हैं।

वस्तुत: प्रेमचन्द को न तो पूर्णत: साम्यवादी विचारधारा का पक्षधर कह सकते हैं और न ही गाँधीवाद विचारधारा का। यद्यपि दोनों दर्शनों की प्रगतिशील धारणाओं का उनके साहित्य पर प्रभाव स्पष्ट है। साम्यवाद की आर्थिक स्वतन्त्रता की धारणा उनके सम्पूर्ण साहित्य में परिलक्षित होती हैं। गाँधीवादी सिद्धान्तों का चित्रण भी व्यापक धरातल पर हुआ। पर इसके बावजूद जहाँ प्रेमचन्द ने आर्थिक कारणों से उत्पन्न किसानों की

1– 'प्रेमचन्द की दृष्टि में स्वराज्य का स्वरूप' पृ० 2, रविभूषण, राजनीति विज्ञान विभाग. का० हि० वि० वि० द्वारा आयोजित 'प्रेमचन्द शताब्दी समारोह' में प्रस्तुत किया गया लेख।

2– जागरण, अप्रैल, 1933।

3– वही, अक्टूबर, 1933।

4– कार्लमार्क्स–भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम 'भारत में ब्रिटिश शासन' (हिन्दी–संस्करण), पृ० 11।

दयनीय स्थिति का चित्रण किया है, वहाँ गाँधी जी ने राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से आर्थिक प्रश्नों को उतना महत्व नहीं दिया है । प्रेमचन्द का रचनाकाल राष्ट्रीय जीवन के उथल-पुथल का काल था । एक प्रगतिशील लेखक का दायित्व निभाने वाला प्रेमचन्द अपनी युग-समस्याओं से अछूते कैसे रहते ? 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' को सुधारवादी दृष्टिकोण से प्रारम्भ करके 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' तक आते-आते प्रेमचन्द के विचारों में पर्याप्त परिवर्तन आता है । वह आदर्शवाद से काफी हद तक हट कर यथार्थवाद के धरातल पर उतरते हैं । अन्ततोगत्वा 'महाजनी सभ्यता' में वे पश्चिम में उदय होने वाली' नई सभ्यता' का स्वागत करते हैं । सच तो यह है कि प्रेमचन्द एक साहित्यकार के यथार्थवादी दृष्टिकोण से सभी प्रकार की समकालीन परिस्थितियों का अंकन करते हैं । अतएव उन्हें मुख्यत: गाँधी-वादी या साम्यवादी मानने का तात्पर्य है प्रेमचन्द को अपनी-अपनी झोली में भरना । ऐसा करना एक साहित्यकार के साथ अन्याय होगा । वस्तुत: प्रेमचन्द मानव समाज की आर्थिक विषमताओं को सामाजिक विकास में अवरोध का मूल कारण मानकर उसकी कटु आलोचना करते हैं और इस स्थिति से छुटकारा पाने में ही समाज की भलाई समझते हैं ।

———

कश्मीरी सेब *

[illegible]

* भारतकला भवन, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के सौजन्य से प्रेमचन्द की प्रस्तुत रचना पहली बार उन्हीं की हस्तलिपि में प्रकाशित की जा रही है।

मुंशी प्रेमचन्द की अप्रकाशित कहानी कश्मीरी सेब की समीक्षा

लक्ष्मी दत्त व्यास *

हिन्दी उपन्यास एवं कहानी साहित्य को विषय–वस्तु तथा शैली–शिल्प की दृष्टि से समृद्ध बनाने में प्रेमचन्द जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे हिन्दी कथा साहित्य के जनक हैं। उन्होंने लगभग 350 कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें मोटे तौर पर रचनाकाल की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है। उनकी आरम्भिक कहानियाँ पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध थीं। इनमें प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन के आदर्श को लेकर नैतिक उपदेशात्मक कला को प्रधानता दी है। ये कहानियाँ आकार की दृष्टि से बड़ी हैं और पात्रों का सूक्ष्म चरित्र–चित्रण इनमें प्रायः उपलब्ध नहीं होता। कहानी कला की दृष्टि से इस युग की कहानियाँ अधिक कलात्मक नहीं बन पाई हैं। यद्यपि इस युग की कुछ कहानियों में बीज रूप में प्रेमचन्द की वह प्रतिभा उपलब्ध है जिसका विकास आगे चलकर हुआ है। इस युग की प्रसिद्ध कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोगा' और 'पंचपरमेश्वर' विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द की कहानी–कला ज्यों–ज्यों निखार पाती गई त्यों–त्यों उनकी कहानियों में वस्तुतत्व का अत्यधिक आग्रह कम होता गया है और वातावरण चित्रण या चरित्र का सूक्ष्म रेखाकंन अधिक भास्वरता से व्यक्त होता दिखाई पड़ता है। इस युग की कहानियाँ आकार की दृष्टि से छोटी होने लगी हैं। कला का और अधिक निखार मिलने लगता है। आदर्शवादी-यथार्थ का आग्रह होते हुए भी वह उतना अधिक मुखरता से सामने नहीं आता जितना पहले युग की कहानियों में प्राप्त होता है। ये कहानियाँ अभिधा प्रधान होने की अपेक्षा लाक्षणिक वक्रता और व्यंजना का अधिक सहारा लेने लगती हैं। चरित्र की बारीकियों को रेखांकित करने की ओर प्रेमचन्द अब अधिक ध्यान देने लगे हैं जैसे 'बूढ़ी काकी' में। किन्हीं-किन्हीं कहानियों में वातावरण का बड़ा सजीव चित्रात्मक अंकन करने में भी उन्होंने अपनी रुचि दिखाई जैसे 'ईदगाह' कहानी में।

तीसरे युग की प्रेमचन्द की वे कहानियाँ हैं जब प्रेमचन्द निश्चित प्रतिबद्ध मान्यता को लेकर समाज में व्याप्त शोषण को मार्मिक ढंग से वाणी देते दिखाई पड़ते हैं। वे अब सामाजिक अन्तर्विरोध, आर्थिक शोषण, महाजनी सभ्यता के विकास के साथ-साथ फैलती विषम परिस्थितियों का चित्रण कर इसकी विभिषिका की चीर-फाड़ करने में जुट जाते हैं। मजदूरों, खेतिहर किसानों और निम्न ग्रामीण जीवन की दयनीय स्थिति का वर्णन करने की ओर उनका ध्यान जाने लगा। इस युग की दो प्रधान कहानियों के रूप में 'पूस की रात' और 'कफन' का नाम लिया जा सकता है।

---

* भारत कला भवन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रेमचन्द की एक महत्वपूर्ण अप्रकाशित कहानी 'कश्मीरी सेब', जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन संग्रहालय में सुरक्षित है, इसी पिछले युग में लिखी गई कहानी है। इसमें आधुनिक हिन्दी कहानी के वे सारे बीज पाये जाते हैं जिनका विकास आगे चलकर, नई कहानी में मिलता है। नई कहानी की प्रमुख विशेषता यह मानी जाती है कि उसमें कोई खास कथावस्तु नहीं होती और न किसी पात्र के चरित्र का विकास या न कोई एक पहलू ही अंकित किया जाता है। उसमें मूलत: मानव जीवन का कोई एक क्षण लेकर कथाकार उसी को चित्रित करता देखा जाता है। जीवन के किसी एक नगण्य से अनुभव को लेकर कथाकार अपनी लेखनी द्वारा साकार करने की चेष्टा करता है, ऐसे अनुभव को जो बाहर से देखने पर अधिक मूल्यवान नहीं कहा जा सकता। हम अपने प्रति-दिन के जीवन में ऐसे ही अनुभवों से गुजरते रहते हैं। 'कश्मीरी सेब' में भी वस्तुतः कहानी जैसी कोई चीज नहीं है। कहानी लेखक ने अपने एक छोटे से अनुभव को कहानी का आकार दे दिया है, जो कहानी के साथ-साथ व्यक्तिव्यंजक निबन्ध के भी काफी नजदीक मालूम पड़ती है। लेखक एक दिन बाजार में, सेब खरीदने जाता है। वहाँ दूकानदार ने कश्मीरी सेब के नाम पर उसे जो सेब दिये उन्हें खाते समय लिफाफे से निकाल कर देखने पर पता चला कि धूर्त दूकानदार ने चारों के चारों सेब खराब दे दिये हैं। इसी अनुभव को लेकर प्रेमचन्द ने एक छोटी-सी किन्तु अत्यधिक कलात्मक कहानी की रचना कर डाली, जिसमें महाजनी सभ्यता के विकास के साथ-साथ बड़े व्यापारी ही नहीं, छोटे दूकानदारों तक की साख कितनी गिरती जा रही है। समाज के इस वर्ग का कितना नैतिक अधःपतन होता जा रहा है, यह विचार कथाकार को उद्वेलित करने लगा। "चार आने पैसों का तो इतना गम न हुआ जितना समाज के इस चारित्रिक पतन का।" यहीं प्रेमचन्द ने यह भी संकेत किया है कि समाज के चारित्रिक पतन का कारण दोहरा है। विक्रेता तभी बेईमानी करता है जब उसे अवसर मिलता है और इस बेईमानी को बढ़ाने में ग्राहक का भी उतना ही सहयोग होता हैं। भले ही यह सहयोग अपने ढीलेपन से दे रहा हो या सहज विश्वास से। इस कहानी में प्रेमचन्द ने न केवल व्यापारियों की बेइमानी पर व्यंग्य किया है अपितु पढ़े लिखे लोगों को भी नहीं छोड़ा है। वे कहते हैं—"पढे लिखे बाबूओं और कर्मचारियों पर तो अब कोई विश्वास नहीं करता।"

इस कहानी में अन्यत्र भी व्यंग्य का प्रयोग किया गया है। डाक्टरों का प्रमाण-पत्र मिलने पर किस तरह टमाटो और गाजर सम्मानित खाद्य पदार्थ बन गये और विटामिन एवं प्रोटीन सम्बन्धी विश्लेषण न होने के कारण भारतीय फलों का राजा आम सम्मानित फल नहीं माना जाता क्योंकि इस पर किसी पश्चिमी डाक्टर की व्यवस्था देखने को नहीं आई है। "सेब को यह व्यवस्था मिल चुकी है, अब वह केवल स्वाद की चीज नहीं है। अब उसमें गुण भी हैं।" आज के पढ़े लिखे लोगों पर यह गहरा चुटीला व्यंग्य है कि हम किस प्रकार पश्चिम को प्रमाण मानकर अपना जीवन-यापन कर रहे हैं।

इस छोटी-सी कहानी में यद्यपि वातावरण चित्रण और संवाद के लिए कोई खास गुंजाईश नहीं है फिर भी एकाध वाक्य में ही प्रेमचन्द ने कलात्मक ढंग से इनकी भी झलक

दीखा दी है जैसे—"एक दूकान पर बहुत अच्छे, रंगदार गुलाबी सेब सजे हुए नज़र आये।"

"दूकानदार ने कहा—"बाबू जी बड़े मजेदार सेब आये हैं खास कश्मीर के। आप ले जायें, खाकर तबीयत खुश हो जायेगी। मैंने रूमाल निकालकर उसे देते हुए कहा—"चुन-चुन कर रखना।" दूकानदार ने तराज़ू उठाई और अपने नौकर से बोला—"लौंड़े, आधा सेर कश्मीर सेब निकाल ला, चुनकर लाना।"

प्रेमचन्द की एक खास विशेषता यह है कि वे प्रायः अपनी कहानियों में कोई न कोई उपदेशात्मक संकेत अवश्य दे जाते हैं। इस कहानी में भी अन्तिम वाक्य में वे पाठकों को नसीहत देते दिखाई पड़ते हैं—"मुझे आशा है पाठक बाजार में जाकर मेरी तरह आँखें न बन्द कर लिया करें नहीं उन्हें भी कश्मीरी सेब ही मिलेगें।" प्रायः यह प्रश्न बठाया जाता है कि इस तरह के वाक्य कहानी को कलात्मक दृष्टि से कमजोर बना देता है क्योंकि कहानी के द्वारा अभिप्रेत संदेश को वाच्य न होकर व्यंग्य ही बना रहना चाहिए फिर भी प्रेमचन्द की यह कहानी कलात्मक दृष्टि से उनकी प्रसिद्ध कहानियों के साथ रखी जा सकती है।

———

प्रेमचन्द और बेनीपुरी : कथा-साहित्य के वातायन से

डा० कमलाकान्त त्रिपाठी *

अतीत यदि कलाकार में शुभसंस्कार ले आता है तो वर्तमान उसमें परिप्रेक्ष्य के आयाम की ठोस धरती देकर परिष्कार, परिवर्द्धन एवं परिवर्तन के क्रम जोड़ता है। इस प्रकार अतीत और वर्तमान की संयुक्ति से ऐसे सक्षम साहित्य की सृष्टि होती है, जो न केवल तत्कालीन समाज को नई दृष्टि देता है अपितु भविष्य के लिए भी पावन संस्कार की लीक छोड़ जाता है और उसे बहुत अर्थों में प्रभावित भी करता है। प्रेमचन्द का कथा-साहित्य भी अतीत से अपेक्षित संस्कार अर्जित कर वर्तमान फलक पर स्वरूप पाता है और अपने समसामयिक कथाकारों के लिए प्रेरणा बनकर उनके लिए साहित्य-सर्जन का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रेमचन्द के पूर्व का कथा-साहित्य अपने आरंभिक काल में वह स्वरूप नहीं अर्जित कर सका था, जो परिनिष्ठित की संज्ञा पा सके। प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य को परिनिष्ठित करते हुए उसे एक विशिष्ट साहित्यिक विधा के रूप में प्रस्तुत किया। अपनी चिन्ता-धारा की अभिव्यक्ति के लिए इस महान साहित्यकार ने कथा-साहित्य (उपन्यास और कहानी) को चुना और इस विधा में उनकी दृष्टि इतनी स्पष्ट और मौलिक हुई कि निश्चित लक्ष्य तक पहुँचना उनके पाठकों के लिए आसान ही नहीं बल्कि आनन्द-दायक सिद्ध हुआ और यह आनन्द काव्य का चरम लक्ष्य माना भी गया है।

राजनीति का गाँधीवादी युग एवं कविता का छायावादी काल ही हिन्दी कथा-साहित्य का प्रेमचन्द युग है। प्रेमचन्द के पूर्व का कथा-साहित्य साहित्येतिहास के पन्नों में स्थान भले ही पा चुका था, किन्तु कलात्मक धरातल उसे नहीं मिल पाया था, हाँ, प्रेमचन्द के आगमन के बाद कथा-साहित्य उत्तरोत्तर कलात्मकता का दामन पकड़े आगे बढ़ा और बढ़ रहा है। द्विवेदी युग के आदर्श को प्रेमचन्द ने यथार्थ से सम्पृक्त कर उसे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रूप दिया। छायावाद की भावुकता से एकदम अलग तो नहीं किन्तु प्रमुखता के साथ भारत की आत्मा गाँवों को केन्द्रवर्ती चेतना मानकर चलने वाले कथाकार प्रेमचन्द 'पूस की रात', 'दो बैलों की जोड़ी', 'ईदगाह' तथा 'मुक्तिमार्ग' आदि कहानियों में भारतीय चेतना को उसकी वास्तविकता में प्रस्तुत करते हैं। एक ओर प्रेमचन्द जहाँ गाँधीवादी प्रभाव में मानवतावादी तत्व की हिमायत अपने कथा-साहित्य में करते हैं वहीं दूसरी ओर 'कफन' और 'गोदान' में व्यवस्था के प्रति विद्रोही बनना चाहते हैं किन्तु अपनी मूल-भूत 'थीम' (Theme) के तिरोहण द्वारा नहीं। कथा और शिल्प के बिखराव के साथ यद्यपि विद्रोह की झलक अवश्य है। 1934 के प्रगतिशील लेखक संघ में भाग लेने के बाद के कथा-साहित्य में उनका स्वर कुछ बदला अवश्य। यह सब युग की बदलती परिस्थितियों के क्रम में सम्भव हो सका। इस प्रकार द्विवेदी युग के आदर्श से लेकर मार्क्सवादी प्रभाव

* आचार्य, महाराणा प्रताप महाविद्यालय, मोहनियाँ, रोहतास

के आलोक में प्रगतिवादी चेतना से संयुक्त होते हुए प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य को विविध आयामों में सुसज्जित किया।

प्रेमचन्द एक जन चेता साहित्यकार थे। उनका कथा-साहित्य भारतीय समाज के रुग्ण शरीर की नाड़ी टटोल उसके हृदय को पुष्टिकारक औषधि देता है। जिस प्रकार की जीवन पद्धति में उन्होंने जन्म लिया, उसके प्रत्येक स्पन्दन से दिनोदिन जैसे उनका परिचय बढ़ता गया और परिचय जन्म अपनी अनुभूति परम्परा को कथा-साहित्य (उपन्यास और कहानी) के माध्यम से अभिव्यक्ति देना आरम्भ कर दिया। ऐसा करते समय भारतीय जनसामान्य पर गुजरने वाली स्थितियों का सही और सटीक लेखा-जोखा उपस्थित किया। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को अभिव्यक्त करते हुए आपने सोद्देश्य उपन्यास एवम् कहानियां लिखीं। सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में 'सेवासदन' 'गबन' और 'निर्मला' आदि औपन्यासिक रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक समस्याओं की परिधि से बाहर जाकर प्रेमचन्द की बहुरंगी प्रतिभा ने 'रंगभूमि' जैसी रचनाओं में राजनीतिक आन्दोलनों को भी चित्रित किया। शोषित और दलित पक्ष को सामने रखकर आप की रचनाएँ मानवतावादी स्वरूप का परिचय देती हैं। समाज की खामियाँ एवं विषमतायें प्रेमचन्द की कहानियों में पहली बार स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आयीं। सामाजिक यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में प्रेरणार्थ आदर्श की उपस्थिति सम्पूर्ण कथा-साहित्य का अनिवार्य वैशिष्ट्य है। परवर्ती कथाकारों में सामाजिक वैषम्य या खोखलेपन का उभार वैसा नहीं बन सका है, क्योंकि वहाँ भावात्मक उत्कर्ष की प्रमुखता है।

अपने कथ्य की प्राणवत्ता के लिए प्रेमचन्द ने विशेष भाषा-शैली एवं शिल्प अपनाया है। उर्दू मिश्रित चलती-फिरती मुहावरेदार शैली द्वारा वस्तुतः प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में जादुई चमत्कार ला दिया है। किसी भी रचनाकार की वैचारिक अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा और उसकी अभिव्यक्ति की पद्धति ही है। भाषा और अभिव्यक्ति की पद्धति एक साधन है, जिसके द्वारा साध्य रूप में कला या साहित्य का सम्प्रेषण होता है। विषय-चयन कैसा भी उत्कृष्ट क्यों न हो, किन्तु उस विषय को उपस्थापित करने के लिए समुचित भाषा एवं शैली का चमत्कार भी अत्यावश्यक है। एक साहित्यकार का दर्शन उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा और अभिव्यक्ति-पद्धति में होता है। मुन्शी प्रेमचन्द अपने कथा-साहित्य में शब्द-चयन एवं उसके समावेश प्रक्रिया में सदा सजग दीखते हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा जनचेतना साहित्यकार के रूप को सच्चे अर्थ में उजागर करती हुई जनसामान्य को दृष्टिगत करती चलती है। पात्र एवं भाव तथा परिवेशानुसारी भाषा के प्रयोक्ता के रूप में प्रेमचन्द का जौहर स्तुत्य है। किसी स्थान के वर्णन में प्रेमचन्द की भाषा इस रूप में प्रयुक्त है कि उस स्थान की सम्पूर्ण विशेषताएँ हमारे समक्ष स्वाभाविक रूप में उपस्थित हो जाती हैं। कथा-साहित्य में उनका कोई भी शब्द सजावट मात्र के लिए नहीं अपितु वर्ण्य विषय की अनुकूलता लेकर चलता है। स्थान के उपयुक्त शब्दों के चयन में प्रेमचन्द की लेखनी आयन्त है। "भोला का पुरवा था तो बहुत छोटा; मगर बहुत गुलजार अधिकतर अहीर ही बसते थे और किसानों के देखते इनकी दशा बहुत बुरी न थी। भोला गाँव

का मुखिया था। द्वार पर बड़ी सी चरनी थी, जिस पर दस बारह गायें-भैंसें खड़ी सानी खा रही थीं। ओसारे में एक बड़ा सा तख्त पड़ा था, जो शायद दस आदमियों से भी न उठता। किसी खूँटी पर ढोल लटक रही थी, किसी पर मजीरा। एक ताख पर कोई पुस्तक बस्ते में बँधी रक्खी हुयी थी, जो शायद रामायण हो"। (गोदान पृष्ठ सं० 35)

मनोभावों के विश्लेषण-प्रसंग में प्रेमचन्द की भाषा संस्कृत निष्ठता और विश्लेषणात्मक रूप लेकर चलती है। प्रसंगानुसार अलंकारिकता के प्रयोग में भी प्रेमचन्द नहीं चूकते। भावात्मक अनुभूति के वर्णन प्रसंग में उनकी भाषा कवित्वमय हो जाती है। "वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरनों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है, और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शांत, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जनरव हमतक नहीं पहुँचता।" (गोदान पृष्ठ सं० 10) प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में विभिन्न वर्ग आये हैं। विशेषता यह है कि हर वर्ग के लिए उस वर्ग के अनुरूप भाषा का प्रयोग हुआ है। ग्रामीण पात्रों के लिए ग्राम्य एवं शिक्षित पात्रों के लिए परिनिष्ठित भाषा। भाषा शैली का यह संयोग प्रेमचन्द को साहित्यकार के समुचित यश का भागी बनाता है।

प्रेमचन्द के समसामयिक अन्य कथाकारों ने भी प्रेमचन्द की शैली से प्रभावित होकर ग्राम्य-जीवन एवं आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को स्वर दिया। सियाराम शरण गुप्त एवं वृन्दावन लाल वर्मा इस सन्दर्भ में उल्लेख्य हैं। भारतीय जन सामान्य को कथा-साहित्य में उजागर करने की यह प्रवृत्ति तत्कालीन रचनाकारों में जो मिलती है, उनमें श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। यह बात अवश्य है कि श्री बेनीपुरी ने प्रेमचन्द के आदर्श के स्थान पर वस्तु परक यथार्थवाद को ही मुखरित किया। प्रेमचन्द के प्रभाव से अनुप्राणित होकर बेनीपुरी ने भी भारतीय समाज की जड़ में व्याप्त विषमता और भ्रष्टाचार का चित्र ओजस्वी ढंग से खींचा। बेनीपुरी ने अपने कथा-साहित्य में युग की समग्र परिस्थितियों पर अच्छी पकड़ रखी है। उनके अन्तर के कलाकार ने सामाजिक वैषम्य, राजनीतिक समस्याओं एवं सर्व सामान्य जनसमाज की सारी परिस्थितियों को बड़ी ही सहृदयता के साथ देखा। यही कारण है कि उनकी कहानियों में व्यक्ति, राष्ट्र तथा राजनीति आदि पक्षों का वास्तविक एवं मार्मिक चित्रण हुआ है। जीवन की कुंठा, जड़ता एवं दैन्य के प्रति उनका हृदय अपने कथा-साहित्य में बरस पड़ता है।

प्रेमचन्द एवं बेनीपुरी के कथा साहित्य में प्रवृत्तियों की एकतानता एवं एकरूपता देखने को मिलती है, किन्तु चित्रण की विधि में दोनों रचनाकार, अलग दीखते हैं। बात यह है कि बेनीपुरी ने वर्ण्य विषय तो एक ओर प्रेमचन्द के प्रभाव एवं दूसरी ओर सामयिक परिस्थितियों के माध्यम से ग्रहण किया और वर्णन प्रसंग में उनका भावलोक और रचना

शिल्प अपना था। प्रेमचन्द की ही भाँति सहज समझ में आने वाली शब्दावली की हिमायत करते हुए भी बेनीपुरी का भाषा-प्रयोग कुछ और मार्मिकता को लेकर चलता है। बेनीपुरी ने जनता के साहित्यकार के रूप में ऐसी भाषा अपने कथा-साहित्य को दी, जिसमें बिना किसी कृत्रिमता के सहज बोध रूपान्तरित हो सका। प्रेमचन्द की ही भाँति बेनीपुरी की भाषा भी सहज हो समझे जाने योग्य शब्दावलियों, मुहावरों एवं भावानुकूल प्रयोगों पर आश्रित है। कहीं-कहीं बेनीपुरी-कथा-साहित्य की वाक्यावली ऐसी सूक्तियाँ उगलती है, जिसपर पाठक को आश्चर्य हो जाता है। छोटे-छोटे वाक्यों में खंजन सी चहकती फुदकती शैली में बेनीपुरी की भाषा चित्रात्मकता को लेकर चलती है। प्रेमचन्द कथा-साहित्य का गाँधीवाद बेनीपुरी में गाँधी प्रेम की व्यक्तिनिष्ठता में अपनी चित्रात्मक शैली में दर्शनीय है। :"ओ सवा हाथ चौड़े और चार हाथ लम्बे विस्तरे! इस सादगी में भी तुम कितने महान हो, क्या इसका अहसास तुम्हें कभी होता है? अरे, तुम्हें देखकर कितने रत्न जड़ित सिंहासन भी ईर्ष्या से जलते होंगे। क्या कभी उन पर एक क्षण को भी उतना बड़ा आदमी बैठा होगा, जितने बड़े आदमी को कितने ही दिनों, महीनों, वर्षों तक तुम्हें अपने ऊपर आसीन करने का गौरव प्राप्त हो सका।" यहां बेनीपुरी की चित्रात्मक शैली सहज शब्दों में बापू प्रेम की भावना को अभिव्यक्त करती है।

प्रेमचन्द एवं बेनीपुरी ये उभय कथाकार भारतीय ग्राम्य जीवन एवं विभिन्न सामाजिक विषमताओं का चित्रण यथा स्थित रूप में करते हैं। ग्राम्य जीवन या अन्य परिस्थितियों के वर्णन प्रसंग में जहाँ बेनीपुरी यथार्थवादी दीखते हैं, वहीं प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थ को अपनाकर चलते हैं। एक जैसी ही स्थिति के आकलन में जहाँ बेनीपुरी वस्तुपरक यथार्थ को अपनाते हैं, वही प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ की बात अति चर्चित है। समय की वास्तविकता को अभिव्यक्ति देते हुए प्रेमचन्द उपदेशार्थ अथवा प्रेरणार्थ आदर्श को आरोपित करना नहीं भूलते। 'नमक का दरोगा' शीर्षक कहानी का मुंशी वंशीधर, पं० अलोपीदीन द्वारा दिये जा रहे 40 हजार रुपये को ठुकरा देता है। 'पंच-परमेश्वर' शीर्षक कहानी में जुम्मन चौधरी अलगू से प्रतिशोध की भावना के चलते बदला लेना चाहता है और वैसा समय आने पर न्याय परायण बनकर अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का निर्वाह करता है। वस्तुनिष्ठ यथार्थ की आबद्धता सीमा में प्रेमचन्द का यह आग्रही आदर्श मानवीय जीवन को सवारने के लिए उपस्थित किया गया है। व्यावहारिक जीवन में ऐसी घटनाएँ घटती तो कम ही हैं; किन्तु प्रेमचन्द यहाँ मानवीय विवेक की वकालत करते हुए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इसके अभाव में मनुष्य अपनी मानवता की भावना खो देता है। सामयिक प्रसंग के संदर्भ में ही यह जागृत होता है और यह जागरण स्वाभाविक है। यदि विवेक नाम की वृत्ति न होती तो मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। सहसा विवेक के पथ को अपना लेना प्रेमचन्द की कल्पना का वह आदर्श है, जो व्यावहारिक जीवन में आनन्द की गंध ला देता है। वस्तुत: प्रेमचन्द ने यहाँ यथार्थ को केवल गलित रूप में देखने का प्रयास नहीं किया है। मानव स्वभाव की यह विशेषता है कि उसमें कुप्रवृत्तियों के साथ सद्वृत्तियाँ भी होती हैं और प्रेमचन्द अपने कथा-साहित्य में

मानव अनुभव के सभी प्रकारों को उद्धृत करना चाहते हैं। यह आदर्श भी वस्तुतः यथार्थ ही है। इस प्रकार आदर्शों की उपस्थापना द्वारा प्रेमचन्द एक ऐसे भावलोक का निर्माण करना चाहते हैं, जहाँ पहुँचकर पाठक आत्मतोष की अनुभूति कर सके।

बेनीपुरी अपनी कहानियों में समाज की दुर्दशा और उसके वैषम्य को चित्रित कर हमारे भावलोक को इस प्रकार आकर्षित करते हैं कि हमारी सहानुभूति हठात् उस ओर खिंच जाती है। आरोपित आदर्श के अभाव में भी आप अपनी कहानियों के माध्यम से एक ऐसे भाव की सृष्टि करते हैं, जो उनके पाठकों के हृदय में सहानुभूति परक संवेदना का भाव जागृत कर देता है। 'कहीं धूप कहीं छाया' शीर्षक कहानी में बेनीपुरी ने अमीरी और गरीबी का वह विषमता मूलक चित्र दिया है जो बरबस हमारी आँखों में आँसू ला देते हैं। बापू की बेटी के ब्याह में बेगार देने में मातृभक्त मखना के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और उसी समय गाँव के एक कोने में तम्बू तना है। पान, इत्र और गुलाल उड़ेले जा रहे हैं और सुरीली आवाज में वेश्या गा रही है 'गरवा में गरवा मिला जा हो बालम'। यह तो विवाहोत्सव का दृश्य है और उसी गाँव में एक छोर पर फूस की झोपड़ी से मखना की अनाथ विधवा की मर्मभेदी चीत्कार 'हो रजऊ' के रूप में निकल रही थी। यद्यपि यहाँ बेनीपुरी का वस्तु परक यथार्थ ही बोलता है, किन्तु पाठक की सहानुभूति को आकर्षित करते हुए पाठक के भावलोक को इतना शुद्ध बनाना चाहते हैं, जो कहानी में आदर्श की परिकल्पना से कदापि कम नहीं।

राजनीति का प्रसंग प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में सजग चित्रण के साथ वर्तमान है। 'रंगभूमि' में राजनीतिक आन्दोलनों की यथायोग्य चर्चा है। वस्तुतः प्रेमचन्द एक ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने हर परिस्थितियों का भोक्ता रूप अपने में समेट लिया था। परिस्थितियों का मात्र द्रष्टा चित्रण की सजीवता नहीं दे सकता। द्रष्टा और भोक्ता मन की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इस सन्दर्भ में देखने पर कथाकार बेनीपुरी भी राजनीतिक चित्रण प्रसंग में अप्रतिम दीखते हैं। एक सक्रिय राजनीतिज्ञ होने के नाते बेनीपुरी की कहानियों का राजनीतिक प्रसंग आपबीते अनुभवों के आधार पर है। 'पतितों के देश में' नामक अपने उपन्यास में बेनीपुरी जेल यन्त्रणा का चित्रण आपबीते अनुभवों के आधार पर रखते हैं। "ऊपर से मच्छड़ का धावा, नीचे से खटमल की चढ़ाई—ऊपर से जर्मन वायुयानों के गोले बरस रहे हैं, नीचे अंग्रेजों की सबमैरिन के हुदक्के लग रहे हैं। एक-दो तीन का लगातार हाहाकार''''फिर रह-रह कर गर-गर-गर-गर।" (पतितों के देश में पृष्ठ सं० 49) इस उक्ति में साधारण कैदी की आवासीय असुविधा का चित्रण है। इस पाषाण पुरी में साधारण कैदी कोल्हू का बैल बना दिया जाता है। बेनीपुरी की पैनी दृष्टि ने जेल-यन्त्रणा या जेल-जीवन की परम्पराओं को मानो एक-एक कर चुन लिया है। वस्तुतः प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में जिस राजनीतिक प्रसंग को मार्मिकता के साथ अभिव्यक्ति दी, उससे अनुप्राणित होकर ऐसे प्रसंगों को बेनीपुरी ने भी अपनाया और उनके लिए आप बीते अनुभवों का आधार जो मिला वह सोने में सुगन्ध की कहावत को चरितार्थ करने वाला सिद्ध हुआ।

प्रेमचन्द को भारतीय जीवन उसकी समग्रता में चित्रित करना अभीष्ट था। इस चित्रण के लिए उन्होंने 'प्रेमाश्रम', रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासों और तदनुरूप स्थापत्य शैलियों का प्रयोग भी किया। स्थापत्य के रूप में एक साहित्यकार की कल्पना की इमारत के लिए रचना-सामग्री के रूप में उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा और शिल्प है, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। इस प्रकार भारतीय जनसामान्य के चित्रण में वस्तुत. प्रेमचन्द और बेनीपुरी दोनों ही प्रशंश्य हैं, किन्तु इतना अवश्य है कि भारतीय ग्राम्य जीवन को अपने कथा-साहित्य में आयाम देनेवाले बेनीपुरी को शहरीपन छू भी नहीं सका है। पात्र, घटना और चरित्र आदि सभी स्थलों पर बेनीपुरी ने ग्राम्य जीवन और ग्राम्य संस्कृति को ही अपनाया है। माटी की मूरतें' वस्तुतः बेनीपुरी की एक ऐसी रचना है, जिसमें ग्राम्य संस्कृति पूर्ण कलात्मकता के साथ उजागर है। मानव की मूल वृत्तियों को वाणी देने में बेनीपुरी ग्राम्य संस्कृति को ही उसके मूल में रखना चाहते हैं। यहाँ तक कि मानव-प्रेम एव विश्व-संस्कृति का पुजारी रूप 'माटी की मूरतें' में उपस्थित है। बात अलग है कि ऐसी रचना-कला का विकास बेनीपुरी एक सीमा में कर सके थे। दूसरी ओर प्रेमचन्द शहरीपन को अपने कथा-साहित्य में छोड़ नहीं पाये हैं।

प्रेमचन्द का 'गोदान' नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार "भारतीय जीवन को, जो एक ओर नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, उसकी समग्रता में चित्रित करना 'गोदान' का लक्ष्य है।" विवाद से हटकर यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि गोदान में नागरिक (शहरी) पात्रों के दर्शन अवश्य होते हैं, किन्तु वे नागरिक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करते। होटल, रेस्तरां, चौड़ी सड़कें और शुष्क नागरिक जीवन की औपचारिकता आदि नागरिक जीवन की समस्याएँ प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में नहीं हैं। यदि कहीं कुछ है भी तो ग्राम्य जीवन की तुलना में इन समस्याओं की स्थिति नगण्य है ग्राम्य जीवन के कथाकार ने तब शहरीपन को अपने कथा-साहित्य में अपनाया क्यों ? लगता है ग्राम्य-जीवन की पुष्टि निमित्त शहरी जीवन का आभास मात्र प्रेमचन्द ने दिया है। सुख से दुख: एवं दिन से रात्रि का जो सम्बन्ध है अर्थात सुख के अभाव में दुख: या दिन के अभाव में जैसे रात की कल्पना नहीं हो सकती। वैसे ही प्रेमचन्द ने ग्राम्य जीवन के पुष्ट्यर्थ ही शहरी दृश्यों या पात्रों को अपने कथा-साहित्य में उपस्थित किया है। एतदर्थ ही नागरिक (शहरी) पात्रों में प्रतिनिधि-कता और विश्वसनीयता का अभाव है। वस्तुतः ग्राम्य परिस्थितियों को दिखलाते समय प्रसंगतः प्रेमचन्द ने नागरिक कथा के अंश को छू भर दिया है। नागरिक (शहरी) चित्रण उनका लक्ष्य ही नहीं रहा है, अन्यथा उसके चित्रण में भी कोई कसर नहीं उठा रखते। जहाँ तक सम्पूर्ण भारतीय जन जीवन का प्रश्न है, शहर भी उसका अंग ही है। शहरों में भी भारतीय जन सामान्य का प्रतिनिधित्व वर्त्तमान है परन्तु भारतीय सर्वसामान्य जीवन का अर्थ जिस दलित या उत्पीड़ित वर्ग से जुड़ा है, वह अधिकतम गाँव से है। शोषण शब्द की उपस्थिति से ग्रामीण जीवन एवं उसकी परिस्थितियाँ सामने आ खड़ी होती हैं। अतः प्रेमचन्द ने शहरी जीवन को अपने कथा-साहित्य में विस्तार देना उचित नहीं समझा है। सस्कारों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस ग्रामीण परिवेश में प्रेमचन्द जन्म लिए,

उसके संस्कारों की अनदेखी भी कैसे करते ? प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में शहरी जीवन उनके जिस आदर्श के प्रतिपादन हेतु लिया गया है, उसमें उनकी सफलता असंदिग्ध है। ग्राम और नगर कथाओं की सम्बद्धता का जहाँ तक प्रश्न है, प्रेमचन्द ने इस निमित्त वैसा प्रयत्न किया है। 'गोदान' में मालती और मेहता को वेलारी लाकर नदी तट पर उनके रोमांस का वर्णन तथा गोबर का मालती के यहाँ नौकरी करना आदि घटनाएँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। इन घटनाओं से नगर-कथा का ग्राम-कथा से सम्बद्ध होने की वात प्रकट होती है।

वेनीपुरी के सम्बन्ध में जैसा कि कहा गया कि वे ग्राम्य जीवन और ग्रम्य संस्कृति को ही अपने कथा-साहित्य में मुखर करते हैं। वात यह है कि वेनीपुरी जी कथाकार के साथ ही शब्द चित्रकार भी थे। चित्रों की सजीवता के लिए उनकी दृष्टि ग्राम्य जीवन पर जो टँकी, टँकी ही रही। 'माटी की मूरतें' ग्राम्य जीवन की सरसता, सरलता और ममता की त्रिवेणी तट के पावन मन्दिर हैं। प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन के सहज स्वरूप का जो अंकन अपने कथा-साहित्य में किया, वेनीपुरी ने उस रूप का भरपूर सँवारने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली। प्रेमचन्द की ही भाँति बेनीपुरी के भी प्रेरणा-स्रोत उनके वचपन के संस्कार ही वने। वेनीपुरी ने 'माटी की मूरतें' की भूमिका में लिखा है "गाँवों में आज भी पीपल के पेड़ के नीचे या अन्य स्थानों पर माटी की मूरतें देखने में वदशकल हैं, लेकिन इनका महत्व है। लेखक की राय में इन कुरूप और वदशकल मूरतों में भी एक चीज है, वह है जिन्दगी। ये माटी की बनी हैं, माटी पर धरी हैं, इसलिए जिन्दगी के नजदीक है" आगे चलकर बेनीपुरी ने यह भी कहा है कि ये जिन्दगी के नजदीक नहीं, प्रत्युत जिन्दगी में समाई हुई हैं। बेनीपुरी की यह रचना हिन्दी कथा-साहित्य में अपनी सच्ची ग्रामीण दृष्टि की पकड़ में अनुपम है। यहाँ कथाकर ने यथार्थवादी शिल्प-विधान द्वारा भारतीय संस्कृति के विकासशील तत्त्वों को उभारा है। प्रेमचन्द की प्रवृत्ति और परम्परा को बेनीपुरी सच्चे अर्थ में निभाते हुए अपने कथा-साहित्य को सर्वसामान्य भारतीय जन जीवन से सम्बद्ध करते हैं। मुंशी प्रेमचन्द की उर्दू मिश्रित मुहावरेदार शैली से मिलती-जुलती सर्वसामान्य के लिए सुलभ शैली के योगदान में कथाकार बेनीपुरी का स्वरूप उल्लेख्य है। वस्तुतः प्रेमचन्द युगीन कहानियों की विषय-वस्तु और शैली की समस्त संभावना बेनीपुरी में वर्त्तमान है। कहानियों का तथ्य जहाँ कथाकार प्रेमचन्द की ही भाँति लोक-मंगल की दृष्टि अपनाता है, वहीं कथ्य भी अपनी स्वाभाविक सरलता में सर्व-सामान्य की स्वीकृति का मुहर लगा देता है फलतः यह कहना सर्वथा उचित है कि प्रेमचन्द भारतीय ग्राम्य जन-जीवन के एक सशक्त कथाकार हैं और बेनीपुरी भी उस परम्परा को कलात्मक अभिव्यक्ति देते हैं।

प्रेमचन्द का कथा-साहित्य किसानों की समस्या एवं दुर्वस्था को भी सहानुभूति परक स्वर में उपस्थित करने वाला है। इस सन्दर्भ में 'गोदान' उनकी अन्यतम कृति है। भारत गावों का देश है और ग्रामीणों की जीविका का साधन प्रमुख रूप से कृषि ही है। आज कृषि और किसान के विकास के सन्दर्भ में अनेक योजनाएँ बनी है और बनेंगी। प्रेमचन्द ने

कृषि और किसान के तत्कालीन जीवन की सारी समस्याओं की तह में जाकर अपनी अनुभूति को सच्चाई एवं निर्भीकता से स्पष्ट किया है। ग्रामीण कृषक की गरीबी और महाजन द्वारा सूद पर ऋण और एतन्निमित्त उनके शोषण की प्रक्रिया उन दिनों जिस प्रकार हो रही थी, उसका यथार्थ वर्णन आप की कृति में वर्त्तमान है। ग्रामीण महाजन किसानों को बहुत कड़ी सूद पर कर्ज देते थे और वह सूद चक्रवृद्धि ब्याज के हिसाब से कुछ दिनों में बढ़कर मूल का कई गुना हो जाता था। 'गोदान' में मंगरु साह होरी को 50 रुपये कर्ज देते हैं, जो 10 वर्षों के बाद बढ़कर 300 रुपये हो जाता है। गिरधर झेंगुरी से 20 रुपये उधार लेता है, जिसका सूद 140 रुपये चुकाना पड़ता है। दमन-चक्र इतना कठोर है कि महाजन यमराज की तरह किसानों पर हावी हो कर अपना कर्ज वसूलते हैं। 'गोदान' का 17 वाँ परिच्छेद निर्दयतापूर्वक कर्ज वसूली का अविकल प्रमाण है। कर्ज में पिसते हुए किसानों के दयनीय जीवन का चित्रण प्रेमचन्द ने ऐसा किया है, जो उनके पाठकों के हृदय को तत्कालीन व्यवस्था के खिलाफ घृणा भर देता है। 'गोदान' में ग्रामीण जीवन के चित्रण के अतिरिक्त कृषि-संस्कृति का भी मार्मिक और यथार्थ अंकन बन पड़ा है। कृषक-जीवन के सामाजिक विश्वास, रहन-सहन और परम्परा आदि का यथावत उल्लेख हुआ है। प्रेमचन्द का यह कृषि चित्रण परम्परावादी है। उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि परम्परावादिता (तत्कालीन) ही कृषि और कृषकों की अधोगति का कारण है।

बेनीपुरी का कथा-साहित्य भी किसानों की समस्या को उछालता चलता है। अपने 'डुगडुगी' नामक लघुकाय एकांकी में एक गरीब किसान की कुर्क होती जमीन का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में उपस्थित करते हुए बेनीपुरी कहते हैं "ये गिद्ध ? हाँ, ये गिद्ध नहीं तो और क्या है ? ये गिद्ध हैं—मांसखोर हैं। गिद्ध मुर्दार मांस खाता है। ये गिद्ध के भी चाचा हैं, ये जिन्दा मांस खाते हैं।" गरीब किसान 'गरभू' अपने महाजन के चंगुल में इस कदर फँस जाता है कि उसे अपने खलिहान से भी हाथ धोने की नौबत आ जाती है। महाजन को वह गिद्ध समझता है और यह अनुभव करता है कि अब यह गिद्ध (महाजन) मेरे खलिहान को मेरा नहीं रहने देगा। बेनीपुरी की समाजवादी आस्था इस प्रसंग में कर्कशता के साथ मुखर है। कृषि आन्दोलन की बात करते बेनीपुरी व्यवस्था भञ्जक नारा भी देते हैं। वे कृषकों में क्रान्ति का आह्वान करते हैं और कहते हैं कि हरित क्रान्ति का नारा देने मात्र से काम नहीं चलेगा बल्कि उसके स्थान पर ठोस और कारगर कदम उठाने की आवश्यकता है।

इस प्रकार उभय कथाकारों की वर्णन शैली एक ही प्रसंग में प्रकारान्तर से उपस्थित है। प्रेमचन्द भी ऐसे वर्णन प्रसंगों में अपना यथार्थवादी रूप ही उजागर करते हैं तथा उन्हीं से प्रभावित बेनीपुरी ऐसी व्यवस्था से खीझकर अपना क्रान्तिकारी स्वरूप उपस्थित कर देते हैं। प्रेमचन्द ने कृषि और किसान की सारी समस्याओं को शालीनता के साथ सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु बेनीपुरी यहाँ व्यवस्था के प्रति उबल पड़ते हैं और उनके आक्रोश का स्वर कटोक्तियाँ उगलने लगता है। प्रेमचन्द अपने पाठकों को ग्रामीण कृषि एवं उसकी दुर्दशा को अवगत कराकर पाठकों के मन की संवेदनशीलता

जगाते हुए उन्हें स्वयं सोचने को विवश कर देते हैं। किन्तु बेनीपुरी की यथार्थवादी दृष्टि यहाँ प्रेमचन्द के यथार्थ से ऊपर उठकर वस्तुपरक यथार्थवाद का आग्रही बनकर विद्रोही रूप में पेश होता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की कृषि और किसान-चित्रण विधि को बेनीपुरी ने अपनी शैली एवं आनुभूतिक तीव्रता में एक नया आयाम दिया है।

वस्तुतः प्रेमचन्द एवं बेनीपुरी वैयक्तिक शैलीगत वैशिष्ट्य के चलते अपने-अपने ढंग के कथाकार हैं, परन्तु यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य द्वारा भारतीय जन-जीवन को व्यक्त करने का जो मार्ग प्रशस्त किया, उसी के अनुकरण पर बेनीपुरी अथवा उग्र आदि रचनाकारों ने कथा-साहित्य में योगदान किया इस अर्थ में हिन्दी संसार सदैव प्रेमचन्द का ऋणी रहेगा। साहित्य रचना मे लगी अधिकांश प्रतिभाएँ यश, सम्पत्ति या अन्य लोभ में साहित्य की गतानुगतिक विधाओं को प्रायः उन विधाओं के सैद्धान्तिक ढाँचे में ढालकर ही अपनी दूति कर्त्तव्यता समझ बैठती हैं। फलतः उनके पक्षधर समीक्षकों से प्रशंसा भी कम सुलभ नहीं होती। प्रेमचन्द से उनके हृदय की समसामयिक अनुभूतियों का क्रम हठात् लिखवाता था। भारतीय जन समाज की वह एक ऐसी विकट परिस्थिति थी, जिसमें प्रेमचन्द से भावुक माहित्यकार ने जो और जैसा अनुभव किया, उसे उसी रूप में लिखकर कथा-साहित्य को आकार दे दिया। वैयक्तिक जीवन की दुर्दम्य परिस्थितियों से जूझते हुए भी रचनाओं का इतना बाहुल्य और मौलिकता प्रेमचन्द को उत्तम यश का भागी बनाता है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का कथ्य हिन्दुस्तान का वह वर्ग विशेष द्वय है, जो या तो आर्थिक दृष्टि से प्रतिदिन विपन्नता के जबड़ों से जूझता किन्तु बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न है, अथवा वह जो आर्थिक, बौद्धिक एवं सामाजिक तीनों प्रकार की विषमताओं का लगातार शिकार होता रहा है और है। इन वर्गों पर ही किसी काल विशेष में सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। प्रेमचन्द ने ऐसे ही उपेक्षितों और पीड़ितों की वेदना को मुखरित करने की लालसा में साहित्य-रचना का सम्बन्ध जोड़ लिया। सच तो यह है, ऐसी उपेक्षा को ही मानो प्रेमचन्द ने जबान दी।

साहित्यकला का मानवीय जीवन से जुड़कर आने वाला रूप आज के युग का सबसे प्रशंसनीय पक्ष है। जिस साहित्य शिल्पी में साहित्यकला के निदर्शन के साथ मानवीय जीवन का सफलतापूर्वक विधान हो, साहित्यिक समीक्षकों की ही नहीं अपितु मानव जीवन की मूल्यवान आशंका भी उसे सुलभ हो सकेगी। कलात्मक मूल्यों के साथ-साथ जीवन की अनुभूतियों की सहज और अकृत्रिम अभिव्यक्ति भी आज के साहित्य संरचना की महती आवश्यकता है। श्री प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य के अपने प्रणयनकाल में आबालवृद्ध सम-सामयिक मानव समाज के जीवन को अत्यन्त समीप से पाया, प्रभावित हुआ एवं स्वयं की साहित्यिक संरचना जन्य अकृत्रिम अभिव्यक्ति से सहज ही प्रभावान्वित भी किया। इस अर्थ में प्रेमचन्द-साहित्य अपने काल विशेष में प्रेरक, अर्थवान तथा गरिमामय रहा है,

किन्तु आज भी वर्तमान पीढ़ी के मार्गदर्शन के लिए बहुत कुछ ऐसा है, जो अपनाया जा सकता है। अनागत भविष्य में मूल्यवत्ता के स्तर पर यदि विश्व के महान साहित्यकारों की गणना की जा सकी तो प्रेमचन्द का भी उसमें अवश्य ही एक गौरवपूर्ण स्थान होगा। भारतेन्दु युग के बाद चलने वाली साहित्यिक चिन्ताधारा में प्रेमचन्द ने जो गौरवपूर्ण अध्याय जोड़ा वह सदा भावी साहित्यकारों के लिए प्रेरणा-स्रोत बना रहेगा।

———

प्रेमचन्द में यथार्थ के कुछ पहलू

मोहन *

यथार्थवाद जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्य की हीनताओं तथा कुरूपताओं का चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवन के सुन्दर अंश को छोड़कर असुन्दर अंश का अंकन करना चाहता है। यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशों के साहित्य में विभिन्न कालों में मिलती हैं। वस्तुतः यथार्थ-वाद सुधारक साहित्य का प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है।.......हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकाल से ही दिखाई देने लगती हैं।[1] प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम यथार्थ की भूमिका पर चरित्र-चित्रण की ओर पूर्ण रूपेण ध्यान दिया और मानव-जीवन एवं मुख्य रूप से कृषक वर्ग और राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने उपन्यासों में बड़ी संवेदनशील शैली में प्रदर्शित किया। इसलिए उन्हें कुछ परिस्थिति-चित्रण भी करना पड़ा, जो बड़े सजीव एवं यथार्थ हैं। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यथार्थवादी विचारधारा का प्रकाशन उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द से ही प्रारम्भ होता है। प्रेमचन्द के यथार्थ अनुभूति में लोकपीड़ा की विवृति है। डा० रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द का महत्त्व बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है, "प्रेमचन्द ने भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम को अपने महान उपन्यासों में चित्रित किया। उन्होंने इस संग्राम में जनता के विराट भाग-किसानों-को उचित स्थान दिलाया। ब्रिटिश साम्राज्य का आतंक, कानून और पुलिस के फन्दे, जनता की दृढ़ता, साथ ही जन-आन्दोलन की भीतरी कमजोरियाँ—संगठन का अभाव, नेताओं की दुरंगी चाल आदि (कर्मभूमि का अमरकान्त, कायाकल्प के चक्रधर, गोदान के रायसाहब आदि) का भरपूर चित्रण किया। उन्होंने सड़े-गले सामन्ती ढाँचे में नारी का उत्पीड़न, अछूतों का अपमान, महाजनों-पुजारियों के अत्याचार का मार्मिक वर्णन करके जनता की चेतना को निखारा, उसकी संस्कृति को विकास की नई दिशा दी।"[2]

प्रेमचन्द ने सामयिक युग और समाज की ज्वलंत समस्याओं को अपने उपन्यासों का लक्ष्य बनाया। नवोदित राजनीतिक चेतना सशक्त राष्ट्रीयता का रूप धारण कर सबसे पहले उन्हीं के उपन्यासों में प्रकट हुई। इनके उपन्यासों में इस युग का राजनीतिक और सामाजिक भारत साकार हो उठा। यह हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों का पहला रूप था। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्वाधीनता के लिए संघर्षरत भारत का सजीव और मार्मिक इतिहास अंकित किया था। उन्होंने हिन्दुस्तानी जनता के प्रत्येक वर्ग के प्रभावशाली

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पृष्ठ 661
2. डा० रामविलास शर्मा, स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ० 110

* शोध-छात्र, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

और मार्मिक यथार्थ चित्र खींचे हैं। वे वस्तुतः मेहनतकश हिन्दुस्तानी जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। "प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे; गरीबी और बेकसी के महत्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से धारा-सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्ण और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।"[1] इसका मतलब यह है कि प्रेमचन्द ने जीवन के विस्तृत पक्ष का उद्घाटन ईमानदारी के साथ किया है। तत्कालीन युग की सभी प्रकार की परिस्थितियों का परिचय प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध है। प्रेमचन्द समाज के चित्रणकर्त्ता ही नहीं, वरन् वे हमारी आत्मा के शिल्पी भी हैं। वे भारतीय सामाजिक क्रांति के एक अंग थे।

कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों को आदर्शवादी सामाजिक उपन्यास माना है। परन्तु ये लोग आदर्श और यथार्थ के अत्यन्त संकुचित और रूढ़िगत अर्थों को ही स्वीकार कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यथार्थ चित्रण के माध्यम से अपने मतानुसार विभिन्न समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किये हैं। इनके उपन्यास लेखन में सरलता है, परिचित-यथार्थ है। वे एक युग प्रवर्त्तक लेखक थे। उन्होंने सम्पूर्ण पारम्परिक और रोमांटिक लेखन से अप्रभावित रहकर यथार्थवादी लेखन की स्थापना की थी और सामाजिक यथार्थवादी चेतना को साहित्य के केन्द्र की ओर खींचा था। "प्रेमचन्द साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम मानते थे और सामाजिक परिवर्तन के लिए उन्होंने उस निराशा का प्रयोग किया है, जो किसानों-मजदूरों मे व्याप्त थी। होरी इसी का प्रतीक पात्र है।"[2] गोदान में होरी की निराशा, सम्पूर्ण हिन्दुस्तानी कृषक वर्ग की निराशा है और इसको देखकर बदलाव लाने की चेतना खौलने लगती है और मुट्ठी भर शोषक वर्गों के प्रति घृणा एवं क्रोध का भाव जागने लगता है।

प्रेमचन्द के समय तक भारत वर्ष का मजदूर वर्ग संगठित शक्ति के रूप में सामने नहीं आया था, यही कारण है कि प्रेमचन्द के साहित्य में उसका रूप बहुत सुसंगत तरीके से नहीं उभर पाया है। प्रेमचन्द के समूचे साहित्य का उद्देश्य एक शोषणविहीन समानतापूर्ण समाज रचना के ही पक्ष में आवाज बुलन्द करना रहा है और एक जनपक्षधर साहित्यकार की भूमिका निबाहते हुए उन्होंने यही किया भी है। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद से जो भाषण प्रेमचन्द ने दिया, उसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"हमारी कसौटी में वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश

1 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ० 435

2 डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, हिन्दी नवलेखन, प्रेमचन्द अंक 1, अप्रैल-जून 1980, पृ०51

हो–जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[1] प्रेमचन्द का साहित्य पाठकों में गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करता है, उन्हें सुलाता नहीं। प्रेमचन्द के पात्र आज भी हमारे समाज में जीवित हैं किन्तु वे अब भिन्न स्थिति में रह रहे हैं। किसी के चरित्र का अधःपतन हो गया है, किसी का शायद पुनर्जन्म हो गया है। बहुतेरे पात्र सम्भवतः नये ढंग से सोचने लगे हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में हमारा जीवन जैसा पाया, उसका वैसा ही चित्रण किया है, वैसे ही गोर्की ने भी रूसी जीवन को जैसा पाया उसका चित्रण कर दिया है।

प्रेमचन्द की रचनाओं में यथार्थवादी समाजवाद और संघर्ष की धारणा के प्रति जो दृढ़ता दिखाई पड़ती है, वह 'गोदान', और 'मंगलसूत्र' जैसे उपन्यासों, 'महाजनी सभ्यता', जैसे लेखों और कफ़न, पूस की रात जैसी कहानियों में स्पष्ट है। "प्रेमचन्द की संवेदना आदर्शवाद से यथार्थवाद तक आयी, उसी तरह, जैसे गाँधीवाद के मोह से छूटकर उस समय बहुत से लोग मार्क्सवाद पर आये थे। लेकिन मैं यहीं एक दूसरा सवाल उठाना चाहूँगा––क्या मोहभंग आदमी को हमेशा ही वास्तविक और सही जमीन पर छोड़ जाता है ? क्या वह उसे स्तब्ध या असंतुलित नहीं कर डालता ?…… 'कफन' और 'पूस की रात' की तारीफ करते समय क्या हमने कभी यह सोचने की जरूरत महसूस की, कि हृदय-परिवर्तन का आदर्शवाद छोड़कर प्रेमचन्द हृदय-स्तब्धता या विजड़ित-संवेदना के बिन्दु पर सांस तोड़ते हैं।"[2] उपर्युक्त मत ठीक है कि प्रेमचन्द की विरासत का मतलब वर्ण्य-विषय निष्ठता नहीं, प्रेमचन्द की यथार्थवादी मानववादी दृष्टि के प्रति वफ़ादारी है। श्री राजेन्द्र यादव के अनुसार प्रेमचन्द के लिए यथार्थ अविभाजित है, अतः वह दोनों स्थानों गाँव और शहरों में पात्रों को ले जाते हैं। सामाजिक विषमता और इस विषमता से उत्पन्न असन्तोष, अन्याय और कुव्यवस्था उनकी आँखों में गड़ने लगी और वह इस वर्ग का सामना करने को कटिबद्ध हो उठे जो इस असन्तोष, अन्याय और कुव्यवस्था का जन्मदाता था। उन्हें लगने लगा था "दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।"

हमारे समाज में जातिप्रथा और वर्ण-व्यवस्था भी अनेक बार आपसी टकराव और अन्तर्विरोध का रूप ले लेती है, जिससे राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुँचती है। अंग्रेजी सरकार ने इन अन्तर्विरोधों को भी इस्तेमाल करने की कोशिश की थी। अतः यह स्वाभाविक है कि प्रेमचन्द ने जाति और वर्ण की व्यवस्था पर भी ध्यान दिया। उन्होने इस व्यवस्था को स्वतंत्रता और सामाजिक प्रगति की दृष्टि से देखा और महसूस किया कि यह आज भी सामाजिक और राष्ट्रीय एकता में बाधक है। यही कारण है कि उन्होंने जात-पाँत और वर्ण-भेद पर अपने कथा-साहित्य में तीखा प्रहार किया है। 'कर्मभूमि' में इसका स्पष्ट संकेत उन्होंने दिया है। प्रेमचन्द ने पण्डितों और मुल्लाओं के ढोंग और समाजविरोधी आवरण के अमानवीय चरित्र का पर्दाफाश किया है। वे अंग्रेजी साम्राज्य-

---

1. शिवरानी प्रेमचन्द, प्रेमचन्द : घर में, पृ० 110
2. राजेन्द्र यादव, प्रेमचन्द की विरासत और अन्य निबन्ध, पृष्ठ 86

वाद, पूँजीवाद और देशी सामंतवाद के विरुद्ध संघर्षरत थे, इसलिए इन शोषणकारी ताकतों के विरुद्ध किसानों, मजदूरों तथा अन्य शोषितों को एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यथार्थ चित्रण के माध्यम से अपने मतानुसार विभिन्न समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किए हैं। साम्यवाद भी तो यथार्थ का चित्रण और विश्लेषण कर समाज के भावी विकास की रूपरेखा और उसे उपलब्ध करने के साधन बताता है। जब कोई कलाकार यथार्थ का आधार ग्रहण कर ऐसे सुझाव और समाधान देता है तो उसे यथार्थवादी मानना चाहिए। उसका उद्देश्य एक स्वस्थ कल्याणकारी आदर्श की स्थापना करना रहता है परन्तु वह उस तक पहुँचने का मार्ग यथार्थवादी ही अपनाता है। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में किसानों की समस्याओं को यथार्थ रूप में ही दिखाया है। किसान अपनी मूलभूत समस्या लेकर प्रेमचन्द के साहित्य में क्यों उपस्थित होता है, इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द बार-बार उसे अपने हर उपन्यास, कहानी में उपस्थित करते हैं वे जमींदारी शोषण की भी तस्वीर बिना किसी बाधा के यथार्थ रूप में उपस्थित करते हैं। वे अंग्रेजी और उसके सहायक अपने देश के ही सामंतवाद और उसके चाकरों, पुलिस, कानून, महाजन, कचहरी, अदालत आदि किसी से भी अपनी मानसिक संगति नहीं बिठा पाते हैं। इसकी तस्वीर वे पेश करते हैं। किसानों की लूट-खसोट और उनकी तबाही प्रेमचन्द ने अपनी आँखों से देखा था और उसे भोगा था। इसलिए समाज के यथार्थ पर उनकी दृष्टि पड़ी है। महाजनी सभ्यता' लेख 1936 में हंस के सितम्बर अंक में छपा था। इस लेख को प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने प्रेमचन्द का अन्तिम साहित्यिक वसीयतनामा कहा है जिसमें प्रेमचन्द ने साम्यवादी व्यवस्था का पक्ष लेते हुए महाजनी और पूंजीवादी सभ्यता पर कड़ा प्रहार किया है। उन्हीं के शब्दों में "निस्सन्देह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून, और दाँत तोड़ दिए हैं। उसके राज्य में अब एक पूंजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता[1]।

भारतीय किसान गुलामी एवं निर्धनता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। किसान के जीवन के अनेक पहलू हैं। वह आर्थिक गुलामी और गरीबी के साथ-साथ अनेक धार्मिक एवं सामाजिक अंध-विश्वासों से भी जकड़ा है। प्रेमचन्द के साहित्य में यह तथ्य स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि भारतीय ग्राम्य-जीवन का बाह्य स्वरूप जमींदारी और महाजनी व्यवस्था की नींव पर टिका हुई है। भारतीय लेखन की परम्परा के अनुसार प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में अच्छाई की विजय चित्रित की है प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का विकास यथार्थवाद के किस धरातल पर हुआ, डा० रामविलास शर्मा ने इस सन्दर्भ में सही लिखा है "प्रेमचन्द बहुत सी असंगतियों के बीच से गुजरते हुए क्रांतिकारी यथार्थवाद की तरफ आ रहे थे—एक ऐसे यथार्थवाद की तरफ, जो जीवन का सही चित्र देते हुए पाठक में अपने जीवन की परिस्थितियों को बदलने की, एक नया जनवादी और स्वाधीन जीवन निर्माण करने की प्रेरणा दे।"[2] सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ में प्रेमचन्द की ऐतिहासिक दृष्टि हमेशा प्रखर होती गयी, क्योंकि इसने मानवीय जीवन के प्रति आलोचनात्मक रुख बराबर बनाए रखा।

———

1 प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रेमचन्द, पृ० 34
2 डॉ० रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 80

मंगल सूत्र : सम्पूर्ण कृति

डॉ० अशोक त्रिपाठी *

'मंगल-सूत्र" प्रेमचन्द की अन्तिम औपन्यासिक कृति है। मैं इसे अन्य सभी विद्वानों की तरह अधूरी कृति नहीं मानता। इसे अधूरी कृति मानने के पीछे प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि "रंग भूमि" ओर "गोदान" लिखने वाले प्रेमचन्द "मंगल-सूत्र" जैसा 70 पृष्ठों[1] (कुल पृष्ठ संख्या 71 : के लगभग है) का छोटा उपन्यास नहीं लिख सकते। यह तर्क मेरी समझ में नहीं आता। कोई कृति, किसी कृतिकार की अपेक्षा कद में छोटी है, तर्क नहीं तर्काभास है। जब मैं इसे पूर्ण कृति मानता हूँ तो निश्चय ही इसके पीछे कुछ तर्क सम्मत कारण हैं–

1–"मंगल-सूत्र" उस समय प्रारम्भ किया गया था, जब प्रेमचन्द गम्भीर रूप से बीमार थे। उन्हें "खून की कै" हो रही थी–"उस दिन (25 जून–जब प्रेमचन्द को खून की कै हुई थी) के बाद आपको अच्छी तरह नींद नहीं आयी। इसी दशा में आपने "मंगल-सूत्र" के बीसों सफे लिखे हैं।

स्वास्थ्य की ऐसी दशा में, प्रेमचन्द जैसे दूरदर्शी ओर भविष्यद्रष्टा रचनाकार के लिए यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि उन्हें अपनी जिन्दगी के शेष क्षणों की सीमा का अन्दाजा न लग पाया हो। उन्हें इस बात का अहसास हो गया होगा कि उनके जीवन के चन्द लमहे ही अवशेष हैं और इन चन्द लमहों में "रंगभूमि" जैसा भारी-भरकम उपन्यास लिखना सम्भव नहीं था।

2–"मंगल-सूत्र" का जो रूप आज उपलब्ध है, उसमें पूरे-के पूरे 4 अध्याय हैं और लगभग 71 पृष्ठ हैं। यदि यह उपन्यास, लेखन की प्रक्रिया में होता, तो चार पूर्ण अध्यायों के अतिरिक्त भी कुछ न कुछ अपूर्ण अंश और अवश्य प्राप्त होता या चौथा अध्याय भी अधूरा होता। पर ऐसा नहीं है।

अतः यह मानने में कतई दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि प्रेमचन्द इसे लघु आकार में ही प्रस्तुत करना चाहते थे।

3–कथा-संगठन की दृष्टि से भी यह उपन्यास पूर्ण है। इसकी कथा इस प्रकार है। कथा का प्रारम्भ साहित्यकार देवकुमार के चारित्रिक और पारिवारिक सन्दर्भों से होता है। देवकुमार के दो पुत्र हैं–संतकुमार और साधुकुमार। एक पुत्री है–पंकजा। पत्नी–शैव्या और बहू–पुष्पा (संतकुमार की पत्नी) प्रातः काल नाश्ते के समय शैव्या और सन्त-कुमार के वार्तालापों से उपन्यास की समस्या पर प्रकाश पड़ता है। समस्या है देव कुमार अपने पूर्वजों की बेची गयी जायदाद को पुनः हासिल करने के लिए मुकदमा दायर करने में सन्त कुमार की मदद करते हैं या नहीं। सन्त कुमार व्यंग्य में देव कुमार को "महात्मा

1. प्रेमचन्द स्मृति अंक, सं० अमृतराय पृ० 217।

* 21, लाउदर रोड, इलाहाबाद

जी'' कहता है। सारा परिवार सन्त कुमार का विरोध करता है लेकिन वह परीक्षा लेना चाहता है कि देव कुमार को अपना "महात्मापन" प्रिय है या सन्तान।

दूसरे अध्याय में संतकुमार अपनी पत्नी पुष्पा से, जायदाद हेतु मुकदमा दायर करने के लिए, आवश्यक दस हजार की रकम अपने पिता से माँगने का प्रस्ताव करता है, वह उसे नकार देती है।

तीसरे अध्याय में मिस्टर सिन्हा जो पेशे से दलाल/वकील हैं, का संतकुमार को रुपये का प्रबन्ध करने, सब जज साहब की एक एक मात्र कन्या तिब्बी (त्रिवेणी) से प्रेम-स्वांग रचने का निर्देश तथा संतकुमार का तिब्बी को प्रेम-जाल में फँसाने का वर्णन है।

चौथे और अन्तिम अध्याय में सिन्हा और सन्तकुमार का देवकुमार से मुकदमा दायर करने का आग्रह, देवकुमार के नकारने पर उन्हें पागल सिद्ध करने की धमकी, देवकुमार की विचारधारा और जीवन-दर्शन में परिवर्तन, सन्तकुमार को मुकदमे में साथ देने को कहना ही नहीं—स्वयं सेठ गिरधरदास के पास जाकर मुकदमा दायर करने की धमकी देना, मुकदमे के खच के लिए मित्रों, भक्तों से गरीबी का रोना-रोना, भक्तों द्वारा साठवीं सालगिरह पर देवकुमार को थैली भेंट करना तथा 'प्राविडेन्ट फन्ड" के रूप में थैली को देवकुमार का सगर्व स्वीकार करना, प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रथम अध्याय समस्या का प्रस्तुतीकरण करता है। समस्या है—देवकुमार को मुकदमा दायर करने के लिए तैयार करना और मुकदमे के खच के लिए दस हजार की राशि प्राप्त करना। पहले अध्याय में देवकुमार इसका विरोध करते हैं। दूसरे अध्याय में दस हजार रुपये के प्रबन्ध के लिए पुष्पा अपने पिता से रुपया माँगना स्वीकार नहीं करती। इन दोनों समस्याओं का निराकरण शेष दोनों अध्याय–तीसरे और चौथे में किया गया है। देवकुमार का विरोध खत्म हो जाता है। वह सन्तकुमार का साथ देने को तैयार हो जाते हैं। सन्तकुमार सब जज की एकमात्र कन्या तिब्बी को भी प्रभावित कर लेता है और अन्त में देवकुमार की साठवीं सालगिरह पर थैली भेंट करके धन की समस्या भी हल कर दी जाती है। तात्पर्य यह कि प्रथम और द्वितीय अध्यायों की समस्या चौथे अध्याय के अन्त तक हल हो जाती है और उपन्यास पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

4—उद्देश्य की दृष्टि से भी उपन्यास पूर्ण लगता है। इस सन्दर्भ में श्री श्रीपत राय के उस पत्र का हवाला देना भी अप्रासंगिक न होगा जो पत्र उन्होंने श्री मन्मथनाथ गुप्त को इस उपन्यास के उद्देश्य के बारे में लिखा था। पत्र में लिखा गया है कि––

"उन्होंने अपने अन्तिम दिनों में अपने अन्तिम और असमाप्त उपन्यास की आलोचना मेरे साथ की थी। वे गोदान की तरह इसे भी बहुत कुछ आत्मकथा मूलक बनाना चाहते थे पर गोदान में जहाँ वातावरण दूसरा है, इसमें वह शहरातू होता है। इसमें वे अपने मानदण्डों के अनुसार यह दिखाना चाहते थे कि सफलता के लिए चालाकी क्राफ्ट अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है। वे इस उपन्यास में यह दिखाना चाहते थे कि एक ईमानदार, परिश्रमी और सीधा-सादा आदमी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसे देखकर लोग ईर्ष्या करें और यह जगत सुरुचिपूर्ण मान्यताओं के सम्पूर्ण विरुद्ध नहीं है। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे

ऐसा समझते थे कि उन्हें अपने जीवन में सफलता प्राप्त हुई है और ऐसा वे उचित कारणों से समझते थे। ऐसा मेरा अनुमान है।"[1]

श्री श्रीपत राय के इस पत्रांश का तात्पर्य "मंगल-सूत्र" के तात्पर्य से मेल नहीं खाता।

"सफलता के लिए चालाकी (क्राफ्ट) अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है" मान्यता के विरुद्ध इसमें सफलता के लिए "क्राफ्ट आवश्यक है" की मान्यता को प्रतिष्ठित किया गया है। यदि देवकुमार "सीधे-साधे" बने रहते और अपने भक्तों-मित्रों के सामने "गरीबी का रोना" न रोते, तो वे कभी भी मुकदमा दायर करने हेतु आवश्यक दस हजार रुपये की राशि प्राप्त करने के लिए, अपने भक्तों, मित्रों का साठवीं सालगिरह को धूम-धाम से मनाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते थे और थैली भेंट में नहीं प्राप्त कर सकते थे। मित्रों को प्रेरित करना, समिति का गठन, थैली-भेंट स्वीकार करना चालाकी नहीं तो और क्या है ? कोई व्याख्यान देकर कोई पुस्तक लिखकर यदि देवकुमार आवश्यक दस हजार रुपये की राशि के इकट्ठा करते तब तो यह कहा जा सकता है कि "सीधा-सादा आदमी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसे देखकर लोग ईर्ष्या करें।

इस राशि को देवकुमार दान के रूप में नहीं "प्राविडेन्ट फण्ड" के रूप में स्वीकार करते हैं जिसके पीछे उनकी धीरे-धीरे विकसित होती हुई साम्यवादी दृष्टि प्रतीत होती है, क्योंकि साम्यवादी दृष्टि में दान जैसी प्रथा का कोई अस्तित्व नहीं है। दान बूर्जुआ-संस्कृति का एक ऐसा हथकण्डा है, जिसके द्वारा वह अपने विरुद्ध संभावित जेहाद को रोकती है। दान के द्वारा शोषित वर्ग की विद्रोही भावना का अग्नि पर शोषक वर्ग पानी के छींटे मारता रहता है। इसीलिए देवकुमार के भेंट के पीछे जो भावना है, सहायता करने की (एक रूप से दान देने की) उसे ताड़ जाते है और उसे भेंट नहीं प्राविडेन्ट फन्ड के रूप में ग्रहण करते हैं, तथा बूर्जुआ प्रवृत्ति के षडयंत्र को बेनकाब करते हैं, क्योंकि यह भेट उन्हें सोरांव के राजकुंवर के हाथों प्राप्त होती है और राजकुंवर बूर्जुआ समाज के प्रतीक हैं। देवकुमार का, भेंट को, अपने अधिकार के रूप में, प्राविडेन्ट फन्ड" के रूप में स्वीकार करना बूर्जुआयी प्रवृत्ति के विरुद्ध भावनात्मक या विचारात्मक संघर्ष का तूर्यनाद है।

यह इस प्रसंग का एक पहलू हुआ। इसकी दूसरी व्याख्या भी हो सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि देवकुमार व्यक्तिगत स्वामित्व की बुनियाद पर ही मुकदमा दायर करने जाते हैं, और साम्यवाद व्यक्तिगत स्वामित्व को तरजीह नहीं देता है, इसलिए उनका थैली स्वीकार करना किसी भी कोण से बूर्जुआ-विरोधी कदम नहीं कहा जा सकता; बात कुछ हद तक सही लगती है। यह सही है कि देवकुमार अपनी व्यक्तिगत पैतृक संपत्ति के लिए मुकदमा दायर करने जाते हैं, लेकिन उनका यह कार्य, उनका व्यक्तिगत नहीं रह जाता। ऐसा वे केवल अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर ही नहीं कहते। इसके पीछे एक सुस्पष्ट और तार्किक चिंतन है। इसके मूल में दो चिंतन दृष्टियां हैं—

1 "यदि वह महाजन के बीस हजार के कर्जदार है, तो नीति कहती है कि उस जायदाद को बेचकर उसके बीस हजार दे दिए जायं। बाकी उन्हें मिल जाय।"

लेकिन जब ऐसा नहीं होता तब वह यह सोचने को मजबूर हो जाते हैं कि—

2 "दरिन्दों के बीच लड़ने के लिए हथियार बांधना ही पड़ेगा।"

---

1. मन्मथनाथ गुप्त—प्रेमचन्द व्यक्ति और साहित्यकार—पृ० 357

इसी चिंतन-दृष्टि को कार्यरूप में प्रस्तुत करने के लिए देव कुमार आगे आते हैं और शोषकों के प्रतीक सेठ गिरधर दास के खिलाफ शोषितों के प्रतीक स्वयं देव कुमार मुकदमा दायर करने का फैसला करते हैं; और जिस कानून के दम पर वह जमीन के वापस न हो सकने की धमकी देता है, उसी कानून के बल पर सिन्हा और सन्त कुमार की सहायता से देव कुमार भी उससे अपनी जमीन वापस लेने की धमकी देते हैं। यही है देव कुमार का "दरिन्दों के बीच लड़ने के लिए हथियार बांधने" का सिद्धान्त, जिसे वे अन्जाम देते हैं।

थैली-भेंट प्रसंग एक दूसरे दृष्टिकोण से भी साम्यवादी प्रतीत होता है। जो थैली देव कुमार को भेंट की जाती है, वह किसी व्यक्ति-विशेष की भेंट नहीं है। उसमें जनता का सहयोग है। तात्पर्य यह कि सेठ गिरधर के विरुद्ध पूरी जन-भावना है। सामान्य जन-भावना ही नहीं, युवा-राजन्यवर्ग भी इस प्रकार के शोषकों के विरुद्ध संघर्ष में सहयोग देने का कार्य करता है। सोराँव के राजकुंवर राजन्य-वर्ग की नयी पीढ़ी के प्रतीक हैं, जो देव कुमार को सेठ गिरधरदास के विरुद्ध मुकदमा दायर करने के लिए आवश्यक दस हजार रुपए के लिए थैली भेंट करते हैं।

जो लोग इन तर्कों और तथ्यों को भी नहीं स्वीकार करना चाहते वे साम्यवादी लेखक गोर्की के इस मान्यता को तो अवश्य ही तरजीह देंगे कि "मैं आतंकवाद का समर्थन नहीं करता, लेकिन इन्सान के आत्मरक्षा के अधिकार से इन्कार नहीं कर सकता।"[1]

देवकुमार की सेठ गिरधरदास से लड़ाई आत्मरक्षा की ही लड़ाई है—आर्थिक आत्मरक्षा की। और यह इसलिए कि इस तरह से मजबूर देव कुमारों की जमीन गिरधरदासों द्वारा भविष्य में औने-पौने दामों हथियाई न जा सके; अन्यथा अपनी आर्थिक आत्मरक्षा के लिए देव कुमार गिरधरदासों पर मुकदमा दायर करेंगे और जनसहयोग देव कुमारों के साथ होगा।

इस प्रसंग के अतिरिक्त कई अन्य स्थलों पर भी, अन्य पात्रों के माध्यम से प्रेमचन्द अपनी साम्यवादी दृष्टि का परिचय देते हैं। साम्यवाद का मूलाधार है आर्थिक नियतिवाद। "अर्थ ही जीवन का और जीवन के सम्बन्धों का नियामक है" यह साम्यवाद की मूल स्थापना है। "मंगलसूत्र" में इस स्थापना को पूरा सम्मान दिया गया है। संतकुमार और देव कुमार के बीच जो बनते-बिगड़ते सम्बन्ध हैं, वह अर्थ को लेकर रही है। देव कुमार और सेठ गिरधरदास के सम्बन्धों में जो बिखराव आता है, उसका मूलाधार जायदाद ही है। समाजवाद की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष सबसे अनिवार्य शर्त है। देव कुमार और सेठ गिरधरदास का संघर्ष शोषित और शोषक का संघर्ष है। प्रेमचन्द का पात्रों के माध्यम से यह कहना कि 'दरिन्दों के बीच लड़ने के लिए हथियार बाँधना ही पड़ेगा।" या 'जिस राष्ट्र में तीन चौथाई प्राणी भूखों मरते हों, वहाँ किसी एक को बहुत-सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।" पृ० 5
या "इतने गरीबों में धनी होना मुझे स्वार्थान्धता सी लगती है"—पृ०23
वर्ग-संघर्ष की अनिवार्य शर्त को पूरा सम्मान देना है और उसके लिए जमीन तैयार करना है तथा शोषकों के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्रेरित करना है।

---

1. कल्चर एण्ड पीपुल, पृ० 72

इसीलिए डा॰ राजेश्वर गुरू ने मंगल-सूत्र को "साम्यवाद के आगमन" की फटी हुई पौ "कहा है। प्रेमचन्द का यह साम्यवाद सन् 1936 में जितना हिन्दुस्तान में आ सका था, उतना ही है। इस उपन्यास में साम्यवाद का पूरा रूप नहीं है, बल्कि रूपाभास है, साम्यवादी प्रभाव है, साम्यवाद की छाया है।

"मंगल–सूत्र" प्रेमचन्द के मोह–भंग की प्रस्तुति है। प्रेमचन्द भाग्यवादी या नियति-वादी तो कभी नहीं रहे, लेकिन मनुष्य के अन्दर के "सत्" पर उनका विश्वास अडिग था। लेकिन जीवन की तमाम व्यक्तिगत और सामाजिक और तीखी अनुभूतियों ने उनके इस विश्वास को तहस–नहस कर दिया। "प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर "सत्" रहता है और उसे हम अपने सत् के प्रभाव से जागृत कर सकते हैं" उनकी यह मान्यता खण्ड–खण्ड हो गई। "गोदान" के राय साहब के प्रति भी उनकी जो सहानुभूति थी अब वह नहीं रही, अब तो वे ऐसे लोगों से लड़ने के लिए "हथियार बांधने" की सलाह देने लगे हैं और कहने लगे हैं" हाँ, देवता हमेशा रहे हैं, और हमेशा रहेंगे। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन, उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो, स्वार्थी, कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर उसकी आँखों में यह दुर्व्यवस्था खटकती नहीं तो वह अन्धा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं। पृ० 60

इसी चिंतन-दृष्टि का परिणाम है कि वह सलाह देते हैं 'मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा. दरिन्दों के बीच उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना ही पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।" उनके इन चिंतन वाक्यों से प्रतीत होता है कि उनके भीतर का गाँधी या तो सो गया है या उसकी मूर्ति अब उनके मन्दिर में नहीं रह गई है। वे मानव के मन को दया, धर्म से या नीति से जीत सकने को संभव नहीं मानते। गांधीजी की तरह जिन्हें वे अब तक ट्रस्टी समझते रहे हैं, आज उनसे लड़ने के लिए वे हथियार बांधने का उपक्रम कर रहे हैं।

"मंगलसूत्र" "गोदान" के तुरन्त बाद का उपन्यास है। "असरारे मआविद" से लेकर "गोदान" तक की "कथा-यात्रा" प्रेमचन्द की दृष्टि-विकास की यात्रा है। "गोदान" तक आते-आते प्रेमचन्द को वास्तविकता का अहसास हो गया था, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नशा उतर गया था, मेहता और मालती के रूप में केवल हल्की सी खुमारी की ठुनक थी। लेकिन "होरी" के अंत ने उनके मोह का अन्त कर दिया और "गोदान" ने पाप-पुण्य की पौराणिक अवधारणाओं से छुट्टी दिला दी। प्रेमचन्द जब देखते हैं कि होरी जीवन पर्यन्त धरासार संघर्ष करता हुआ, एक तुच्छ लालसा–दरवाजे पर गाय बाँधने की लालसा-महज इसलिए पूरी नहीं कर पाता क्योंकि राय साहब, लाला पटेश्वरी, नोखेराम, पंडित दातादीन, दुलारी सहुआइन, झिंगुरी आदि उसका खून चूसते रहते हैं; नज़र-नज़राना, डाँड़-तावान तथा लगान के एवज में उसकी सारी फसल खलिहान से उठवा लेते हैं, घर

1 राजेश्वर गुरु - प्रेमचन्द एक अध्ययन–पृ० 249

भी रेहन रखवा लेते हैं और ऐसा मात्र इसलिए कि वह इनके जैसा सलूक नहीं कर सका था। "दरिन्दों के बीच लड़ने के लिए हथियार नहीं बाँध सका था।" वह जीवन पर्यन्त गर्दन को दबाने वाले पैरों को सहलाने में ही जीवन की कुशलता समझता रहा। यही कारण था कि वह एक "गाय" रखने की तुच्छ लालसा अपने सीने में लिए, हाड़तोड़ मेहनत करते हुए भी, अन्त में दम तोड़ देता है। यही वह त्रासदी है जो प्रेमचन्द को गहरे तक झकझोर देती हैं और उनके सुधारवाद को तोड़ देती है। एक नये दृष्टि-बोध और चिंतन क्षमता से मंडित कर देती है, जहाँ वह समाज को, व्यवस्था को खुली आँखों देखते हैं। उनका आदर्श, मानवीय सद्प्रवृत्ति और सद्गुण को जागृत कर सकने का आदर्श, पगहा तुड़ाकर भाग जाता है और फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता। वे सोचने को मजबूर हो जाते हैं कि—"कहाँ है न्याय? कहाँ है? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दूसरे को दिन दहाड़े लूटता है, उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। ....यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार? यही न्याय है? (पृ० 59)

अभी तक तो केवल "बलराज" और "गोबर" ही ऐसा सोचा करते थे और होरी जैसे लोग इस सोच को, उनकी लौंडआही, नये खून का अविवेकी जोश कहकर उन्हें बरजना ही अपना धर्म और विवेक मानते थे। लेकिन "मंगलसूत्र" में संतकुमार और देवकुमार दोनों ही प्रकारान्तर से एक ही सोच पर पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। अब देवकुमार संतकुमार को बरजते नहीं, वरन् आशीर्वाद देते हैं और पूरा सहयोग देते हैं। प्रेमचन्द अब यह उपदेश देना भूल गये कि–जब दूसरे के पावों के नीचे अपनी गर्दन दबी हुई हो तो उन पावों को सहलाने में ही कुशल है।" (गोदान)। मंगलसूत्र में प्रेमचन्द समझौतावादी नहीं रह गए, वे दुनिया के साथ दुनिया जैसा ट्रीट देना सीख गए हैं। मुहावरे में कहूँ तो ईट का जवाब अगर पत्थर से नहीं तो कम से कम ईट से देना तो जान ही गए हैं।

"मंगलसूत्र" में प्रेमचन्द की सारी पूर्व मान्यताएँ चटाचट टूटती नजर आती हैं। मंगलसूत्र के प्रथम अध्याय में देवकुमार सिन्हा से बातचीत करने तक, प्रेमचन्द के पुराने मानदण्डों और मोहों के शिकार हैं; लेकिन चौथे अध्याय के उत्तरार्द्ध के देव कुमार एक नए दृष्टि–तेज से सम्पन्न बुर्जुआ सभ्यता के विरोधी, शोषणवादी व्यवस्था के खिलाफ कमरकस कर लड़ने वाले के रूप में प्रकट होते हैं। उनका मोह भंग हो चुका होता है, और यह मोह–भग आज के दल बदलुओं का मोह भंग नहीं था, इसके मूल में एक वैज्ञानिक चिन्तन–बोध था। जिन दिनों "मंगल सूत्र" लिखा जा रहा था, उन्हीं दिनों उनका लेख "महाजनी सभ्यता" प्रकाशित हुआ था। इस लेख की तमाम मान्यताएँ "मंगल सूत्र" में साफ-साफ उद्धृत सी की गई लगती है।

"महाजनी सभ्यता" लेख में उन्होंने रूस की बोल्शेविक क्रांति को "पीयूषपाणि मसीहा की तरह पैसे को मिटाने वाली सभ्यता का सूर्य" कहा है और इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'जो केवल दूसरों की मेहनत या बापदादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतितम् प्राणी है।" तथा "यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है।"

इसी प्रकार "मंगल सूत्र" में कहा गया है कि–
"इतने गरीबों में धनी होना मुझे स्वार्थधंता सी लगती है।" पृ० 23
"जिस राष्ट्र में तीन चौथाई प्राणी भूखों मरते हों, वहाँ किसी एक को बहुत सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।" पृ०—4
"आज जो समाज और देश की दूषित अवस्था है उससे असहयोग करना मेरे लिए जुनून से कम नहीं है। मैं कभी–कभी अपने ही से घृणा करने लगती हूँ। वाबू जी का एक हजार रुपए, अपने छोटे से परिवार के लिए, लेने का क्या हक है और मुझे बेकाम धन्धे इतने आराम से रहने का क्या अधिकार है।" पृ० 42

"मंगल सूत्र" तक आते–आते प्रेमचन्द के चिन्तन में इतना जबरदस्त क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाता है कि वे पूरी व्यवस्था से ही असन्तुष्ट हो जाते हैं, उससे घृणा करने लगते हैं। इस व्यवस्था में मनुष्य के सत् और सुन्दर से उनका विश्वास उठ सा गया लगता है। वे सोचते हैं कि यदि उनका—

"बस हो तो संसार की सारी व्यवस्था बदल डालें।"

इसलिए मैं श्री श्रीपत राय के, "मंगल सूत्र" के उद्देश्य के बारे में उनके कथनों से कतई सहमत नहीं हो पा रहा हूँ। "मंगल सूत्र" के पहले वे अपने को "गाँधीवाद" और "साम्यवाद" के बीच कहीं स्थिर नहीं कर पा रहे थे। कहीं उन्हें कम्युनिज्म आकर्षित करता था तो कहीं गाँधीवाद। वे दोनों के बीच झूल रहे थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने बम्बई प्रवास के दौरान मराठी साहित्यकार टी० टिकेकर से कहा था कि "मैं कम्युनिस्ट हूँ। किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल यही है कि हमारे देश में जमींदार सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें।"
"मै गाँधीवादी नहीं हूँ। मैं केवल गाँधी जी के चेंज आफ हार्ट में विश्वास करता हूँ।"

प्रेमचन्द के इन दोनों वक्तव्यों से साफ जाहिर है कि वे कम्युनिज्म को अधिक तरज़ीह देते हैं। कम्युनिस्ट होने के बारे में उनका कथन स्वीकारात्मक है तथा गाँधीवादी होने के बारे में साफ नकारात्मक है। "मंगलसूत्र" के पूर्व तक वह "हमारे देश में जमींदार सेठ आदि जो कृषकों के शोषक है, न रहें, को गाँधी के "चेंज आफ हार्ट" से सम्भव मानते थे, लेकिन मंगलसूत्र में उनका यह विश्वास चकनाचूर हो जाता है। वे सीधे–सीधे संघर्ष की स्थिति स्वीकार करते हैं, यही नहीं वे हथियार बांधने की भी सलाह देते हैं। उनका निम्नलिखित कथन भी उनके साम्यवादी दृष्टिकोण की बानगी प्रस्तुत करता है और वर्ग संघर्ष की नियति को स्वीकार करता है–"जिस व्यवस्था से सारे समाज का उद्धार हो सकता है, वह थोड़े से आदमियों के स्वार्थ के कारण दवी पड़ी हुई है।" पृ० 45

"मंगलसूत्र" में प्रेमचन्द कल्याण का एक अभिनव–मार्ग प्रस्तुत करते हुए अपने जीवन के तमाम जीवन्त और खट्ठे–मीठे अनुभवों का निष्कर्ष देना चाहते हैं। यहाँ प्रेमचन्द नेपथ्य में नहीं खड़े रह सके, मंच पर आ गए हैं। अभी तक मेहता या सूरदास उनके विचारों के प्रवक्ता थे, अब देव कुमार के रूप में वे स्वयं उपस्थित हैं।

इस उपन्यास में देवकुमार के दो पहलुओं का चित्रण किया गया है। ये दो पहलू प्रेमचन्द के जीवन के दो पक्ष हैं। एक पक्ष वह है जो गोदान तक कायम रहता है जहाँ वह कंचन की उपासना को अपना लक्ष्य नहीं बना सके थे, कभी किसी दरबार में कदम नहीं रखा था, भावना को बुद्धि से अधिक तरजीह देते थे, मनुष्य के अन्दर के "सत् में उनका विश्वास था तथा "आप भला तो जग भला" उनका जीवन दर्शन था। दूसरा पक्ष वह है जहाँ वह दस हजार की राशि के लिए अपने भक्तों और मित्रों से गरीबी का रोना रोते हैं, धन को अहमियत देते हैं, सोरांव के राजकुँवर से थैली स्वीकार करते है, जावन बौद्धिक हो जाता है और सोचते हैं कि बुद्धि जो कुछ स्वीकार करती है, नीति पर कसकर करती है और नीति का सहारा मिल जाय तो फिर वह दुनिया की परवाह नहीं करते तथा समझ लेते हैं कि दरिन्दों के बीच लड़ने के लिए "सत्" नहीं हथियार ही काम आ सकता है। इन दोनों पक्षों में दूसरा पक्ष ही लोगों का मंगल कर सकता है। इस मानवीय संवेदना से वांझ यथास्थितिवादी पूंजीवादी व्यवस्था से लड़ने के लिए दूसरा दृष्टिकोण ही कारगर सिद्ध हो सकता है। तात्पर्य यह कि मनुष्यों के बीच मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा।" यही इस उपन्यास का मूल मंगल-सूत्र है, अभिनव मंगलकारी उद्देश्य है। इन चार अध्यायों में उपन्यास अपने इस उद्देश्य की सिद्धि कर लेता है। देवकुमार के परिवर्तित और निश्चित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है और इसमें वह पूर्णता प्राप्त कर लेता है। अतः हर दृष्टिकोण से यह उपन्यास सम्पूर्ण कृति का आनन्द देता है।

"मंगलसूत्र" की कुछ तथ्यात्मक भूलें :—

1—पृष्ठ 3 पर दो पुस्तकों के 5 हजार मिलने का संकेत है, लेकिन पृ० 68 पर "सारी पुस्तकों का कापीराइट" बेचकर 5 हजार रुपये इकट्ठा करने का संकेत है।

2— पृ० 4 पर जो जायदाद 10 हजार में बेची जा चुकी हैं तीसरे अध्याय में वही बीस हजार की बताई जाती है।

(ये भूलें मात्र तथ्यात्मक हैं और गोदान जैसे उपन्यास में भी है, लेकिन इससे प्रेमचन्द की प्रतिभा पर कोई आँच नहीं आती।)

———

सन्दर्भ-ग्रन्थ—

1— प्रेमचन्द स्मृति अंक-सं० अमृतराय—पृ० 217
2— मन्मथनाथ गुप्त—प्रेमचन्द व्यक्ति और साहित्यकार—पृ० 357
3— गोर्की—कल्चर एण्ड पीपुल—पृ० 75
4— मंगल सूत्र—पृ३ 4, 5, 53, 60, 59, 41, 42, 45, 44, 70
5— राजेश्वर गुरु—प्रेमचन्द एक अध्ययन—पृ० 246, 100, 249
6—प्रेमचन्द-गोदान

उपन्यासकार प्रेमचन्द की पात्र-परिकल्पना

डा० इन्दुमती सिंह *

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"

प्रेमचन्द के उक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि उन्होंने उपन्यास में घटना-वैचित्र्य के स्थान पर मानवीय चरित्र के चित्रण को प्राथमिकता दी। प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में कल्पना और रोमान्स का आधार अधिक रहता था। उनके द्वारा प्रस्तुत जीवन-स्थितियाँ काल्पनिक और अतिरंजनापूर्ण थीं। प्रेमचन्द ने एकदम परिचित जीवन-स्थितियों के बीच हमारे जाने पहचाने ऐसे पात्रों की अवतारणा की जिनके सुख-दुख, आशा-आकांक्षा आदि के हम भी भागीदार हो सकते थे। उनके उपन्यासों में मानवीय चरित्र में दिलचस्पी पैदा करने का जो गुण है वह उनके पूर्ववर्त्ती लेखकों में प्रायः अनुपस्थित है। प्रेमचन्द-पूर्व के औपन्यासिक चरित्रों में जीवन से अधिक आदर्श या रोमांस था। प्रेमचन्द के चरित्रों में क्रमशः आदर्श और यथार्थ जीवन का संतुलित रूप सामने आया।

चरित्रों का वैविध्य

प्रेमचन्द समकालीन भारतीय जीवन के इतने व्यापक परिदृश्य को इतनी स्पष्टता से प्रस्तुत करने वाले पहले उपन्यासकार हैं। सामाजिक न्याय के इतने स्तरों को उनके पूर्व कोई भी भारतीय उपन्यासकार नहीं उद्घाटित कर सका था। जमींदार, किसान, मजदूर, नारी-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, सरकारी कर्मचारी, समाज-सुधारक, देशभक्त, शोषक-शोषित आदि अनेक वर्ग और समुदायों के विभिन्न रूप, रुचि और स्वभाव वाले चरित्रों से प्रेमचन्द का औपन्यासिक जगत् सम्पन्न है। चरित्रों का यह वैविध्य और उनके कर्मक्षेत्र का ऐसा विस्तार प्रेमचन्द की कृतियों में पहले-पहल दिखाई पड़ा।

सामाजिक मनुष्य

प्रेमचन्द के पात्र सामाजिक मनुष्य हैं। सामाजिक स्थितियों और आवश्यकताओं के सन्दर्भ में ही उनका आचरण ढलता और विकसित होता है। समाज के अन्य सदस्यों के प्रति अपने अच्छे-बुरे संबन्धों की चेतना से उनके कार्य निर्धारित होते हैं। समुदाय के अन्य व्यक्तियों के कार्यों अथवा सामाजिक स्थितियों की प्रतिक्रिया से उनका स्वरूप बनता-बिगड़ता है। सुमन, निर्मला, जालपा, कृष्णचन्द्र, मनोहर, बलराज, होरी, रमानाथ आदि का व्यक्तित्व सामाजिक संदर्भों में ही गठित या विघटित होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रेमचन्द के पात्र वैयक्तिक विशेषताओं से शून्य हैं। ऐसा होता तो उनके पात्र जीते जागते मनुष्य न होकर कठपुतली मात्र होते पर ऐसा नहीं है। कौन कह सकता है कि अमरकान्त, प्रेमशंकर, मनोहर, बलराज, सूरदास, रमानाथ, होरी, सुमन, सुखदा, जालपा, धनिया आदि

* हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अविस्मरणीय पात्र व्यक्तित्वहीन या निर्जीव हैं। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अपने पात्रों का सृजन करते समय प्रेमचन्द ने सामाजिक संदर्भों का ध्यान निरंतर रखा, और सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया से ही उनका स्वरूप निर्मित हुआ है। वैयक्तिक भिन्नता के मनोविज्ञान की जगह सामाजिक समानता के मनोविज्ञान से प्रेमचन्द का संबंध अधिक था। उनके पात्र मानसिक और शारीरिक दृष्टि से मूलतः औसत व्यक्ति से मिलते जुलते हैं। उनकी आशा-आकांक्षा, निराशा, दुःख-दर्द, ढुलमुलपन और कर्मनिष्ठा तथा तेजस्विता समाज के अन्य व्यक्तियों के लिए अपरिचित और निराली नहीं है। अपने औपन्यासिक पात्रों के घनिष्ठ और निर्णायक सामाजिक संबंधों के कारण ही प्रेमचन्द व्यक्ति के माध्यम से विभिन्न सामाजिक प्रश्नों और स्थितियों को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके हैं।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

प्रेमचन्द ने साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का पक्ष लिया है। उनके अनुसार 'साहित्य की आत्मा आदर्श है, और उसकी देह यथार्थ चित्रण'। उन्होंने एक नये लेखक को पत्र लिखते हुए कहा था कि 'मेरे विचार में साहित्य का उच्चतम लक्ष्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात नजर से ओझल नहीं करनी चाहिए।' इसीलिए अपने उपन्यासों में उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो जीवन का कोई बड़ा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने एक लेखक को राय देते हुए लिखा था कि 'मैं चाहता हूँ कि आप मनुष्यों की सृष्टि करें। साहसी, ईमानदार स्वतंत्रचेता मनुष्य, जान पर खेलने वाले, जोखिम उठाने वाले मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य। आज इसी की जरूरत है।' प्रेमचन्द के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि अपने औपन्यासिक चरित्रों के द्वारा वे कोई न कोई प्रेरणाप्रद आदर्श प्रस्तुत करना चाहते थे। वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है।

प्रेमचन्द के कतिपय पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने भी सामाजिक आदर्श प्रस्तुत करने वाले शिक्षाप्रद उपन्यास लिखे थे, पर उनका चित्रण सामाजिक वास्तविकता की सहज भूमि पर नहीं हुआ। उनके द्वारा प्रस्तुत जीवन-स्थितियाँ अधिकतर कल्पना-प्रसूत और अतिनाटकीय होती थीं। उनके सुधारवाद में भी कला का योग नहीं था और उनका आदर्शवादी रंग इतना गहरा था कि उसमें औपन्यासिक पात्रों की सहज मानवीय छवि छिप जाती थी।

पात्रों का उदात्तीकरण

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में आदर्श को यथार्थ का आधार दिया और उसे बुद्धि-संगत बनाने का प्रयास किया। अपने आरंभिक उपन्यासों में प्रेमचन्द ने आदर्श की स्थापना के लिए कई पात्रों के जीवन में ऐसा आकस्मिक परिवर्तन दिखा दिया है जो बहुत स्वाभाविक नहीं लगता। उदाहरण के लिए सेवासदन की सुमन जो परिस्थितियों के दबाव और लम्बे आत्ममंथन के बाद वेश्या बनती है, एक दिन में ही सुधर जाती है और वेश्या जीवन छोड़कर नयी जिंदगी शुरू कर देती है।

अपने आरंभिक उपन्यासों में प्रेमचन्द ने मुख्य रूप से ऐसे पात्र प्रस्तुत किए हैं जो अधिकतर समाज के मध्य और निम्न वर्गों से आये हैं। वे महान और रहस्य से भरे हुए उच्चवर्गीय पात्र नहीं हैं। वे हमारे आस-पास की जिन्दगी के जीते जागते साधारण व्यक्ति हैं। इस जिन्दगी के लोगों की अपनी आवश्यकताएँ हैं, अपने संघर्ष हैं, अपनी आदतें और आकांक्षायें हैं। लेकिन अपने रचना-संसार का भाग बनाते ही प्रेमचन्द इन पात्रों के साथ एक मानवतावादी और सुधारवादी कार्य प्रारंभ कर देते हैं। इसके दो कारण हैं। वे 'वास्तविकता पर विजय के लिए आदर्श की स्थापना' करके पथ-प्रदर्शन का कार्य करना चाहते हैं। उन्हीं के शब्दों में 'वह ' साहित्यकार) हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है।..........उसके चरित्र पाजि-टिव हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ........।' उनके विचार से 'उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।'

दूसरा कारण यह है कि प्रेमचन्द यह मानकर चलते हैं कि मूलतः हर आदमी महान होता है, 'मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है जमाने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है।' इसलिए अपने आरंभ के अधिकांश उपन्यासों में एक सुधारवादी प्रक्रिया के अंतर्गत वे अपने पात्रों में विशिष्टता या महानता को सामाजिक व्यवस्था का परिणाम उतना नहीं मानते जितना कि व्यक्ति का गुण। इसीलिए उनका साधारण पात्र भी उनके संकेत पर महान् कार्य कर दिया करता है। सामान्य आदमी को अपनी रचना का आदमी बना लेने पर वे उसे महान बनाने में लग जाते हैं। उनकी यह पद्धति सामान्य को महान बनाने के क्रम में पूरी होती रहती है।

पात्रों की साधारणता में ही जीवन के अर्थ का अनुसंधान

प्रेमचन्द अपने समकालीन प्रगतिगामी मध्यवर्ग के विचारों की दुनिया में जीने वाले मनुष्य थे। अपने लेखन के आरंभिक काल में उन्हें पुराने जीवन-मूल्यों और सुधार-वादी प्रवृत्ति में गहरी आस्था थी। पर आगे चलकर उन्होंने देखा कि केवल सुधार और आदर्श जनता का दुःख दूर करने में असमर्थ हो रहे हैं। ज्यों-ज्यों उनका जीवनानुभव गहरा होता गया त्यों-त्यों आरोपित स्थूल आदर्शों के प्रति उनका आकर्षण कम होता गया। अब साधारण जीवन की संवेदनाओं और क्रियाकलाप में ही उन्हें जीवन की वास्तविकता दिखाई पड़ने लगी। अतः उन्होंने अपने औपन्यासिक पात्रों की साधारणता में ही जीवन की सार्थकता ढूंढ़नीं शुरू की। ऐसी स्थिति में उनके पूर्ववर्ती पात्रों की तुलना में परवर्ती पात्र क्रमशः साधारण से साधारणतर होते गए। इस प्रकार प्रेमचन्द की पात्र परिकल्पना अमृतराय जैसे वायवी और आदर्शवादी व्यक्ति से शुरू होकर होरी की दुःखद नियति में अपना प्रकर्ष प्राप्त करती है। अब वे साधारण पात्र को साधारण ही बनाये रखकर उसकी साधारणता में ही मनुष्यता की खोज करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर प्रेमचन्दीय पात्रों के दो वर्ग बनाये जा सकते हैं।

पात्रों के दो वर्ग

किसी भी लेखक के जीवन विवेक के अनुसार ही उसकी रचना के पात्र गठित होते हैं। प्रेमचन्द ने एक ऐसे आस्थाशील लेखक के रूप में लिखना शुरू किया जो जीवन के उदात्त मूल्यों और आदर्शों द्वारा जीवन के दुखों और विसंगतियों का उपचार संभव मानते थे। इसीलिए उनके पात्र सामान्यतः सामान्य धरातल के आदर्श की ऊंचाइयों की ओर बढ़ते हैं।

पर ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द का जीवनानुभव और विवेक गहरा होता गया त्यों-त्यों यथार्थ के धरातल पर जीवन की सामान्यता में ही उन्हें जीवन की अर्थवत्ता दिखाई देने लगी। इसीलिए उनकी परवर्ती रचनाओं के प्रमुख पात्र जीवन के सामान्य धरातल पर संचरण करते हुए ही जीवन की वास्तविकता उद्घाटित करते हैं।

इस दृष्टि से उनके औपन्यासिक पात्रों के दो वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं।

1—सामान्य को बड़ा बनाने की प्रक्रिया में परिकल्पित पात्र (आदर्शोन्मुख पात्र)

2—सामान्य को सामान्य बनाये रखने की प्रक्रिया में परिकल्पित पात्र (यथार्थोन्मुख पात्र)।

1—सामान्य को बड़ा बनाने की प्रक्रिया में परिकल्पित पात्र

रंगभूमि में सूरदास की परिकल्पना इसी प्रक्रिया के अंतर्गत हुई है। यह हम और आप जैसा व्यक्ति नही है बल्कि समाज से परित्यक्त, उपेक्षित भिखारी वर्ग की निम्नतम कोटि का व्यक्ति है। एक-तरह से सूरदास के माध्यम से प्रेमचन्द ने सामान्य को विशिष्ट बनाने की नायकी प्रक्रिया को चरमोत्कर्ष दिया है।

रंगभूमि के सूरदास का चुनाव करते समय प्रेमचन्द ने एक ऐसे व्यक्ति को नायक के लिए चुना जो समाज से परित्यक्त, उपेक्षित और तिरस्कृत भिखारी वर्ग की निम्नतम कोटि का मनुष्य है। सूरदास के साथ दूसरा दैन्य यह है कि वह अन्धा भी है। प्रेमचन्द का यह नायक न केवल समाज के बाहर का व्यक्ति है बल्कि सारी रंगीन और रोशनी से भरी हुई दुनिया के बाहर का भी आदमी है। उसके सामने बराबर एक काला अंधेरा है और बराबर एक भूखा पेट है। भीख मांगने के सिवा समाज में उसकी न कोई हस्ती है न हैसियत। हर गुजरने वाले आदमी के सामने उसका हाथ फैल जाता है। हिन्दू हो चाहे मुसलमान, भिखारी हो या राजा, वह सबसे भगवान के नाम पर भीख मागता है। सबकी लक्ष्मी बढ़ने की कामना करता है। सबके लिए पुत्र माँगता है। हजार वर्ष की उम्र और कल्याण माँगता है। उसके लिए पास से गुजरने वाली आहट कुछ पा लेने का जरिया है। फिर भी सूरदास प्रेमचन्द के एक बड़े और स्थूलकाय उपन्यास का नायक है।

सूरदास जैसे साधारण आदमी को असाधारण बनाने के लिए प्रेमचन्द ने बड़ी जटिल प्रक्रिया का सहारा लिया है। उसकी जीवन शक्ति का पहला उदाहरण तब मिलता है जब वह एक फिटन पर बैठे हुए मुसाफिर से पैसे लेने के लिए हाथ फैलाये हुए लगातार एक

मील तक दौड़ता है। हाँफते-हाँफते वह बेदम हो जाता है लेकिन पीछा नहीं छोड़ता। यह लम्बी दौड़, हाथ फैलाये रहना और फिटन वाले का बिना ध्यान दिए एक मील तक उस भीखारी को दौड़ाते रहना एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया है जो सूरदास के जीवन–व्यापार के द्वारा अर्थ ले लेती है। फिटन पर बैठा हुआ आदमी जनसेवक है और सूरदास के जीवन के सारे संघर्ष जनसेवक के जीवन से जुड़े हुए हैं। जनसेवक सुविधा संपत्ति और सरकारी मदद की फिटन पर बैठा हुआ तेजी से चल जा रहा है और सूरदास हाथ फैलाये हुए, बिना किसी रोशनी की सहायता के इस व्यवस्था-संपन्न आदमी के पीछे बेतहाशा दौड़ता है। साधारणतः कोई भिखारी दस बीस गज तक दाता का पीछा करता है लेकिन वह मील भर तक एक तेज दौड़ती फिटन का पीछा करता है। यह एक तरह की लड़ाई है जो अमीरी और गरीबी के बीच चल रही है, सशक्त और दुर्बल के बीच चल रही है, तेज घोड़े की रफ्तार और अपाहिज आदमी के बीच चल रही है। लेकिन इस लड़ाई में जीवनी शक्ति है और यह जीवनी शक्ति ही सूरदास को साधारण से असाधारण बनाती है। यह दूसरी बात है कि सूरदास को असाधारण बनाने के लिए प्रेमचन्द ने कतिपय अविश्वसनीय मानसिक स्तरों की भी रचना की है। एक पैसे के लिए हाथ फैलाने वाला भिखारी अचानक इतना उदार दिखायी पड़ता है कि एक जमीन के टुकड़े के लिए जब उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिए जाते हैं और वैराग्य का सबक भी दिया जाता है तो वह जमीन बेचने से इसलिए नहीं इन्कार करता कि जमीन उसे प्यारी है बल्कि इसलिए इन्कार करता है कि 'इस जमीन से मोहल्ले वालों का बड़ा उपकार होता है—आसपास के सभी ढोर यहीं चरने जाते हैं। बेच दूंगा तो ढोरों के लिए ठिकाना न रहेगा।' इस तरह अचानक सूरदास भिखारी से महात्मा के रूप में बदल दिया जाता है और दिखाई पड़ता है कि अपने पेट के लिए मुहताज आदमी जानवरों के पेट के लिए इतनी चिन्ता में है कि बड़े से बड़े प्रलोभन को ठोकर मार सकता है।

सूरदास में एक तरफ तो यह बल है कि एक पैसे के लिए मील भर दौड़ता है दूसरी तरफ यह बल भी है कि पाँच रुपये की भीख को भीख न समझ कर लौटा देता है। इसलिए कि उसे यहाँ धर्मार्थ में स्वार्थ दिखायी पड़ जाता है। इसी तरह एक सुविधा–सम्पन्न पशु भैरो जब उसे तमाचे मारता है तो वह सह लेता है। लेकिन जब वही भैरो उसके पाले हुए बच्चे को मारता है तो उसका चेहरा तमतमा उठता है और वह आवेश में उसे ललकारता है, उसे कायर कहता है। मानों सूरदास के लिए अपनी तकलीफ कुछ नहीं है, वह अपने अलावा बाकी दुनिया के लिए पैदा हुआ है। वह अपनी तकलीफ तो सहता है लेकिन दूसरों की तकलीफ को नहीं सह सकता, इसी तरह उसकी शक्ति उस समय दिखायी पड़ती है जब सुभागी नामक औरत के साथ बलात्कार की चेष्टा की जाती है। वह इस मामले की थाने पर रपट करता है।

सूरदास के व्यक्तित्व को उभारने के लिए विरोधी परिस्थितियों और नियति–चक्र की व्यवस्था की गई है। वह जनसेवक से, यानी पूरी सरकार से, सारे पूंजीपतियों के दुश्चक्रों से लगातार लड़ता रहता है। उसकी जमीन छिन जाती है। जहां गायें चरती थीं

वहाँ सिगरेट बनने लगती है। यह स्थिति इस हद तक बढ़ती हैं कि पूरा का पूरा गाँव खाली करना पड़ता है। सूरदास इस लड़ाई में अगली कतार में है। वह धर्म के बल से लड़ रहा है। जन–आन्दोलन को बढ़ावा दे रहा है। इस तरह उपन्यास के अन्त तक जाते-जाते एक अन्धा भिखारी एक महान नेता के रूप में बदल जाता है। उसकी मौत के समय अमीर–गरीब स्त्री, पुरुष हजारों की संख्या में एकत्र होते हैं और उसका शव श्मशान ले जाते हैं। यह पूरी शवयात्रा एक तरह की शोक सभा है। जहाँ मरते-मरते सूरदास सबके लिए देवता बन चुका है। इस तरह सूरदास से पात्र को साधारण से असाधारश बनाने वाली प्रक्रिया अतिवादी उत्कर्ष पाती है।

प्रेमचन्द ने सूरदास के अतिरिक्त कई और ऐसे पात्रों की परिकल्पना की है जो सामान्य से विशेष की ओर उन्मुख पात्र हैं। इस प्रकार के पात्र हैं—सदन, गजाधर, प्रतापचन्द, अमृतराय, डा० प्रियनाथ चोपड़ा, वकील इर्फानअली, चक्रधर, डा० भुवनमोहन सिन्हा, अमरकान्त, सलीम। ये सभी पात्र सामान्य से बड़े बनने की प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। इस कोटि में स्त्री पात्रों की भी कमी नहीं है। सेवासदन की सुमन पुरुषों द्वारा निर्मित समाज व्यवस्था और पुरुष के अत्याचार की शिकार एक ऐसी नारी है जो प्रतिक्रिया के आवेश में अधोगति को प्राप्त होती है, तो कुछ समय बाद ही बहुत ऊँचे धरातल पर उठी हुई दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार गबन की जालपा जो एक साधारण विलासप्रिय स्त्री है, आगे चल कर अभूतपूर्व साहस, बुद्धिमता और देशभक्ति का आर्दश प्रस्तुत करती है। ऐसे ही जोहरा जो साधारण–सी वेश्या है, देवी बन जाती है। माधवी, प्रेमा, पूर्णा, गायत्री, श्रद्धा, सुधा, सुखदा, सकीना, रेणुका ऐसी ही नारी पात्र है जो सामान्य से विशेष की और उन्मुख हैं।

सामान्य आदमी को सामान्य बनाए रखने की प्रक्रिया में परिकल्पित पात्र

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ज्यों ज्यों प्रेमचन्द का जीवनानुभव और विवेक गहरा होता गया त्यों–त्यों यथार्थ के धरातल पर जीवन की सामान्यता में ही उन्हें जीवन की यथार्थता दिखायी पड़ने लगी। इसलिए उनकी परवर्ती रचनाओं के अनेक महत्वपूर्ण पात्र जीवन के सामान्य धरातल पर विचरण करते हुए यथार्थ जीवन–स्थितियों का उद्घाटन करते हैं। वे आदर्श के शिखरों पर आरूढ़ होकर न तो जीवन की सामान्य भूमि को छोड़ते दिखायी देते हैं और न कल्पना की दुनिया में जीने वाले हैं। वे एकदम हमारी जानी पहचानी जिन्दगी जीते हुए जीवन के ऐसे रहस्यों से हमारा साक्षात्कार कराते हैं जिन्हें अब तक देखते हुए भी हम देख और समझ न पाते थे। होरी और रमानाथ तथा निर्मला और धनिया इसी वर्ग के व्यक्ति हैं।

गोदान की पात्र परिकल्पना को लक्ष्य करते समय मुख्य रूप से होरी और उससे सम्बद्ध पात्रों पर दृष्टि जाती है। होरी एक अशिक्षित किसान है। आम हिन्दुस्तानी किसान की भांति ही होरी में वर्गीय भावना का विकास नहीं हुआ है। वह यह नही समझ पाया है कि उसकी गरीबी, अशिक्षा और दयनीयता का कारण जमींदार रायसाहब और महाजन सहुआइन जैसे लोग हैं। होरी अपने दुःख और सुख के लिए विधाता को जिम्मेदार

मानता जा रहा है। वह शत्रु वर्ग के सामान्य सामन्ती और पूंजीवादी प्रतिनिधियों को अपने से अलग नहीं मानता, केवल भाग्यशाली मानता है। वह सामान्य आदमी है।

होरी की मान्यता है कि जब दूसरों के पावों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पावों को सहलाने में ही कुशल है। जमीदार रायसाहब के अनुचित कार्यों को देखते हुए भी वह हमेशा उन्हीं का पक्ष लेता है क्योंकि उस सीधे सादे किसान में जमींदार की गहरी चाल को समझने की शक्ति नहीं है।

होरी को एक गाय रखने की प्रबल इच्छा है। सोचता है,' भगवान कहीं गौं से बरखा कर दें और डांडी भी सुभीते से रहे तो,' एक गाय जरूर लेगा—उसकी खूब सेवा करेगा—'गोबर दूध के लिए तरस-तरस कर रह जाता है। इस उमिर में न खाया—पिया, तो फिर कब खाएगा—बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे।' एक गाय से इस बेचारे किसान की कितनी लालसाओं के पूरी होने की कल्पना है। और सबसे बढ़कर यह कि गाय आ जाने से द्वार की शोभा बढ़ेगी। आगे चलकर उसकी गाय की लालसा भी पूरी होती है। पर कब तक के लिए। थोड़े ही दिन बाद उसका भाई हीरा ईर्ष्यावश उसकी गाय को जहर दे देता है। गाय मर जाती है और इस साधारण गरीब किसान पर और भी विपत्तियां लद जाती हैं, जो क्रमशः बढती ही जाती हैं। सामान्य आदमी होने के कारण वह बेईमानी करने में भी पीछे नहीं रहता। अपने भाई से छिपाकर वह बांस बेचकर पैसा लेना चाहता है यद्यपि उसकी यह चाल सफल नहीं होती। पर यही स्वार्थी होरी अपने भाई के घर को असमय में सम्भालता है जबकि वह उसकी गाय को विष देकर भाग जाता है। इस घटना पर जब पुलिस उसके भाई हीरा के घर की तलाशी लेने आती है तब होरी घर की मर्यादा को बनाये रखने के लिए हीरा के घर की तलाशी नहीं लेने देता। यही नहीं इस सिलसिले में पुलिस को घूस देने के लिए वह महाजन से रूपये भी लेने को तैयार हो जाता है।

वह सामान्य समाज के बन्धनों को आंख मूंद कर मानता है। पुत्र गोबर जब विधवा झुनिया से प्रेम विवाह करता है तब बिरादरी और समाज के हुक्का पानी बन्द कर देने के डर से वह डांड़ देता है। इसके लिए उसे अपनी फसल से तो हाथ धोना ही पड़ता है, ऊपर से महाजनों का कर्ज भी सिर पर लद जाता है। एक ओर तो वह समाज की रुढ़ियों से बँधा है दूसरी ओर झुनिया के पालन–पोषण में सहज मानवीयता का भी परिचय देता है।

होरी पैसे के अभाव में एक धनी अधेड़ व्यक्ति से रूपये लेकर उससे अपनी बेटी रूपा का विवाह कर देता है। इस प्रकार के काम साधारण लोग करते हैं। होरी उनसे अलग न हो सका।

अपने जीवन के अन्तिम समय में वह मजदूर बन जाता है। महाजन उसका रक्त चूसकर उसे मजदूर बनने को विवश करते हैं। अन्त में अपने खेतों से बेदखल होरी कड़ी धूप में मजदूरी करते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है।

इस तरह प्रेमचन्द ने होरी को एक सामान्य आदमी के रूप में अत्यंत विश्वसनीय ढंग से चित्रित किया है। जमींदार के तलवे चाटने वाले इस किसान में स्वार्थपरता बेईमानी, करुणा, मानवीयता धर्मभीरुता, रूढ़िवादिता, मर्यादा-भाव आदि भली-बुरी प्रवृत्तियों का ऐसा मिश्रण है जो उसे मनुष्यता के सामान्य धरातल पर रखते हुए उसका मर्मस्पर्शी यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं।

होरी का पुत्र गोबर प्रेमाश्रम के बलराज का स्मरण दिलाता है। वह नयी पीढ़ी के युवक के रूप में परिकल्पित हुआ है। होरी के विचारों से वह कभी सहमत नहीं होता। होरी में समाज के वर्गीय बोध का अभाव था। लेकिन गोबर की बातचीत और हरकतों से यह प्रकट है कि उसमें वर्गीय बोध धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। वह जानता है कि सूदखोर सहुआइन और मालगुजारी लेने वाले आदमी अपने आदमी नहीं हैं। दातादीन या इस तरह के सारे लोग उसके वर्ग के आदमी, अपने आदमी नहीं हैं। इस लिए वह विदूषिकी स्थिति तक इनके विपक्ष में है।

इतना होने पर भी अन्त में वह सामान्य व्यक्ति या मजदूर ही रह जाता है। प्रेमचन्द अपने पात्रों को आदर्श की ऊचाइयों तक पहुँचा देते थे। गोबर को भी एक विद्रोही तथा क्रांतिकारी के रूप में चित्रित कर देना कठिन न था। पर प्रेमचन्द ने अपने समय की वास्तविकता के अनुरूप गोबर को सामान्य भूमि पर ही रखा।

गोदान के दातादीन, झिंगुरी सिंह आदि पात्र एक ही आर्थिक सामाजिक ढांचे के अलग-अलग प्रतिनिधि हैं। प्रेमचन्द ने इन सब को सामान्यता की भूमि पर बनाए रखकर बड़े ही सहजरूप में चित्रित किया है।

आदि से अन्त तक सामान्यता की भूमि पर संचरण करने वाले नारी पात्रों में शान्ता, निर्मला और धनिया आदि प्रमुख हैं।

गोदान तक आते-आते प्रेमचन्द की रचना-दृष्टि और कला में पर्याप्त प्रौढ़ता आ गई थी। वे सामान्य को बड़ा बनाने की प्रक्रिया से आगे बढ़कर सामान्य की सामान्यता में ही जीवन का यथार्थ और अर्थ ढूंढ़ने लगे थे। रमानाथ, होरी, धनिया के चरित्र उनकी इस प्रौढ़ि के असंदिग्ध प्रमाण हैं।

वर्गगत पात्र

प्रेमचन्द के पात्र अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। पारिभाषिक शब्दावली में वे 'टाइप' हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनमें वैयतिक्ता नहीं है, अथवा वे लेखक के हाथों की कठपुतली हैं। वास्तव में वर्गीय विशेषताओं के साथ ही वे वैयक्तिक विशेषताओं से भी सम्पन्न हैं। कौन कह सकता है कि सूरदास, होरी, मनोहर, बलराज, गोबर, सुमन, निर्मला, जालपा जैसे पाठक के मन पर अमिट छाप छोड़ जाने वाले पात्र वैयक्तिक प्रवृत्तियों से विहीन हैं। इन सभी पात्रों में अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं जिनके कारण वे पाठक के मन को आकृष्ट करते हैं और उस पर गहरी छाप छोड़ते हैं। पर इसके साथ ही अपने-अपने वर्ग की विशेषताओं से युक्त होने के कारण सामाजिक दृष्टि से वे विशेष अर्थवान

बन जाते हैं। एक साथ ही वर्गीय और वैयक्तिक विशेषताओं से मुक्त होने के कारण ये पात्र मानवीय धरातल पर बड़ी सजीवता के साथ संचरण करते हैं। इसी कारण वे पाठकों को नित्य-प्रति के सम्पर्क में आने वाले आदमियों से भी ज्यादा परिचित लगते हैं। प्रेमचन्द के अपूर्व चरित्र-निर्माण की यह एक बड़ी विशेषता है।

गबन के रमानाथ में मध्यवर्ग की सभी विशेषताएँ और दुर्बलतायें मिलती हैं। वह अपने वर्ग का प्रतीक कहा जा सकता है। मैट्रिक पास करने के बाद मित्रों के साथ सैर करते तथा टैनिस और शतरंज खेलने में दिन बिताता है। बेरोजगारी के कारण अपना शौक मित्रों की बदौलत पूरा करता है। अपने विवाह में अपनी हैसियत से बढ़ चढ़ कर खर्च करता है। मिथ्या प्रदर्शन की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी है। अपनी पत्नी से घर की असली माली हालत न बताकर खूब डींग हांकता है। बतलाता है कि जमींदार हैं, कई हजार का नफा है, बैंक में रूपये हैं उनका सूद आता है। इस प्रकार की झूठी बातें करके हीनता-ग्रन्थि से ग्रस्त यह युवक स्वयं अपने ही बुने जाल में फंसता चला जाता है। म्युनिसिपैलिटी में क्लर्की की नौकरी मिलने पर वह आमदनी से अधिक खर्च करता है। पत्नी के लिए गहने कपड़े इतना लाता हैं कि उधार से लद जाता है। परन्तु अपनी वास्तविक स्थिति उससे बराबर छिपाता रहता है। वह अपने दफ्तर में घूस लेने में बिलकुल नहीं हिचकता। पर ऊपरी आमदनी के बावजूद उसका खर्च पूरा नहीं होता। झूठ बोलकर वह अपनी मान-मर्यादा बनाये रखने में होशियार है। वकील इन्दुभूषण से अपनी आमदनी को खूब बढ़ा-चढ़ा कर बतलाता है। एक बार दफ्तर के रुपये पत्नी द्वारा खर्च हो जाने पर बहुत परेशान होता है लेकिन अपनी इस स्थिति से भी पत्नी को अवगत नहीं होने देता। अन्त में कोई उपाय न देख वह कलकत्ता भाग जाता है। वहाँ वह कुछ दिन तो छिपे-छिते रहता है लेकिन एक दिन पुलिस के फंदे में पड़ ही जाता है। गिरफ्तार होने पर उसे मुखबिरी करनी पड़ती है, नौकरी की लालच में वह मुखबिरी भी करता है। मध्यवर्ग की सभी प्रवृत्तियों का यह प्रतिनिधि पात्र है। पर इसमें वैयक्तिक विशेषताएँ भी हैं। अपने विवाह में उधार लिए गहनों के दाम चुका न पाने के कारण उसे वह काम करना पड़ता है जो सामान्य आदमी नहीं कर सकता। एक दिन रात को पत्नी के गहने चुराकर वह अपने पिता के हवाले करता है जिससे सर्राफ को गहने लौटा दिये जायँ, और उधार से मुक्ति मिले। इतना ही नहीं रमानाथ कायर है और उसमें मनोबल का अभाव है। उसकी ये दुर्बलतायें निजी हैं। वह जिस समय कलकत्ते में देवीदीन के यहाँ रहता है उस समय एक दिन एक सेठ द्वारा कम्बल दान दिए जाने पर वह ब्राह्मण बनकर दान तो ले लेता है लेकिन दक्षिणा नहीं लेता। बहुत आग्रह करने पर भी वह दक्षिणा नहीं लेता। उसकी आत्मा इसके लिए गवाही नहीं देती। उसकी इस हिचक और संकोच से भी वैयक्तिकता ही प्रकट होती है।

प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर क्रूर जमींदार वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। इसी उपन्यास में मनोहर शोषित किसान वर्ग के विद्रोह का प्रतिनिधित्व करता है। गोदान का होरी भारतीय किसान का प्रतिनिधि है। प्रेमचन्द के औपन्यासिक पात्र यद्यपि किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं पर इसके साथ ही उनमें अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं जिनके

कारण वे विश्वसनीय और प्रभावशाली बन गये हैं । वर्गगत पात्रों को स्वाभाविक और सजीव प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है, जिसमें प्रेमचन्द जैसा उच्चकोटि का कलाकार ही सफल हो सकता था ।

दो पीढ़ियों के विभेदक पात्र

अपने व्यापक जीवन–बोध और विवेक के कारण प्रेमचन्द को ऐतिहासिक विकास के क्रम में होने वाले बदलाव का पूरा ज्ञान था । इस बदलाव को दिखाने के लिए उन्होंने मनोहर–बलराज, प्रभाशंकर–ज्ञानशंकर, जानसेवक–प्रभुसेवक, मिसेज सेवक–सोफिया और होरी–गोबर अनेक पात्र–युग्म सृष्टि की है ।

पिछली और वर्त्तमान पीढ़ी के दृष्टिकोण में भेद होना स्वाभाविक है । प्रेमाश्रम का मनोहर जमींदार और हाकिम के अत्याचारों को सहने में अभ्यस्त है । वह समझ–बूझ कर ही अत्याचारों का विरोध करता है । लेकिन उसका पुत्र बलराज विद्रोही स्वभाव का है । सहनशीलता उसमें बिल्कुल नहीं है । अत्याचारों का पग–पग पर विद्रोह करने को तैयार हो जाता है । जमींदार को घी चाहिए । इसके लिए उसका कारिन्दा गाँव में लोगों को घी के लिए रुपये देता है । किसानों को घी बाजार भाव से सस्ते में ही जमींदार को देना पड़ेगा । मनोहर इसका विरोध करता है और घी के लिए रुपये नहीं लेता । इस पर कारिन्दा से उसका झगड़ा होता है । मनोहर इस झगड़े की बात बलराज को नहीं बताता क्योंकि उसे डर है कि कहीं वह उजड्डपन न कर बैठे । घी के मामले में विरोध करने के कारण मनोहर पर जमींदार इजाफा लगान करना चाहता है । इस पर बलराज कहता है 'हमने तो ठान लिया है कि एक कौड़ी भी बेसी न देगें ।' बलराज ने लाठी कन्धे पर रख कर कहा–'कौन इजाफा करेगा, सिर तोड़ कर रख दूंगा' । मनोहर–'तू क्यों बीच में बोलता है ।' इस वार्त्तालाप से पता चलता है कि बलराज पर अन्याय की तीव्रतर प्रतिक्रिया होती है । वह अत्याचार का सक्रिय रूप से प्रतिरोध करने के लिए बराबर तैयार रहता है । वास्तव में वह नए जमाने का विद्रोही स्वभाव का युवक है । एकबार गाँव मे हाकिम के दौरे के समय दूध की समस्या उठती है । कारिन्दा गौस खां ने मनोहर से कहा–"मनोहर तुम्हारी भैंसे" तो दुधारू हैं" । मनोहर ने अभी जबाव न दिया कि बलराज बोल उठा—"मेरी भैंसे बहुत दुधारू हैं, मन भर दूध देती हैं, लेकिन बेगार के नाम पर छँटाक भी न देंगी ।" इस पर मनोहर ने उसे डाँटा—"तू चुपचाप क्यों नहीं रहता, तुमसे कौन पूछता है ।"

इस उद्धरण से दो पीढ़ियों का फर्क मालूम हो जाता है । मनोहर का पुत्र बलराज अपने पिता से अधिक तेज और अन्याय के सक्रिय विरोध के लिए अधिक तत्पर है ।

जमीदार ज्ञानशंकर और उसके चाचा प्रभाशंकर परस्पर विरोधी गुणों के पात्र हैं । प्रभाशंकर पुराने रीति-रिवाज के सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं । परन्तु ज्ञानशंकर अत्यन्त स्वार्थी और सम्पत्ति–लोलुप नया जमीदार है । उसे अपने चाचा की उदारता, असामियों के प्रति दयाभाव, अतिथियों के आदर–सत्कार की प्रवृत्ति, कुटुम्ब के सदस्यों के प्रति ममत्व, पुश्तैनी प्रतिष्ठा की लाज आदि पसन्द नहीं है । इसी प्रकार रंगभूमि के जानसेवक और

उसके पुत्र प्रभु सेवक, मिसेज सेवक और उनकी पुत्री सोफिया के विचारों में बहुत वैषम्य है। गबन के दयानाथ और उनके पुत्र रमानाथ, कर्मभूमि के समरकान्त और अमरकान्त तथा गोदान के होरी और गोबर दो पीढ़ियों के प्रतीक हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेमचन्द ने दो पीढ़ियों के मनोभावों की विषमता को बड़ी स्पष्टता के साथ उद्घाटित किया है। जमींदार वर्ग हो अथवा किसान वर्ग, व्यापारी वर्ग हो अथवा निम्न मध्यवर्गीय क्लर्क-परिवार—सभी वर्गों की दो पीढ़ियों के संस्कार, स्वभाव, विचार और क्रिया-कलाप में इतिहास की अनिवार्य माँग के रूप में जो परिवर्तन और वैषम्य घटित होता है उसका प्रभावशाली चित्रण करना प्रेमचन्द की एक बड़ी विशे-षता है।

प्रेमचन्द के पात्र अपनी मानवीयता के कारण हमारी सहानुभूति जाग्रत करने में सफल होते हैं। उनकी मुसीबतों और खुशियों में हम भावनात्मक स्तर पर शामिल होते हैं। उनके प्रमुख चरित्रों में मानवीय स्वभाव और आचरण की नई भंगिमायें प्रकट हुई है। उनमें से कुछ में कभी-कभी आदर्श का अतिरेक हो सकता है पर प्रत्येक पात्र-हाँड-माँस का बना और पूरी तरह जिन्दा है। चाहे सूरदास से हमारी कभी भेंट न हुई हो पर हम अनुभव करते हैं कि गांधी के समकालीन भारत में किसी क्षण हमारी उससे भेंट हो सकती थी। वह एक यथार्थ सृष्टि है।

प्रेमचन्द का अपना धर्म और मानवतावाद

श्रीमती सावित्री सिंह *

प्रेमचन्द एक सामाजिक दृष्टि सम्पन्न कथाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके सम्बन्ध में प्रचलित धारणा यही है कि वे धर्म विरोधी हैं धर्म के आलोचक हैं। उनके साहित्य को प्रगतिशील बताने के लिए शायद धर्म विरोधी बताने की आवश्यकता पड़ती है। अगर हम अपने पूर्वग्रहों से मुक्त हो लें तो अनुभव करेंगे कि प्रेमचन्द पाखंड–विरोधी हैं, धर्म के नाम पर प्रचारित पोषित विषमता, पाखंड, शोषण के विरोधी हैं—धर्म विरोधी नहीं हैं। यह अवश्य है कि जिस धर्म का पक्ष वे लेते है वह उनकी अपनी नैतिक दृष्टि है। उनका धर्म अपना धर्म है। ऐसे नैतिक विवेक के प्रति उनकी गहरी आस्था है। इसी के बल पर वे लम्बे समय तक अपनी कथा कृतियों में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा में लगे रहे हैं।

प्रेमचन्द का अपना धर्म उनका अपना उदार–मानवतावाद है। उनका धार्मिक दृष्टिकोण रूढ़िवादी न होकर मानववादी है। प्रेमचन्द मनुष्य के आत्मिक गुणों को उभारने में कृतिकर्म की सार्थकता मानते है। आस्था प्रेमचन्द के लिए सदा एक उच्चतर मूल्य जैसा महत्व रखती रही है। 'त्यागी का प्रेम' नामक कहानी में प्रेमचन्द कहते हैं—"जब तक विचारों में गाम्भीर्य और सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास न हो उस समय तक केवल क्षणिक आवेशों के वशवर्ती होकर किसी काम में कूद पड़ना अच्छी बात नहीं है। 'प्रेमचन्द जीवन की सार्थकता यन्त्र की तरह जीने मरने में नहीं देखते और न केवल आर्थिक लाभ जुटाने में, धन संचय में देखते हैं। उनके अनुसार—"मनुष्यता को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा करना भी उसका फर्ज है। अगर यह नहीं है तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं "(प्रेमाश्रम)। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द का मुख्य उद्देश्य मानवीय मूल्यों का विकास है।

सम्बन्धों के निरूपण में भी प्रेमचन्द की नैतिक–धार्मिक–मानवतावादी दृष्टि उभरती है–उदाहरण के लिए नारी के चित्रण में जो अनैतिक स्वतन्त्रता ली गयी है उसे भोग्या रूप में प्राय: उपस्थित किया गया है उसका विरोध करते हुए वे कहते हैं—

"नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है।"

सच्चाई प्रेमचन्द की धार्मिक संवेदना के केन्द्र में है। शूद्र सच्चाई के पथ पर अडिग रहकर अपने धर्म का साक्ष्य दे जाता है—ब्राह्मण सच्चाई के पथ से विचलित होकर धर्म के रास्ते से हट जाता है। धर्म–अधर्म का निर्णय जातीय वर्चस्व के आधार पर नहीं, केवल कर्म के आधार पर किया जा सकता है। पाखंड के नाम पर प्रचारित धर्म की उन्होंने कठोर आलोचना की है।

---

*हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रेमचन्द किसी को ईश्वरोपासना के नाम पर शोषण की छूट नहीं देते। दरिद्र-नारायण की धारणा उनके अपने विचारों के निकट की चीज है। सत्याग्रह को गाँधी जी की धार्मिक संवेदना ने ही आविष्कृत किया था। गाँधी जी ने राजनीति में धार्मिक भावना का प्रयोग किया तो सत्याग्रह जैसा सिद्धान्त निकाला। वे जैसी तैसी राजनीति के पक्ष में नहीं थे। उद्देश्य के साथ ही साधन की पवित्रता भी गाँधी जी के लिए अर्थ रखती थी। प्रेमचन्द गाँधी जी के साथ हैं जब वे 'रंगभूमि' में सूरदास को निष्ठावान सत्याग्रही दिखाते हैं। आत्मबल का यह महत्त्वबोध गहरी नैतिक धार्मिक आस्था से विकसित होता है।

सेवा के आनन्द को प्रेमचन्द ने सच्चा पुरुषार्थ कहा है—"जिन्हें धन वैभव प्यारा है साहित्य मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की जरूरत है जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो। सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है।"

गोस्वामी तुलसीदास विनय-पत्रिका में बार बार अहंकार, द्वेष, क्रोध जैसी दुर्बल-ताओं से ऊपर उठने का संकल्प करते हैं। प्रेमचन्द भी अपने निबन्ध "जीवन में साहित्य का स्थान" में लिखते हैं—"अहंकार क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियां हैं। यदि हम इनको बे रोक टोक चलने दें तो निस्सदेह वे हमे नाश और पतन की ओर ले जाएगी। इस लिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है जिससे वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें।"

प्रेमचन्द किसी अर्थ में भाग्यवादी नहीं हैं। वे इतिहास को अन्धगति का खेल नहीं मानते हैं तो केवल इसलिए कि मनुष्य, उसका कर्म, उसकी जिजीविषा, उसका आत्मबल उनकी दृष्टि में महत्वपूर्ण है—मनुष्य ही इतिहास को गति और दिशा दे सकता है। इस प्रकार प्रेमचन्द का धर्म मानवधर्म है।

प्रेमचन्द को नास्तिक बताने के लिए उन्हीं के शब्दों का उन्हीं के कथनों का हवाला दिया जाता है–बिना यह देखे हुए कि इन कथनों का प्रयोजन एवं संदर्भ क्या है–उदाहरण के लिए जब प्रेमचन्द जैनेन्द्र से कहते हैं–"जैनेन्द्र ! लोग ऐसे समय याद किया करते हैं ईश्वर को, मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है। "उनका मन्तव्य यही है कि उन्होंने कर्म की प्रधानता स्वीकार की है। कर्म मनुष्य को ही ईश्वर बनाने की क्षमता रखता है। उनकी इस मान्यता में ईश्वर का अनादर नहीं है–अपने भीतर के ईश्वर को जगाने का आग्रह है।

हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति जैसे विभाजनों में प्रेमचन्द का धर्म सीमित नहीं है। इस अर्थ में वे मलिक मुहम्मद जायसी जैसे सूफी साधकों की परम्परा में है जिन्होंने ऊपरी सांस्कृतिक विभाजनों को मिटाकर मनुष्य की उदार व्यापक धार्मिक संवेदना का प्रमाण दिया था। प्रेमचन्द का मानवतावाद लोक मंगल की भावना से प्रेरित है।

'प्रेमाश्रम में उन्होंने एक स्थान पर धर्मविहीन शिक्षा की आलोचना की है। राय-साहब ज्ञानशंकर से कहते हैं–"यह तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारी धर्म विहीन शिक्षा का दोष

है। तुम्हें आरम्भ से ही भौतिक शिक्षा मिली है। तुम्हारे आत्मिक विकास की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, तुमने धर्म और भक्ति का प्रकाश कभी नहीं देखा, जो मन पर छाये हुए तिमिर को नष्ट करने का साधन है।' 'लागडाँट' कहानी में धार्मिक शिक्षा से ही सदाचार की संभावना बतायी गयी है।

इसलिए प्रेमचन्द की अपनी धार्मिक संवेदना और मानवतावादी दृष्टि को उचित परिप्रेक्ष्य में रखने की आवश्यकता है। कठिनाई यह है कि आज के भौतिकतावादी उनकी प्रासांगिकता को बहुत सीमित विचार फलक पर रखना चाहते हैं। भारतीय परम्परा में लेखक से बड़ी अपेक्षाएँ की गयी हैं। वह सत्य का अनुसंधान करने वाला, समाज को दिशा देने वाला लोकहित का पोषक कहा गया है। प्रेमचन्द उसी परम्परा के लेखक हैं–उनकी प्रतिभा को खंडित करना दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा।

प्रेमचन्द का अनुभव है कि धर्म के प्रतीक बदल सकते हैं—प्रवृत्ति नहीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस पर भी विचार किया है कि बदले हुए समय में किस प्रकार के धर्म की आवश्यकता है, उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ईश्वर मन्दिर या मूर्ति में नहीं है न उसे व्रत और अनुष्ठान से पाया जा सकता है। उसकी प्राप्ति केवल सेवा से सम्भव है। सेवा ही सर्वोच्च धर्म है। अपनी कहानी 'स्मृति का पुजारी' में वे लिखते हैं—"मेरी कसौटी तो है मानवता जिस धर्म में मानवता को प्रधानता दी गयी है बस उसी धर्म का मैं दास हूँ।' इस प्रकार सर्व धर्मसमन्वय की भावना ही प्रलक्षित रूप से प्रेमचन्द के विचारों के पीछे सक्रिय है। धर्म का निषेध या अवमूल्यन उनका प्रयोजन नहीं।

आस्था ही धर्म का मुख्य आधार है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द के शब्द हैं–"हमें आँखें बन्द करके नारायण पर भरोसा करते हुए धर्म मार्ग पर चलते रहना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति आस्थावान होगा चाहे वह हिन्दू हो मुसलिम हो या ईसाई हो उसके जीवन में अवश्य ही शान्ति होगी।" 'प्रेरणा' में सूर्यप्रकाश के शब्द हैं–' मैं ईश्वर का उपहास किया करता था, मगर अब पक्का आस्तिक हो गया हूँ।"

रंगभूमि की सोफिया ईसाई होते हुए भी हिन्दू धर्म पर जान देती है। उसका अनुभव है–"जो आत्मिक शान्ति मुझे और कहीं नहीं मिली, वह गोपियों की प्रेमकथा में मिल गयी।"

प्रेमचन्द धार्मिक आस्था, विज्ञान, मानवता और नीति में सामंजस्य के पक्षधर हैं, यह दृष्टि उन्हें गाँधी से मिली थी और उसे उन्होंने अपने भावगम्यक ज्ञान तथा जीवनानुभव से पुष्ट किया था।

———

प्रेमचन्द एक विवेचन

डॉ० अनूप कुमार *

अपने देश में प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी के अवसर पर साहित्यकारों के साथ-साथ जन सामान्य में जो अपूर्व उत्साह दिखाई दे रहा है, वह निश्चित रूप से सारे देश के भविष्य के लिए शुभ सूचक है। इस अवसर पर आए दिन कहीं समारोह हो रहे हैं, कहीं गोष्ठियाँ आयोजित की जा रही हैं, तो कहीं किसी विषय को लेकर परिचर्चाएँ हो रही हैं। इस प्रकार के आयोजनों के अवलोकन से एक मुख्य बात उभर कर सामने आती है कि बहुत शोर शराबा करने के बाद भी प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया और उनके कृतित्व की न्यायपूर्ण परख के प्रति प्रायः उपेक्षा की गई है। पूरी शक्ति लगाकर मार्क्सवादी उन्हें मार्क्स का कट्टर अनुयायी सिद्ध करना चाहते हैं, समाजवादी अनेकानेक तर्क देकर उन्हें समाजवाद का सच्चा समर्थक सिद्ध करना चाहते हैं गांधीवादी उनके कृतित्व से उद्धरण देते हुए उन्हें गाँधीवाद के सिद्धान्तों का कुशल व्याख्याता मानते और मनवाने के प्रयास में लगे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी लोग अपने-अपने 'वाद' का चश्मा लगाकर प्रेमचन्द को देखने का प्रयास कर रहे हैं। टुकड़ों में बांटकर प्रेमचन्द को अपने-अपने खेमे में घसीटने का षड्यंत्र हमें आए दिन देखने को मिलता है। वास्तव में महान रचनाकार 'वादों' के घेरे में सिमट कर नहीं रह सकता। वह स्वस्थ सिद्धांतों से प्रभावित होकर भी उनसे आक्रांत नहीं होता बल्कि उसका विराट व्यक्तित्व (विभिन्न प्रभावों को ग्रहण करने के बाद भी) एक प्रकाश-स्तम्भ बनकर आलोकित होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर हमें चाहिए कि प्रेमचन्द का मूल्यांकन उनकी समग्रता में करें।

प्रेमचन्द आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिक हैं अथवा नहीं, इस विषय को लेकर बहुत सी परिचर्चाएँ आयोजित की गयीं, अनेक लेखकों ने इस विषय पर लेख भी लिखे। जो रचनाकार जन-मानस पर पूरी तरह से छा गया है, हम जिस लेखक की जन्म-शताब्दी इतने उत्साह से मना रहे हैं, हम उसी की प्रासंगिकता की खोज कर रहे हैं। यह एक विडंबनापूर्ण विरोधाभास है। वस्तुतः महान रचनाकार प्रत्येक काल में प्रासंगिक होता है। दूसरे शब्दों में कोई रचनाकार इसीकारण से महान होता है क्योंकि उसकी प्रासंगिकता कभी समाप्त नहीं होती।

दूसरी मुख्य बात यह है कि यदि हम किसी रचनाकार का यथार्थ रूप में सम्मान करना चाहते हैं, तो हमें उसके कृतित्व के गुण-दोषों का विवेकपूर्ण उद्घाटन करना होगा, उसकी रचना-प्रक्रिया के विकास का अध्ययन करना होगा। प्रेमचन्द की रचना प्रक्रिया के विकास को देखने पर यह विदित होता है कि किसी-किसी कहानी में उन्होंने शिल्पगत असावधानी दिखाई है। इसका निरूपण, उनकी रचना-प्रक्रिया के विकास के सन्दर्भ में, अनिवार्य

* 21, कूचा, राय गंगा प्रसाद कल्याणी देवी, इलाहाबाद—3

सा प्रतीत होता है। प्रेमचन्द की सुप्रसिद्ध कहानी 'मंत्र' का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। डॉक्टर चड्ढा का युवा पुत्र कैलाश सर्प द्वारा काट लिये जाने पर मरणासन्न दशा में है। कोई व्यक्ति मंत्र द्वारा उसके उपचार के लिए आता है, किन्तु कैलाश की सूरत देखकर उसे मंत्र का प्रयोग करने का साहस न हुआ। वह बोला—"अब क्या हो सकता है सरकार जो कुछ होना था हो चुका।" उसके इस कथन पर क्षुब्ध होते हुए डा० चड्ढा कहते हैं—"अरे मूर्ख, यह क्यों नहीं कहता कि जो कुछ न होना था, हो चुका। जो कुछ होना था, वह कहाँ हुआ? माँ-बाप ने बेटे का सेहरा कहाँ देखा! मृणालिनी का कामना-तरु क्या पल्लव और पुष्प से शोभित हुआ? मन के स्वर्ण-स्वप्न जिनसे जीवन का आनन्द स्रोत बना हुआ था, क्या पूरे हो गए? जीवन के नृत्यमय तारिका-मंडित सागर में आमोद की बहार लूटते हुए क्या उसकी नौका जलमग्न नहीं हो गयी। जो न होना था, वह हो गया!" इस कहानी के आगे के वर्णन में एक स्थल पर जब भगत मंत्र द्वारा कैलाश के उपचार हेतु आता है, तो डा० चड्ढा उससे कहते हैं—"चलो देख लो मगर तीन-चार घंटे हो गये। जो कुछ होना था, हो चुका।"

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिस कथन पर डा० चड्ढा ने आपत्ति की थी, उसी कथन को वे उसी प्रसंग में स्वयं क्यों कह रहे हैं? कहानीकार यहाँ शिल्प-विधान में असंगति कर गया। यदि ध्यान से देखा जाए, तो मालूम होगा कि डा० चड्ढा का उस कथन पर आपत्ति करना अनुचित था। कहानीकार ने गद्य-भाषा में काव्यात्मकता का समावेश करने के उद्देश्य से उक्त कथन को डा० चड्ढा से कहलाया जिसकी वहाँ कोई आवश्यकता न थी। इसी कहानी की एक अन्य असंगति भी द्रष्टव्य है। कहानीकार लिखता है कि दो बज गये थे। मेहमान विदा हो गये। इसके कुछ आगे वह विवरण देता है कि कहारों की संख्या अधिक न थी, इसलिए मेहमानों ने अहाते के बाहर कुएँ से पानी भर-भरकर कहारों को दिया, मृणालिनी कलसा लिये पानी ला रही थी।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब सारे मेहमान विदा हो गये तो वे किस प्रकार कुएँ से पानी भर-भरकर लाते हैं। इस प्रकार की असंगतियों का अध्ययन प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया के विकास की स्थितियों को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुछ लोगों को इस पर आपत्ति हो सकती है और वे कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर उनकी शिल्पगत त्रुटियों का उल्लेख अनुचित होगा। इस आपत्ति के सम्बन्ध में पुनः यही कहना होगा कि जब तक हम किसी रचनाकार की कृति की न्यायपूर्ण परख नहीं करते अथवा उसकी त्रुटियों को देखकर भी अनदेखी करते हैं, तब तक हम उस रचनाकार का वास्तविक सम्मान नहीं कर सकते। महान रचनाकार हमसे अपने सम्पूर्ण कृतित्व के गुण-दोष-विवेचन की अपेक्षा करता है।

प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी वर्ष में श्री उदयशंकर शास्त्री ने यह तथ्य उद्घाटित किया, "सम्पादकों ने भूल से प्रेमचन्द जी के नाम के साथ मुंशी जोड़ना आरम्भ कर दिया। यह भ्रम इसलिए उत्पन्न हुआ कि 'हंस' पर सम्पादक के नाम के स्थान पर 'मुंशी-प्रेमचन्द' छपता था यह मुंशी कन्हैयालल माणिकलाल मुंशी की अल्ल थी।" (उत्तर-प्रदेश, मासिक,
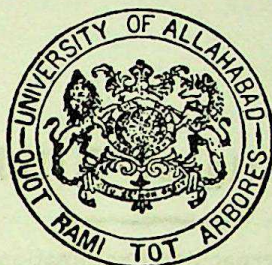
Bachelor of Arts.

This is to Certify that Dhanpat Rai Srivastava

obtained the degree of Bachelor of Arts in this University in the Examination of 1919 ; and that he was placed in the Second Division.

The subjects in which he was examined were English Literature, Persian and History

University of Allahabad:
The 22 November, 1919.

T. C. Pazzitt.
Vice-Chancellor.

No. 36

University of Allahabad

Special Vernacular Examination, 1904.

(Under Regulation 59 of the Regulations in Arts.)

Roll No. 46

I certify that Dhanpat Rai Srivastava
Allahabad Training College ~~or School~~,
passed the Special Vernacular Examination held in the month of
March, 1904. in Urdu & Hindi

Allahabad
The 4th May, 1904.

Dodd,
Registrar

जुलाई 1980, पृ० 129)। यदि शास्त्री जी तनिक विशेष ध्यान देते तो उन्हें ज्ञात होता कि कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के साथ 'हंस' के सम्पादन (अक्टूबर 1935) का कार्य आरम्भ करने के काफी पहले से ही प्रेमचन्द के नाम के साथ 'मुंशी' जोड़ा जाने लगा था। इसके प्रमाण में सर्वप्रथम 10 जून 1909 के उस पत्र को देखना होगा जिसमें प्रेमचन्द (धनपतराय) को हमीरपुर का सब डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स नियुक्त करने का आदेश था। उसमें उल्लिखित एक वाक्य में 'मुंशी' शब्द आया है। वाक्य इस प्रकार है–दी मुंशी शुड बी आस्क्ड टू रिपोर्ट हिमसेल्फ टू दी चेयरमैन डिस्ट्रिक बोर्ड हमीरपुर ऐट ए वेरी अर्ली डेट। (द्रष्टव्य-फोटो स्टेट कापी)। नवम्बर 1928 की 'माधुरी' में प्रेमचन्द की पुस्तक'अग्नि-समाधि तथा अन्य कहानियाँ' का विज्ञापन छपा था जिसमें एक वाक्य में 'मुंशी जी की कहानियों के जितने संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उन सब संग्रह में यह सर्वश्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचन्द के नाम के पहले जोड़ा जाने वाला 'मुंशी' शब्द उन्हीं का है, न कि कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का।

प्रेमचन्द की जन्म शताब्दी के अवसर एक महती आवश्यकता यह है कि उनकी समस्त रचनाओं की सही प्रकाशन-तिथियां प्रस्तुत की जाएँ। इस सम्बन्ध में डा० कमलकिशोर गोयनका की नवीनतम पुस्तक 'प्रेमचन्द' ('हिन्द पाकेट बुक्स' से प्रकाशित) काफी महत्त्वपूर्ण है। गोयनका जी ने इस पुस्तक में प्रेमचन्द के उपन्यासों, कहानियों की प्रकाशन तिथियों का विस्तृत उल्लेख किया है किन्तु कुछ स्थलों पर भ्रांतियाँ मिलती हैं जिनका निराकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उन स्थलों को उपेक्षित कर देने से गलत बातें इतिहास का अंग बन जायेंगी। उक्त पुस्तक में लेखक ने 'मुक्तिधन' कहानी के प्रकाशन की तिथि मई 1925 दी है, किन्तु यह कहानी 'माधुरी' के 30 अप्रैल 1925 के अंक में छपी है। लेखक ने 'अभिलाषा' कहनी की प्रकाशन–तिथि अक्टूबर 1928 बतायी है, जब कि यह कहानी नवम्बर 1928 की 'माधुरी' में छपी थी। इसी प्रकार 'विद्रोही' कहानी की प्रकाशन तिथि नम्वबर 1928 बतायी गयी है, जब कि यह दिसम्बर 1928 को 'माघुरी' में छपी थी। इसी पुस्तक में 'मन्दिर और मसजिद' कहानी की प्रकाशन–तिथि अप्रैल 1925 दी गयी है, किन्तु यह कहानी 31 मार्च 1925 की 'माधुरी' में छपी थी।

प्रेमचन्द की कुछ कहानियों के शीर्षकों में भी भ्रांतियाँ मिलती हैं। गोयनका जी की पुस्तक में प्रेमचन्द की एक कहानी का शीर्षक दिया गया है–'सुहाग का शव'। 'माधुरी' में यह कहानी 'सोहाग का शव' शीर्षक से छपी थी। इसी तरह प्रेमचन्द की कहानी 'डपोर संख' है न कि 'ढपोर शंख' जैसा कि 'प्रेमचन्द' नामक पुस्तक में उल्लिखित है।

इन भ्रांतियों को दूर करके ही हम प्रेमचन्द के साहित्य के प्रति न्याय कर सकेंगे अन्यथा ये भूलें कालान्तर में अनेक, अन्य भूलों को जन्म देंगी।

———

From

J. W. Bacon Esq. M. A.,
Inspector of Schools
Allahabad Division,
Allahabad.

To

The Head Master,
District School,
cawnpore.

So $\frac{791}{xx11-4}$ dated allahabad the 10Th June 1909

Has the honour to inform him that the chairman, District Board Hamirpur has appointed M. Dhanpat Rai, 9th master District School, cawnpore as Sub-Deputy Inspector of Schools Hamirpur on probation. The Munshi Should be asked to report himself to the chairman District Board Hamirpur at a very early date.

(Sd.) J. W. Bacon M. A.
Inspector of Schools,
allahabad Dn. united Provinces

True Copy

प्रेमचन्द की सांस्कृतिक देन

निधि शर्मा *

साहित्य जनसंस्कृति का पोषक होता है । जनसंस्कृति के निर्माण व विस्तार में कथासाहित्य का विशेष स्थान होता है । शैशव से ही मानव कहानियों के माध्यम से बोलना और व्यवहार करना सीखता है अतः कहानियां शिशुमन पर संस्कारों के रूप में अमिट छाप छोड़ती हैं । इस प्रकार कथासाहित्य न केवल जनसंस्कृति का निर्माण करता है अपितु उसका पोषण कर उसे सदियों तक सुरक्षित रखता है । समाज की उन्नति और अवनति का दायित्व उस युग के कथा-साहित्य का भी होता है । प्रेमचन्द से पूर्व का साहित्य दिशा-हीन था । उस समय तिलिस्मी, जासूसी और रोमांटिक रचनाएँ ही प्रमुख होती थीं । ऐसे ही समय में युग प्रवर्त्तक साहित्यकार के रूप में प्रेमचन्द का आगमन हुआ । उन्होंने जन संस्कृति से युगों से वियुक्त साहित्य का युग जीवन से योग कराया । अंग्रेजों तथा सामन्ती व्यवस्था के शिकंजे में जकड़ी सभ्यता व संस्कृति का आवरण-खोल उसे साहित्य के माध्यम से एक स्वस्थ दिशा प्रदान की ।

राष्ट्र की उन्नत्ति के लिए उसकी सांस्कृतिक महत्व के तथ्य को सामने रखकर प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के माध्यम से देश की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण किया तथा उसे जन-जन तक पहुंचाने का स्तुत्य प्रयास किया । उन्होंने चिरउपेक्षित 'लघुमानव' की अपने साहित्य में प्रतिष्ठा की । उन्होंने जनसाधारण को, निर्बलों, उत्पीड़ित अछूतों, स्त्रियों तथा शोषित वर्ग को साहित्य में प्रमुख स्थान दिया इस प्रकार पराधीनता, शोषण, अत्याचार, अन्याय और रूढ़िवाद के प्रति पाठकों के मन में आक्रोश जगाकर उन्हें अधिकारों तथा स्वतन्त्रता के लिए लड़ना सिखाया ।

प्रेमचन्द का 'सेवा सदन' हिन्दी साहित्य में एक सर्वथा नवीन दिशा लेकर आया । उनकी साहित्यिक कृतियों में एक नवीन आदर्श की प्रतिष्ठा हुई तथा वह जीवन की समग्रता को व्यक्त करने का सशक्त साधन बनीं ।

अंग्रेजी शासन व सभ्यता के प्रभाव से तथा हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों, धार्मिक आडम्बरों, एवं अन्धविश्वासों के बौद्धिक विद्रोह से हमारे अन्दर जो शिक्षा, धर्म, संस्कृति एवं आचार विचार सम्बन्धी हीनता आ गई थी, राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उसके उन्मूलन का प्रयास तो राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महादेव गोविन्द राना-डे तथा लोकमान्य तिलक आदि मनीषी बहुत पूर्व ही कर चुके थे, किन्तु साहित्य के माध्यम से उसी कार्य को विस्तार देने का बीड़ा सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही उठाया । तत्पश्चात अनेक साहित्यकारों ने उसमें सहयोग दिया जिसके फलस्वरूप हिन्दू समाज

* शोधछात्रा, आगरा विश्वविद्यालय

में एक नवीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ। हमारा सुषुप्त आत्मविश्वास और आत्मगौरव जग पड़ा।

राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी का उदय एवं उनके द्वारा प्रेरित सत्याग्रह आन्दोलन ने अपने स्वत्व के लिए सघर्ष की एक नितान्त नूतन प्रणाली दी। प्रेमचन्द के साहित्य में भी युग की क्रान्तिकारी चेतना की स्पष्ट छाप थी। सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही कल्पना, रोमांस, एवं चमत्कार प्रदर्शन के इन्द्रजाल से विमुक्त कर साहित्य को सामाजिकता एवं यथार्थता की कठोर भूमि पर उतार कर सच्चे अर्थों में युग का प्रतिनिधित्व किया।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रादुर्भूत ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि के द्वारा सामाजिक स्तर पर कार्य हुए। गाँधी जी द्वारा प्रेरित जन आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्यों को आधार बनाकर उन्हें उपन्यास की कथावस्तु के रूप में क्रियान्वित करने का प्रयास प्रेमचन्द ने किया था। कुटुम्ब की विषमताएँ, नारी वर्ग की विभिन्न समस्याएँ, सामाजिक कुरीतियाँ, अन्धविश्वासों तथा शोषितवर्ग की समस्याओं, पूँजीपतियों व सरकारी कर्मचारियों के अत्याचारों को उन्होंने अपने साहित्य की कथावस्तु का प्रतिपाद्य बनाया।

प्रेमचन्द ने आदर्श को साहित्य की आत्मा माना इसीलिए देशभक्ति त्याग, सेवा, परोपकार की भावनाओं को उनके साहित्य में बल मिला। इसी आदर्श को अपना प्रतिपाद्य बनाने के लिए उन्होंने इतिहास का गहन अध्ययन किया। उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण स्वस्थ और प्रगतिवादी था। वह आदर्शवादी होते हुए भी पुनरुत्थानवादी नहीं थे। उन्होंने कभी प्राचीन वैभव का गुणगान नहीं किया। उन्होंने इतिहास सम्बन्धी अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—

"हमें तारीख से यह सबक न लेना चाहिये कि हम क्या थे, यह भी देखना चाहिये कि हम क्या हो सकते थे। अक्सर हमें तारीख को भूल जाना पड़ता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं बन सकता।'

यह विचार उनके स्वस्थ दृष्टिकोण के प्रतीक हैं। हर राष्ट्र की अपनी सांस्कृतिक परम्परा होती है जो आने वाली पीढ़ी को विरासत में मिलती है। इसी को संस्कृति कहते हैं। इसी संस्कृति की सम्पन्नता के कारण भारत को 'विश्वगुरु' का सम्मान मिला था।

प्रेमचन्द ने इतिहास दर्शन और साहित्य का तो अध्ययन किया ही था, किन्तु उन्होंने जनसाधारण के मध्य रहकर उनके दुख दर्द को समझकर उनकी आत्मा के साथ एकाकार होकर ही सब से अधिक सीखा। तभी तो संकीर्ण घरेलू परिस्थितियों से लेकर, समाज तथा राष्ट्र का कोई भी पक्ष उनकी दृष्टि से परे न था। मानवता के लिए उनके हृदय में बड़ा मोह और आसक्ति थी। वही आसक्ति जो विश्वात्मवाद की भित्ति है। इस दृष्टि से हम उनके साहित्य को 'प्रोलेटेरियन' या 'आर्त्त मानवता' का साहित्य कह सकते हैं। अपनी 'मंत्र' 'निडर' 'जलता मजार' तथा 'पूस की रात' आदि कहानियों में उन्होंने इसका स्पष्ट दिग्दर्शन

कराया है। उन्होंने जनता का दर्द समझने वाले को ही जनता का सच्चा प्रतिनिधि माना है। उन्हीं के शब्दों में—

"Intelligentsia में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता से ही आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत ही में रह सकते हैं। खादिम की सूरत में जनता के होकर नहीं रह सकते उनकी आवाज उनकी है, उसमें जन समूह की आवाज की गहराई और गम्भीरता नहीं। वे अपने प्रतिनिधि हैं जनता के प्रतिनिधि नहीं।"

उनके यही विचार उनके 'प्रेमाश्रम 'रंगभूमि' व 'कर्मभूमि' उपन्यासों में साकार होकर आये हैं। वे भारत की अपढ़, निरीह और मूक जनता की जबान बनकर आये हैं। उन्होंने संघर्षों से जूझना व अधिकारों के लिए लड़ना सिखाया तथा वर्त्तमान गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया।

आज भी हमारे देश में सामन्ती व्यवस्था कायम है। वह हमारे रग-रग में समाई हुई है। दूसरे की सलाह का आदर न करना, स्त्रियों को हीन समझना, निर्बलों पर अत्याचार करना; गरीबों से पशुता का व्यवहार करना, पिता द्वारा पुत्र की पिटाई करना तथा बड़े भाई का छोटे भाई को धमकाना आदि अहंवाद के ही विभिन्न रूप हैं। जिनका चिंतन प्रेमचन्द ने अपनी साहित्यिक कृतियों में किया है। 'बड़े भाई कहानी में भी इसका अत्यन्त सुन्दर चित्रण है। 'शतरंज के खिलाड़ी' तो अहंवाद की चरम विकृति का चित्रण करती है।

प्रेमचन्द को साम्प्रदायिकता से भी घृणा थी। उन्होंने इसका भी जमकर विरोध किया। हिन्दी और उर्दू के भेद को उन्होंने आजीवन स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से इसे एकरूपता देने का प्रयास किया। समाज की कुरीतियों का भी प्रेमचन्द ने जमकर विरोध किया। विधवा विवाह की समस्या को तो उन्होंने साहित्य में ही नहीं अपने जीवन में भी स्थान दिया। 'सभ्यता' को उन्होंने मन का संस्कार माना। उच्चशिक्षा प्राप्त तथा वैभव सम्पन्नता और उच्चस्तर का जीवन जीने वालों को उन्होंने शोपकों का वर्ग माना सभ्य लोगों का नहीं। 'सभ्यता का रहस्य' कहानी में उनका यह विचार देखा जा सकता है।

पूंजीवादी सभ्यता को उन्होंने 'महाजनी सभ्यता' की संज्ञा दी तथा इसी शीर्षक से उनका एक लेख उनकी मृत्यु के पश्चात 'हंस' में निकला था। जिसमें उन्होंने इस सभ्यता का अत्यन्त गम्भीर व विद्वतापूर्ण विवेचन किया है। यथा—

"जिनके पास पैसा है वह देवता स्वरूप हैं चाहे उनका मन अंतःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य संगीत और कला सब धन की देहली पर माथा टेकने वालों में है।"

धनवानों से प्रेमचन्द कभी समझौता नहीं कर सके एक पत्र में उन्होंने लिखा था।

"जो व्यक्ति धन सम्पदा में विभोर और मग्न हो उसके महापुरुष होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता......। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को,

उस सामाजिक व्यवस्था को जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है स्वीकार कर लिया है।"

उनके 'गोदान', 'कर्मभूमि' तथा अन्य कृतियों में इसी महाजनी-सभ्यता के विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा सामाजिक कुरीतियों पर गहरा प्रहार किया तथा यह विश्वास व्यक्त किया कि एक दिन अवश्य सत्य की विजय होगी और इस सभ्यता का अन्त होगा।

यही क्रांतिकारी विचार प्रेमचन्द की सांस्कृतिक देन है, जिन्होंने समाज तथा साहित्य को एक दिशा प्रदान की तथा जन-संस्कृति से वियुक्त साहित्य का पुनः लोक जीवन से योग कराकर युग का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने कभी पुरातनवादिता को स्वीकार नहीं किया हमेशा उस पर प्रहार ही किया तथा नवीन जनवादी सांस्कृतिक विकासशील चेतना का प्रतिपादन किया। अतः प्रेमचन्द हमेशा हमारे युगविशेष की सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक अग्रदूत के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे।

———

प्रेमचन्द के कथा–साहित्य में भारतीय समाज[1]

डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी *

सामान्यतया यह मान लिया गया है कि साहित्य और समाज में अभिन्नता या तादात्म्य है। समाज की प्रेरक शक्तियाँ साहित्य को प्रभावित करती हैं। फलतः 36 वर्षों तक प्रेमचन्द जी ने जिस कथा-साहित्य की रचना की वह उस समाज की अभिव्यक्ति है। इस स्थिति में प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य में प्रस्तुत समाज के लिए बीसवीं शती के प्रथम चार दशक के समाज की व्याख्या अनिवार्य हो जाती है। बीसवीं शती का भारत आधुनिक भारत का विकसित रूप है। उसकी मीमांसा उससे पूर्ववर्त्ती समाज के सन्दर्भ में ही सम्भव है।

प्रेमचन्द जी आधुनिक भारत के कथाकार हैं और आधुनिक भारतीय समाज पश्चिमी साम्राज्यवाद विशेषतया ब्रिटिश शासन की देन है। ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतवर्ष में मुस्लिम शासन पश्चिमोत्तर सीमा से आने वाले साम्राज्यवादी आक्रमणों की अन्तिम कड़ी था। जिस समय अंग्रेज भारतवर्ष में आये देश में हिन्दू-मुस्लिम जैसे समाज के स्थान पर भारतीय समाज विकसित हो रहा था। धर्म या सम्प्रदाय के स्थान पर दोनों समाजों का मूलाधार आर्थिक हो चुका था जिसमें हिन्दू और मुसलमान सावयव हो रहे थे। दोनों की गतिहीनता, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, सामाजिक विषमता, शोषण की प्रक्रिया, सामन्ती मिजाज एक हो चुके थे। इसी जड़वद्ध भारतीय समाज पर ब्रिटिश शासन की नींव पड़ी।

ब्रिटिश शासन से भारतीय समाज वर्गीय समाज के रूप में विकसित हुआ। मराठा साम्राज्य, दिल्ली से मद्रास की दूरी और बंगाल की विशेष राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति के कारण अंग्रेजों ने अपना व्यापारिक जहाज बंगाल में खड़ा किया। उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश थी, जो भारतीय बाजार की भाषा, चाह और मिजाज दे सके। इसी समय राजस्थान का व्यापारी दिल्ली से राजस्थानी राजपूतों की लड़ाई में लगातार आर्थिक सहायता देते-देते चुक गया था, उसे ऐसे व्यापारी की जरूरत थी जिसे पूंजी या उत्पादन के साधनों नहीं मात्र बुद्धि के आधार पर साझा कर सके। इन राजस्थानी एवं

---

1. 26-27 मार्च 1982 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने कला संकाय प्रेक्षागृह में प्रेमचन्द पर एक अखिल भारतीय गोष्ठी का आयोजन किया था। "प्रेम-चन्द का कथा साहित्य और भारतीय समाज" पर प्रथम दिवस की गोष्ठी में डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी जी ने विषय प्रवर्तन किया, जिसे 'प्रज्ञा' ने टेप कर लिया था। गोष्ठी में उपस्थित एवं उसकी चर्चा में शामिल लोगों के आग्रह पर हम उसे लिपिबद्ध कर प्रायः अविकल यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। सम्पादक

---

* राजनीतिशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

ब्रिटिश व्यापारियों के "मणि कांचन" संयोग ने कलकत्ता को जन्म दिया। राजस्थानी व्यापारी बिना पूंजी के, मात्र दलाली के आधार पर भारतीय पूँजीवाद के भविष्य की अगुआई शुरू करता है। यहीं से भारतीय समाज में दलाल-संस्कृति एवं आधुनिक भारतवर्ष की शुरुआत होती है, जिसका केन्द्र, बिन्दु कलकत्ता बनता है। कलकत्ता भारतवर्ष का फ्लोरेंस है।

इस दलाल-संस्कृति के साथ एक नया वर्ग जुड़ता है—बंगाल का सामन्त। बंगाली सामन्ती वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। ब्रिटिश शासन की प्रक्रिया को मजहबी रूप देने के कारण मुस्लिम सामन्त अंग्रेजी शासन के साथ उतना नहीं जुड़ते जितना हिन्दू सामन्त। यह वर्ग उच्च जातीय होने के नाते परम्परा प्राप्त शैक्षणिक योग्यता रखता था और उसने अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से अपने को आधुनिक बनाया। ब्रिटिश शासन के मुख्य अंग शिक्षा, न्याय और प्रशासन में शिक्षा के कारण इसने साझेदारी की। वकील, डाक्टर, इंजीनियर, पत्रकार सभी इस व्यवस्था से उत्पन्न होकर मध्यम वर्ग का निर्माण करते हैं। इस स्थिति में पूँजीपति, सामन्त, मध्यम वर्ग एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चौखट्टे ने नये भारतवर्ष को विकसित किया। नये भारतवर्ष के समाज में इनकी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। इसी चौखट्टे के पात्र एक होकर शोषण के साधनों के प्रतीक बनकर प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में आते हैं।

1857 में अवशिष्ट देशी रियासतों ने ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ाई लड़ी जिसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा जाता है। इस लड़ाई में अभी कहे गये उन अनेकों वर्गों ने ब्रिटिश शासन की सहायता की जो ब्रिटिश शासन से उत्पन्न हुए थे। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में पूँजीपति, सामन्त एवं मध्यम वर्ग भारतीय जनता और ब्रिटिश शासन के बीच में बिचौली का काम करते हैं। लेकिन क्रमशः वह सीधे भारतीय जनता के शोषण की ओर बढ़ता है। जब उन्हें खतरा महसूस होता है तब ब्रिटिश शासन की पुलिस, पलटन, कचहरी एवं नौकरशाही का वे उपयोग करते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इन चारों की साँठ-गाँठ साफ नजर आती है। इन नये उदीयमान शोषकों की जड़ मुस्लिम शासन के समय पैदा सामन्ती मध्ययुगीन प्रतिक्रियावादी सामाजिक घटकों में है, जो ब्रिटिश शासन के समय नया रूप धारण करते हैं। धर्म, संस्कृति, भूस्वामित्व, नारी-परतन्त्रता, किसान, कलाकार आदि के शोषण की प्रक्रिया चौदह सौ वर्षों में भारतीय समाज को स्पष्टतः दो भागों में बाँट देती है—1400 वर्ष पूर्व का भारतीय समाज और मानवतावादी सामाजिक व्यक्तित्व के ऊपर शोषण के विभिन्न घटकों के रूप में यथाकाल विकसित होने वाला समाज। दोनों की नैतिकता, संस्कृति, क्रिया-प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द का कथा-साहित्य है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने भारतीय समाज के जिन अंशों पर हमला किया वह मूल भारतीय नहीं, वह उस पर आयातित, आरोपित एवं परिस्थिति विशेष का परिणाम है। वे उसे तोड़कर मूल भारतीय सामाजिक व्यक्तित्व सामने लाना चाहते हैं।

अब सवाल यह है कि भारतीय समाज क्या है? इतना तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत भारतीय समाज का आरोपित अंश भारत का अपना नहीं है जब कि आधुनिक विद्वान् उसे

ही मूल भारतीय समाज मानकर उसकी दुर्व्यवस्थाओं को भारतीय समाज की मूल सम्पत्ति बना पूरे समाज को अस्वीकार कर देते हैं। यह खेदपूर्ण मनोवृत्ति भी पश्चिमी साम्राज्य-वादी बौद्धिकता से उत्पन्न हुई है। यह विश्लेषण प्रक्रिया साम्राज्यवादी हथियार बनकर भारतीय सामाजिक व्यक्तित्व की हत्या करती है। भारतीय पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन भी इस बौद्धिकता से प्रभावित होते हैं। राजाराम मोहनराय ब्रिटिश शासन को दैवी देन मानते हैं और पश्चिमीकरण को भारतवर्ष का सौभाग्य। उनके विवेकवादी एवं उदारवादी मूल्य पुनर्जागरण एवं सुधारवादी आन्दोलन की शुरुआत करते हैं किन्तु वे भारत के वास्तविक व्यक्तित्व को ओझल कर देते हैं। इसीलिए प्रेमचन्द राम मोहन राय के स्थान पर स्वामी दयानन्द एवं उनके आर्यसमाज से प्रभावित होते हैं।

दयानन्द की वेद के प्रति अतिवादिता, शुद्धि-संगठन के नाम पर प्रस्तुत साम्प्रदायि-कता, सार्वभौम आर्य राष्ट्र की कल्पना में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि को प्रेमचन्द स्वीकार नहीं करते। यहाँ वे विवेकानन्द और तिलक से प्रभावित होते हैं। गोखले के उदारवादी सुधारवाद और मध्ययुगीन समाज पर हमला करने के उनके तर्क का प्रभाव प्रेमचन्द पर पड़ता है। लेकिन वे ब्रिटिश शासन को दैवी देन मानने के लिये तैयार नहीं हैं। फलतः वे तिलक के उग्र राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते हैं जो भारतीय राजनीति को सामान्य जन के साथ जोड़ती है और उस समय महाराष्ट्र में किसान आन्दोलन की शुरुआत करता है जिस समय सोवियत रूस की क्रान्ति के पूर्वज मार्क्सवादी चिन्तन के कायल होकर इस बात पर बहस कर रहे थे कि क्रान्ति का नेतृत्व किसान नहीं मजदूर करेगा, क्योंकि किसान प्रगति विरोधी, रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी और सामान्य भू-स्वामित्व के मोह से ग्रस्त रहता है। आर्यसमाज, विवेकानन्द और तिलक के माध्यम से व्यक्त होने वाला भारतीय समाज प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की आधार भूमि प्रस्तुत करता है।

बीसवीं शती तक ब्रिटिश शासन से उत्पन्न पूंजीवादी, सामन्ती और मध्यमवर्गीय चरित्र अत्यन्त स्पष्ट होता है। यहाँ तक आते-आते भारतीय समाज का वह सीधे शोषण करने में समर्थ होता है। फलतः वह राजनीतिक शक्ति का उपयोग कर राजनीति से भी रिश्ता अपने स्वार्थ के साथ करता है। मध्यमवर्गीय राजनीतिक नेतृत्व में तीन वर्ग होते हैं। ब्रिटिश शासन के साथ दलाली, राजनीतिक सौदागिरी में दोहरी नैतिकता और राष्ट्रवादी प्रभाव के कारण संघर्ष की अगुआई सामन्ती समाज से आने वाले मध्यमवर्गीय चरित्र के प्रथम दो तत्व स्पष्ट हैं। इसी प्रकार सामन्ती समाज की भी दो संस्कृतियाँ सामने आती हैं। ब्रिटिश शासन से पूर्ववर्त्ती सामन्त में शोषण और ऐय्याशी है लेकिन वह उतना धूर्त, अर्थ काम-पिशाच, विश्वासघाती, कायर, कठोर और निर्दयी नहीं होता। "प्रेमाश्रम" का जटा-शंकर ब्रिटिश शासन के पूर्ववर्त्ती सामन्त का प्रतीक है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन का प्रतीक है ज्ञानशंकर। वह पैसे के महत्त्व को जानता है। भाई को हक नहीं देना चाहता। साली और जमींदारी दोनों को हड़पना चाहता है। किसान विरोध और उनसे संघर्ष में ब्रिटिश शासन का उपयोग करता है। वह जटाशंकर के समान शान-शौकत, नाम-गाँव का मिजाज स्वीकार नहीं करता।

इस मध्यमवर्गीय चरित्र का दोनों पक्ष प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया। उनके मध्यमवर्गीय पात्र दोहरी नैतिकता के प्रतीक हैं। उपदेश और व्यवहार में गम्भीर अन्तर है। उनकी सारी क्रिया का आधार है, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति। स्वयं 'कर्मभूमि' का अमरकान्त दिखावटी नेतृत्व का कायल है। जन-समस्या से उसका सम्बन्ध नहीं, स्वयं अपनी स्त्री सुखदा के शब्दों में वह भाषण देकर ही कर्तव्य मुक्ति चाहता है। बाहर से परिवर्तन, क्रान्ति एवं राष्ट्रीय मुक्ति की बात करता है। व्यवहार में यथा-स्थिति-वादी एवं समझौतावादी है। वह ज्ञानशंकर से ज्यादा मजा हुआ और साम्राज्यवाद की तकनीकि से जुड़ा आधुनिक सामन्ती राजनीति से पूर्ण परिचित एवं नौकरशाही के प्रयोग में माहिर है। जनता के सामने आत्मानन्द से भी अधिक क्रान्तिकारी बन जाता है। किन्तु सरकारी अफसरों के सामने दायित्व आत्मानन्द पर डालता है। गिरफ्तारी देता है तो सरकारी अफसरों की मिली भगत से। मुन्नी के शोर मचाने पर जनता एकत्र होती है तो लड़ने के तरीके एवं माध्यम पर नैतिक उपदेश देता है। वह जनता की भावना, उसकी शक्ति, सरकारी साधन, सभी का शोषण करता है और सभी के साथ रिश्ता बनाता है। समरकान्त अमरकान्त का बाप है। उसे भी प्रेमचन्द बेनकाब करते हैं। मध्यमवर्गीय नेतृत्व की दोहरी नैतिकता एवं उसके आधुनिक व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द जो चित्र सामने रखते हैं उसमें मध्यवर्गीय नेतृत्व की अनिवार्यता है किसान समस्याओं के साथ जुड़ना लेकिन उसका खोखलापन, निहित स्वार्थ, अस्थिर चित्त अन्ततः उसे मुखविर तक बना देता है।

इस मध्यम वर्ग का एक दूसरा पहलू है जो ब्रिटिश शासन से लड़ाई लड़ना चाहता है। उसे बिलायती शिक्षा प्राप्त है। प्रेमशंकर बिलायत से आता है, "प्रेमाश्रम" की स्थापना करता है। कहा जाता है कि वह 'प्रेमाश्रम' का गाँधी है। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की पृष्ठभूमि में जालियाँवाला बाग, 1917 की रूसी क्रान्ति, हिन्दू–मुस्लिम एकता, उदीयमान मध्यम वर्ग का नेतृत्व जैसे सवाल हैं। प्रेमचन्द के दोनों उपन्यास नारी और किसान समस्या के प्रतीक हैं। इस समस्या के समाधान में उन्होंने साम्यवादी समाधान ठुकरा दिया और "सदन" एवं "आश्रम" की सुधारवादी, गाँधीवादी समाधान स्वीकार किया। "प्रेमाश्रम" का बलराज जानता है कि रूस में किसान राज है, पंचायतें क्या कर रही हैं, मनोहर, बलराज और हरवाहा रंगी चमार एक साथ खाना खाने बैठते हैं, उनमें तादात्म्य है। गौस खाँ की बेदखली की धमकी के जवाब में मनोहर ललकारता है कि मेड़ पर कोई आया तो उसके बच्चे उसके नाम को रोएँगे। कादिर खाँ से सुक्खू लाठी उठाने को कहते हुए कहता है पट्ठे नहीं तो बुड्ढे तो हैं। लेकिन समाधान प्रेमचन्द का "सदन", "आश्रम" और हृदय परिवर्तन के रूप में होता है।

1920 में प्रेमचन्द मानते हैं कि सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, भ्रान्तिपूर्ण है। लेकिन यहाँ प्रेमचन्द को गाँधी के सत्य, अहिंसा और बोलोशेविक क्रान्ति दोनों के साथ जोड़ना भ्रान्तिपूर्ण है। प्रेमचन्द का किसान कभी भी अहिंसावादी नहीं होता, न तो वह वर्ग-संघर्ष का प्रतीक बनता है। बलराज को पकड़ कर कांस्टेबिल जब लाते हैं तो मनोहर उस पर बाज़ की तरह टूटता है। बिलसिया बलराज की माँ है। गौस खाँ की धमकी से

वह हटती नहीं। अन्ततः गौस खां की बदमिज़ाजी उसकी हत्या के लिए मनोहर को बाध्य कर देती है। बिलासी को विधवा होने में दुख नहीं क्योंकि उसने अन्याय के खिलाफ लड़ाई लड़ी। बलात्कृत मुन्नी दो फौजियों की हत्या करती है। अन्ततः समाज उसके साथ खड़ा होता है। अमरकान्त की पत्नी सुखदा हत्या का समर्थन करती है। मुन्नी (वेश्या) को वह देवी की प्रतिमा मानती है। "उसने सारी बहनों का मुख उज्जवल कर दिया।" मनोहर बलराज को कुल्हाड़ी पकड़ाता है। बलराज के लड़खड़ाने पर ललकारता है, महाबीर का नाम ले कुल्हाड़ा कन्धे पर रख, आत्मबल मिलेगा। 'रंगभूमि' का सूरदास उन तमाम ताकतों के साथ अकेले लड़ता है जो मुस्लिम और ब्रिटिश साम्राज्यवादी, सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्था की देन हैं। यहाँ प्रेमचन्द ने शताब्दियों से जूझने वाले भारतीय नारी एवं किसान पात्रों प्रस्तुत किया है न कि गांधीवाद एवं साम्यवाद की व्याख्या की है।

उन्होंने मध्यमवर्गीय साम्यवादी पात्रों को भी बेनकाब किया। "हार जीत" कहानी में प्रोफेसर हरिदास भाटिया धन के कायल हैं- साथ ही साम्यवादी भी हैं। शारदाचरण का साम्यवाद स्कूली रोमांस तक था। जिस बलराज की उक्ति पर प्रेमचन्द को साम्यवाद के साथ जोड़ा जाता है वह मजदूर नहीं, किसान और वह भी भारतीय किसान है। मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार मजदूर को वह बात कहनी चाहिए थी जो प्रेमचन्द के किसान ने कही। वस्तुत प्रेमचन्द 'सेवा सदन'; 'प्रेमाश्रम' 'कर्मभूमि' 'रंगभूमि' एवं 'गोदान' में साम्यवाद के प्रतिवाद में भारतीय समाज का व्यक्तित्व प्रस्तुत करते हैं। "रंग भूमि" का सूरदास साम्यवादी आक्षेप का अकेले उत्तर है। वह अटल भारतीय किसान का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रकट ही नहीं करता बल्कि कारखाना संस्कृति, औद्योगीकरण एवं वैज्ञानिक समाज के अन्तर्निहित दुराचार को भी व्यक्त करता है। "कम्यून" की जिन्दगी के जवाब में भिखारी होते हुए भी आत्मगौरव के साथ कहता है कि "भूमि बाप दादों की यादगार है"। सूरदास की लड़ाइ भूमि पर व्यक्तिगत स्थायित्व के औचित्य में है जिसे छीनने के लिए चौदह सौ वर्षों से लड़ाई स्पष्ट रूप से चल रही है और सूरदास महान् आशावादी के रूप में ललकारता है "हार हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेगें और एक न एक दिन हमारी जीत अवश्य होगी।" मिठुआ लड़खड़ाकर कहता है "सौ लाख बार घर में आग लगाये तो" सूरदास ढाढ़स बँधाता है" हम भी सौ लाख बार घर बनायेगें।" अपनी आपसी फूट से सूरदास मरता है जिसे मानता है कि" हम फिर खेलेगें, जरा दम ले लेने दो"। यह भारत का किसान है न कि मार्क्स, लेनिन और स्तालिन का। इसके साथ गांधी ज्यादा जुड़ते हैं क्योंकि वे ज्यादा भारतीय हैं।

मध्ययुगीन वे संस्थाएं जो भारतीय व्यक्तित्व की स्तम्भ थीं, मध्ययुगीन मुस्लिम एवं ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ नाता जोड़ कर एक तरफ से खोखली, आडम्बरपूर्ण और भारतीय सामाजिक चरित्र से कट रही थीं और दूसरी तरफ पूंजीपतियों, सामन्तों एवं ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ आत्मसमर्पण कर उपहासास्पद हो रही थीं। इन पर प्रेमचन्द ने गहरा आक्रमण किया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं, ब्राह्मण। इन चौदह सौ वर्षों में कर्मकाण्ड, आडम्बर, अस्पृश्यता, असामाजिक नैतिकता, लोक- धर्म के व्यापारीकरण आदि

के साथ ब्राह्मणों का जो रूप सामने आया उन पर प्रेमचन्द सब से अधिक आक्रमण इसलिए करते हैं कि वह श्राद्ध भोजी, दक्षिणाग्राही, अर्थलोलुप, दरबारी, चाटुकार, विदूषक बन गया है, जब कि वे अपेक्षा करते हैं इस ब्राह्मण कि भारत के वास्तविक व्यक्तित्व के जूझने का उसका दायित्व अधिक है । कर्त्तव्यच्युत होने पर निन्दा भी अधिक है । यदि स्तम्भ गिर जाते हैं तो छत गिरने में देर नहीं लगती । इस प्रकार का ढोंगी ब्राह्मण चौदह सौ वर्षों में पैदा हुआ । इसी प्रतीक पर प्रेमचन्द भी आक्रमण करते हैं ।

वस्तुतः प्रेमचन्द की कुछ मूलभूत मान्यताएँ हैं । वह किसी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, एवं धार्मिक, शोषण स्वीकार नहीं करते । शोषण के माध्यमों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उसका सही चेहरा सामने लाते हैं और उन पर लड़ने के लिए नेतृत्व जहाँ से आता है उसके साथ अपने को जोड़ते हैं। गोखले इस लड़ाई में उदार होते हैं और ब्रिटिश शासन को दैवी देन मानते हैं तो प्रेमचन्द तिलक के साथ जुड़ते हैं । तिलक माँडले से लौटने के बाद होम रूल आन्दोलन करते हैं और असेम्बली में जा कर लड़ाई की बात करते हैं तो वे असेम्बली में काम करने वाले मध्यमवर्गीय चरित्र को बेनकाब करते हैं और गाँधी जी की ओर मुड़ते हैं । गाँधी कांग्रेस को मध्ययुगीन और साम्राज्यवाद विरोधी तो बना पाते हैं उसके आगे नहीं जा पाते । प्रेमचन्द की लड़ाई मध्ययुगीन आडम्बरों और साम्राज्यवादी ताकतों के आगे पूंजीवादी और सामन्तवादी ताकतों के खिलाफ है, इतने अंश में वे गाँधी को अधूरा मानते हैं । यहाँ वे गाँधी जी से आगे की मंजिल की तलाश करते हैं ।

यह कार्य पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया । उन्होंने 1927 से कांग्रेस के साथ समाजवादी कार्यक्रम जोड़ा । वे राष्ट्रीय आन्दोलन को मध्ययुग विरोध और साम्राज्यवाद विरोध से आगे ले जाकर उसे सामन्तवाद एवं पूंजीवाद के खिलाफ लड़ाई में खड़ा करते हैं । उनसे 1927-1937 तक भारतीय समाज को सर्वांगीणता पूर्ण होती है । 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द, राजा, तालुकेदार, पूंजीपाति, अंग्रेज हाकिम, किसान, मजदूर आदि को सामने लाते हैं । 'कर्मभूमि' की मुख्य समस्याएँ हैं—जमीन, लगान, किसान का भूस्वामित्व, अस्पृश्यता आदि । यही कांग्रेस के कार्यक्रम हैं । 'कर्मभूमि' में किसान, मजदूर, छात्र एक होकर आन्दोलन में सामने आते हैं । गाँव एवं बाहर के अन्तर्द्वन्द आर्थिक आधार पर व्यक्त होते हैं । किसान, मजदूर, मध्यमवर्ग एवं छात्र एकता की ओर बढ़ते हैं । उनमें नयी सामाजिक आर्थिक चेतना व्यावहारिक रूप धारण करती है । 'गोदान' की समस्या कर्ज है, लेकिन उसमें आधुनिक भारतीय समाज कि समग्रता सामने आती है ।

प्रेमचन्द पर एक सतही आक्षेप यह है कि उनके उपन्यासों में पात्रों की संख्या अधिक है । लेकिन भारतीय समाज के जितने व्यापक परिवेश को वे समेटते हैं और भारतीय समाज बीसवीं शताब्दी में जितनी व्यापक सीमा में फैलता है उसके लिए अनिवार्य है कि उसमें भारतीय समाज के दोनों पक्ष सामने आयें । एक तरफ भारतवर्ष के शताब्दियों का सामाजिक व्यक्तित्व है जिसे धरती का व्यक्ति विशेषतया किसान ढो रहा है, जिसे प्रेमचन्द जी सुमन, मुन्नी, मनोहर, बलराज, सूरदास, होरी आदि के माध्यम के व्यक्त करते

हैं। दूसरी तरफ इस पर आयातित, आरोपित एवं लदा हुआ सामन्ती पूँजीवादी, साम्राज्य-वादी, मध्यमवर्गीय उदीयमान वर्ग है जो इनका शोषण करता है। इनके शोषण में मध्य-युगीन समाज की नैतिकता, धर्म, संस्कृति, कर्मकाण्ड, महन्त, पण्डित, पुजारी आदि हैं। साथ ही इसी मध्यमवर्ग से राष्ट्रिय चेतना भी उठती है, जिसमें प्रेमशंकर, प्रोफेसर मेहता वगैरह हैं जो मूल भारतीय समाज के किसानों को सामाजिक मुक्ति के संग्राम में सहकार प्रस्तुत करते हैं। इतने सारे प्रतीकों को व्यक्त करने में पात्रों की बहुलता अनिवार्य है। इस बहुलता में भी प्रतिपाद्य विषय की दो टूक स्थापना प्रेमचन्द की अपूर्व विशेषता है। प्रेमचन्द उस पूरे आयाम में मूल भारतीय समाज की वह अन्तर्निहित मानववादी क्षमता व्यक्त करते हैं जो सौ लाख बार ध्वस्त करने पर भी सौ लाख बार बनी और दम लेकर नये भारत के निर्माण में शोषण-मुक्त समतावादी राष्ट्रिय, जनतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज को जन्म देती है।

———

प्रेमचन्द की साहित्यिक दृष्टि और रंगभूमि

डॉ० श्री निवास पाण्डेय *

श्रेष्ठ रचनाकार की निजी साहित्यिक-दृष्टि होती है, जिससे अनुप्रेरित होकर वह रचना करता है। अपने अध्ययन-मनन एवं सृजन के दौरान वह साहित्य के कुछ विशिष्ट प्रतिमानों का निर्धारण करता है। प्रायः उसकी रचना की समीक्षा के सन्दर्भ में उसकी मान्यताओं को अनदेखा कर दिया जाता है, जिससे उस रचना या रचनाकार के प्रति उचित न्याय नहीं हो पाता। इसलिए एक समीक्षक का कर्तव्य है कि वह किसी कृति की समीक्षा करते समय इन तथ्यों को भी ध्यान में रखे। ऐसी स्थिति में समीक्षा समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होगी। अतः "रंगभूमि" की समीक्षा प्रेमचन्द की साहित्यिक-दृष्टि के सन्दर्भ में अपेक्षित है।

क्या स्वयं प्रेमचन्द ने "रंगभूमि" उपन्यास के बारे में कहीं कुछ कहा है? उनके साहित्यिक प्रतिमानों की दृष्टि में "रंगभूमि" का कौन सा स्थान निर्धारित होता है? स्वयं प्रेमचन्द अपनी तमाम रचनाओं के मध्य इस उपन्यास का क्या मूल्य आंकते थे? इस तरह के अनेक प्रश्न "रंगभूमि" एवं उसके सृष्टा के सन्दर्भ में उठते हैं, जिनपर विचार किये बिना प्रस्तुत कृति की सम्यक समीक्षा नहीं की जा सकती। बम्बई से इन्द्रनाथ मदान को लिखे पत्र (26 दिसम्बर 1934) में रचनाकार प्रेमचन्द ने लिखा है कि—"मेरी सम्मति में मेरी समस्त रचनाओं में 'रंगभूमि' सर्वश्रेष्ठ है।" यहाँ ज्ञातव्य है कि, अब तक उन्होंने 'सेवासदन' (सन् 1918), 'प्रेमाश्रम' (सन् 1922), 'कायाकल्प' (सन् 1926), 'निर्मला' (सन् 1927), 'गबन' (सन् 1931) एवं कर्मभूमि (सन् 1933) जैसे महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक उपन्यासों की रचना कर चुके थे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि स्वयं प्रेमचन्द की दृष्टि में 'रंगभूमि' का स्थान निश्चय ही सर्वोच्च है—केवल 'गोदान' को छोड़कर। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के इस निर्णय के पीछे उनकी साहित्यिक दृष्टि की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

प्रेमचन्द द्वारा लिखित अनेक लेखों एवं भाषणों में उनकी साहित्यिक-दृष्टि एवं समीक्षा-वृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। इन स्थलों पर उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ ज्यादा साफ हैं। उन्होंने उपन्यास के बारे में लिखा है कि "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" (प्रेमचन्द : कुछ विचार पृ० 61) स्पष्ट है कि प्रेमचन्द मानव चरित्र के रहस्योद्‌घाटन क्षमता को मूल्यांकन का प्रतिमान मानते हैं। अतएव "रंगभूमि" की समीक्षा एवं मूल्यांकन के सन्दर्भ में पहला विचारणीय प्रश्न है कि, उसमें मानव-चरित्र के रहस्यों का उद्‌घाटन किस सीमा तक और किस रूप में हुआ है? इस

* हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

क्षेत्र में उन्हें कितनी सफलता मिली है? उन्होंने परिस्थितियों एवं घटनाओं के सन्दर्भ में चरित्र को ढाला है या चरित्र स्वयं उन स्थितियों की निर्मित्त करते हैं? उनके द्वारा चित्रित मानव-चरित्र विकासमान हैं? गतिशील हैं? या स्थिर? इस तरह के अनेक प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से दिया गया उनका भाषण उनकी साहित्यिक मान्यताओं की दृष्टि से अविस्मरणीय महत्त्व रखता है। उनके अनुसार "(साहित्य में) उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" निश्चय ही प्रेमचन्द की यह मान्यता काफी व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण है। इन तमाम दृष्टियों से परिपूर्ण रचना ही उच्चकोटि की होगी और साथ ही युग को नव संदेश देने वाली, उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने वाली भी होगी। "रंगभूमि" उपर्युक्त कसौटियों पर कितना खरा उतरता है?

रंगभूमि" में प्रेमचन्द ने मानव-चरित्रों के रहस्योद्घाटन में अभूतपूर्व कुशलता प्राप्त की है। उन्होंने वृहत्तर मानव समुदाय से पात्रों का इस प्रकार चयन किया है कि वे अपने पूरे वर्ग एवं समाज का चित्र उपस्थित कर देते हैं। "रंगभूमि" के पात्रों की अद्भुत विशेषता यह है कि, वे अपना निजी व्यक्तित्व रखते हुये भी अपने पूरे समुदाय एवं समाज का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इस कौशल द्वारा वे विभिन्न वर्गों एवं समाजों के मानवीय जीवन में छिपे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहस्यों एवं उनकी सच्चाइयों को उद्घाटित कर सके हैं। प्रस्तुत उपन्यास का नायक 'सूरदास' ऐसा ही पात्र है, जो भिखारी समुदाय से सम्बन्धित एवं दोनों आँखों का अन्धा है। भिक्षावृत्ति से पलने वाले अन्धे व्यक्ति का नायक रूप में चयन अपना महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रखता है। 'सूरदास' के करुण एवं अति सामान्य जीवन से सम्बन्धित अनेक मार्मिक एव हृदय द्रावक अनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार किया गया है, कि पाठक मानवीय सत्य के इस पक्ष से परिचित होकर चौंक उठता है, मात्र अभिभूत ही नहीं होता। प्रस्तुत कृति के माध्यम से प्रेमचन्द ने जिस सामाजिक, राजनीतिक एव सांस्कृतिक सत्य का उद्घाटन किया है, वह यह है कि, कैसे पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ें ग्रामीण व्यवस्था को समूल नष्ट करती हुई मजबूत हो रही हैं? कैसे भारतीय जनता ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के पंजे से छुटकारा पाने के लिए बेचैन है? अंग्रेजी सरकार की दमन नीति एवं उसका आतंक कैसा है? उसका जनता पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? परस्पर संघर्ष कर रही विरोधी शक्तियों में कौन पक्ष जीत रहा है? क्यों जीत रहा है? किस प्रकार जीत रहा है? किसान वर्ग क्यों और कैसे हार रहा है? उसकी जीत कैसे हो सकती है? पुरानी ग्रामीण सभ्यता का स्थान नवीन औद्योगिक पूँजीवादी सभ्यता कैसे ले रही हैं? इस तरह के मानवीय सत्य से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रस्तुत उपन्यास में गम्भीरता से विचार किया गया है और साथ ही उनका सहज एवं स्वाभाविक चित्रण भी। अभिव्यक्त कौशल की निपुणता एवं सहजता के कारण उपर्युक्त समस्याएँ एवं विचार आरोपित नहीं प्रतीत होते। अन्त में हम इन सच्चाइयों एवं नग्न यथार्थ के दर्शन से निराश एवं

हतोत्साहित नहीं होते। मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ 'सूरदास' पूरे आत्मबल से पाठक के मनोबल को पुष्ट करते हुए सुन्दर भविष्य का सन्देश देता है—"फिर खेलेगें, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्ही से खेलना सीखेगें और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, अवश्य होगी।"

प्रस्तुत उपन्यास में ग्रामीण भिखारी 'सूरदास' एवं पूंजीपति जान सेवक के बीच का संघर्ष एवं विरोध की कथा के अतिरिक्त अन्य कथाएं भी वर्णित हैं। चूंकि प्रेमचन्द मानवीय अनुभूतियों एवं सामाजिक सच्चाइयों को विविध परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना चाहते हैं, फलतः वे मुख्य कथा के समानान्तर अनेक प्रासंगिक कथाओं का भी समावेश करते हैं, जिससे वे अपने अभिप्रेत सम्वेदना और अनुभूति को विभिन्न कोणों से देख सकें, और पाठक को दिखा सकें। उपन्यास की मूल सम्वेदना के विविध आयामों को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त विषय-विस्तार किया गया है। यद्यपि विषय विस्तार के कारण उसको सँभालने में प्रतिक्षण उपन्यासकार को सावधान रहना पड़ता है, लेकिन इसके द्वारा जो व्यापक एवं वहु आयामी प्रभाव पड़ता है, वह काफी महत्त्वपूर्ण उपयोगी एवं स्थायी होता है। इस तथ्य की तरफ संकेत करते हुए स्वयं मुंशी प्रेमचन्द कहते हैं–"उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलने वालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना कि एक लम्बे चौड़े मार्ग के मैदान में चलने वाले को।" मानवीय-चरित्र एवं सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को ध्यान में रखने के कारण 'रंगभूमि' का कलेवर काफी बड़ा हो गया है। 'सूरदास' द्वारा गाया जाने वाला निम्न गीत पूरे कथानक पर छाया हुआ है, उसकी अनुगूंज आद्यन्त बनी हुई है—

"तू रंगभूमि में आया दिखलाने अपनी माया।
क्यों धरमनीति को तोड़ै ? भई क्यों रन से मुँह मोड़ै।।"

इस गीत को स्वयं सूरदास अपने जीवन में चरितार्थ करता है। वह संसार रूपी रंगभूमि में विना धरम नीति (नैतिक विद्रोह अथवा सत्याग्रह एवं अहिंसा) को छोड़े जीवन पर्यन्त श्रम (माया) करता रहता है, लेकिन कभी भी संघर्ष (रण) से पीछे नही हटता, अर्थात, जीवन संग्राम में वह सतत आगे ही बढ़ता जाता है। उसकी चेतना एवं संदेश को मृत्यु भी बाधित नहीं कर पाती, उसे वह आने वाली पीढ़ी में हस्तान्तरित कर देता है। उसके अपराजेय आत्मबल की छटपटाहट एवं बेचैनी काफी प्रेरणादायक एवं उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक का मुख्य केन्द्र वाराणसी नगर एवं उसके समीप स्थित पान्डेपुर गाँव (बस्ती) है। पान्डेपुर गाँव का निवासी सूरदास वाराणसी नगर के पूंजीपति जान सेवक का विरोध करता है, कि वह अपनी जमीन पर कारखाना स्थापित नहीं होने देगा अर्थात ग्रामीण सभ्यता के स्थान पर औद्योगिक सभ्यता को नहीं पनपने देगा। लेकिन अन्ततः वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं होता और पान्डेपुर गाँव में कारखाना स्थापित हो जाता है। इसके बाद न केवल सूरदास की जमीन (जो परती थी, जहाँ जानवर चरते थे) ही छीन ली जाती है, अपितु उसका एवं अन्य ग्रामीणों के मकान भी बन्दूक की नोक पर

खाली करा लिये जाते हैं और उनमें कारखाने के मजदूर रहने लगते हैं। इस संघर्ष के बीच सूरदास गोली से मारा जाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण कथा विनय एवं सोफिया के प्रेम सन्दर्भों को लेकर विकसित होती हैं, और बाद में चल कर कथा का सूत्र जसवन्त नगर से जुड़ जाता है, क्योंकि विनय अपनी माता की आज्ञानुसार यहाँ चले आते हैं। इस स्थल पर प्रेमचन्द ने देशी नरेशों की डाँवा डोल स्थिति एवं भयभीत मनोदशा का अच्छा चित्रण किया है। ब्रिटिश सरकार एवं देशी राजाओं के सम्मिलित आतंक एवं दमन का क्या स्वरूप है? उससे जनता की दशा कितनी दयनीय एवं जर्जर हो गयी है? आदि अनेक मानवीय पक्षों का सजीव चित्रण इन स्थलों पर किया गया है। जनता द्वारा अपने वर्ग के हितों पर हुए आक्रमण से विनय सिंह बदल जाता है और देश-प्रेम तथा जन-हितैषी का चोंगा फेंक कर उनका पक्का दुश्मन बन जाता है और शोषक वर्ग में सम्मिलित हो उनपर भयंकर अत्याचार करता है। अन्त में वह जनता की घृणा की भयंकर आँच को बरदास्त न कर सकने के कारण पाण्डेपुर के संघर्ष में आत्म हत्या कर लेता है। इन दो महत्त्वपूर्ण कथाओं के अतिरिक्त अन्य कई छोटी-बड़ी कथाएं वर्णित हैं।

"रंगभूमि" में लगभग 50 पात्र हैं, जिनमें सूरदास, विनय, सोफिया, जान सेवक, राजा महेन्द्र प्रताप, मि० गांगुली, जान्हवी, मि० क्लार्क, भैरो, पंडित नायक राम, गदाधर, मिठुआ, ताहिर अली, भरत सिंह, जसवन्त नगर का राजा, एवं आतंकवादी वीरपाल आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से अधिकांश पात्रों का चयन प्रेमचन्द ने तत्कालीन जीवन एवं परिवेश से किया है, और उन्हें अपनी साहित्यिक चेतना एवं कल्पना शक्ति से अनुप्राणित कर पर्याप्त जीवन्त, प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं उदात्त बना दिया है। अमृतराय ने इसका संकेत करते हुए बताया है कि सोफिया का चरित्र निर्मित्त करते समय उनकी दृष्टि में एनी बेसेन्ट थीं, और सम्भवतः पण्डित नेहरू की झलक विनय में और महात्मा गाँधी की झलक सूरदास में मिलती है (कलम का सिपाही पृ० 387)। सूरदास के व्यक्तित्व निर्माण में प्रेमचन्द की स्वय की जीवन दृष्टि, गाँधी, टालस्टाय एवं श्रीमद्‌भगवद् गीता के विचारों का महत्त्वपूर्व योगदान है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द अपने गाँव के एक अन्धे भिखारी से भी अत्यधिक प्रभावित थे। सूरदास के अन्दर 'स्पोर्टस मैन स्प्रिट' (पक्के खिलाड़ी की आत्मा) है, वह एक स्थित प्रज्ञ कर्मयोगी की तरह बिना परिणाम की चिन्ता किये सतत संघर्षरत रहता है। पराजित होने पर भी उसकी आत्मा हार नहीं मानती, वह तनिक भी हीनता अथवा संकोच का अनुभव नहीं करता। सदैव उसका आत्मविश्वास एवं मनोबल अडिग एवं ऊँचा है। वह एक सच्चे सत्याग्रही एवं अहिंसक की भांति अपने कार्य–प्रणाली की शुद्धता के प्रति विशेष जागरूक है, अतः हारने पर भी उसे परम सन्तोष है कि "हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धांधली तो नहीं की ...." "रंगभूमि" के अधिकांश पात्र उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हैं। सोफिया मि० क्लार्क से सूरदास के बारे में कहती है—"जाहिल है, बिलकुल निरक्षर, लेकिन उसका एक एक वाक्य विद्वानों के बड़े बड़े ग्रन्थों से भारी है। "वह परोपकारी, सहृदय, परदुःखकातर, निर्भीक, साहसी एवं सूझ-बूझ वाला आदमी है तभी तो वह जनता के हृदय पर शासन करता है। इस बात की पुष्टि

करते हुए मि० क्लार्क राजा महेन्द्र प्रताप से कहता है—"हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं है, भय ऐसे मनुष्यों से है, जो जनता के हृदय पर शासन करते हैं।" सूरदास अपनी सूक्ष्म विवेकी बुद्धि द्वारा समग्र घटनाओं एवं स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण कर वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालता है। अपनी असफलता एवं जान सेवक की सफलता के सम्बन्ध में उसके द्वारा की गई टिप्पणी उसके चरित्र के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को पुष्ट करती है—"हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली गलौज करते हैं, मार-पीट करते हैं। कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है।" मनुष्य का मनोबल हर संघर्ष से, भयंकर से भयंकर पराजय एवं परिस्थिति में, हर समय सदैव ऊँचा रहना चाहिए। इस दृष्टि से सूरदास की अन्तर्व्यथा एवं छटपटाहट अविस्मरणीय है। वह अमेरिकी उपन्यासकार अर्निस्ट हेमिंगवे' के संदेश (मनुष्य झुक नहीं सकता, भले ही नष्ट हो जाय) का साक्षात रूप है। सत्याग्रही सूरदास की मृत्यु की घटना स्वर्गीय लाला लाजपत राय की दुखांत घटना की याद दिलाती है। सोफिया अत्यन्त उदार हृदय की मानववादी विचार धारा की शिक्षित महिला है। वह विनय की आदर्श प्रेमिका है। उसका प्रेम तमाम मांसलता एवं भौतिकता से रहित एकदम सात्विक है। यश लिप्सा एवं लोक प्रतिष्ठा के लोभ में कुछ समय तक विनय सिंह देश-प्रेमी एवं जन सेवक बनता है। वैधानिक तरीके से देश की स्वतन्त्रता को लाने वालों के प्रतीक मि० गांगुली हैं। तत्कालीन स्वतन्त्रता आन्दोलनों एवं सत्याग्रहों की असफलता से हतोत्साह एवं निराश होने वालों की झलक भरत सिंह के चरित्र में मिलती है। अपने हितों एवं सुख-सुविधाओं को सुरक्षित रखते हुए, दोनों दलों से गठबन्धन जोड़कर जन नायक का स्वाँग करने वालों का चरित्र राजा महेन्द्र प्रताप के सन्दर्भ में उन्मीलित होता है। इस प्रकार अन्य पात्र भी तत्कालीन जीवन की किसी न किसी महत्त्वपूर्ण चेतना अथवा घटना अथवा व्यक्ति की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इन समस्त पात्रों के मध्य सूरदास का व्यक्तित्व अत्यन्त तेजस्वी, प्रेरणादायक एवं उन्नति का सन्देश देने वाला है। इसके उन्नति के सन्देश का मतलब प्रेमचन्द के शब्दों में इस प्रकार है—"उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गए, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।"

रचनाकार तत्कालीन परिवेश एवं वातावरण का जितना ही अधिक ध्यान रखते हुए सृजन करता है, उसकी कृति उतनी ही प्राणवान एवं विश्वसनीय होती है। अपने समय के अनुकूल साहित्य सृजन का सन्देश देते हुए प्रेमचन्द ने कहा है—" 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनायी देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।" प्रेमचन्द ने समकालीन वातावरण में फैली राजनीतिक एवं सामाजिक जकड़बन्दियों, पूंजीपतियों एवं साम्राज्य-

वादियों के भयंकर एवं क्रूर अत्याचार तथा उनके शोषण तंत्रों से जनता में फैले उनके आतंक, ब्रिटिश सरकार की दमननीति का क्रूर ताण्डव, स्वतन्त्रता के लिए छटपटाती भारतीय जनता का उत्साह एवं प्रयत्न, अवसरवादियों का आडम्बर एवं धोखा, नकली नेताओं का चरित्र, भयंकर निर्धनता एवं शोषण में पिसती हुई निम्न वर्ग की व्याकुलता और करुण क्रन्दन, आतंकवादियों का साहस, अंग्रेजों द्वारा कठपुतली सदृश निमित्त देशी राजाओं की स्थिति एवं पीड़ा और मध्यवर्गीय समाज की बेचैनी आदि विविध मानवीय प्रसंगों को पर्याप्त सजीवता के साथ चित्रित किया है । वातावरण एवं परिवेश की दृष्टि से जैसी सफलता "रंगभूमि" को मिली है, वैसी कम ही उपन्यासों को मिल पाती है । उपर्युक्त सारी स्थितियां एवं घटनाएँ तत्कालीन भारतीय जीवन में व्याप्त थीं । इसके निर्माण में प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार का अपने आश्वासन से मुकर जाना, सन् 1919 ई० में पारित रौलेट ऐक्ट एवं उसका विरोध, ब्रिटिश सरकार का भयंकर आतंक एवं क्रूर दमन, जलियांवाला काण्ड, एवं अंग्रेज सैनिक के लाठी चार्ज से घायल होकर लाला लाजपत राय की मृत्यु आदि अनेक घटनाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी । देश के एकमात्र आशा के केन्द्र महात्मा गाँधी भी 10 मार्च 1922 को 6 वर्ष के लिए कैद कर लिये गये थे। सर्वत्र निराशा एवं हतोत्साह का वातावरण फैला था । इन सब स्थितियों एवं घटनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति "रंगभूमि" (प्रकाशन वर्ष सन् 1925 ई०) में हुई है। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने परोक्ष रूप से जगह जगह अपने विचारों को भी वाणी दी है, परन्तु इससे उपन्यास की सहजता, एवं स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ती । ऐसे समय सूरदास द्वारा अपनी मृत्यु शय्या से दिया गया अमर सन्देश सुन्दर भविष्य के प्रति दृढ़ आशा व्यक्त करता है और सम्पूर्ण वातावरण की उदासी एवं खामोशी को तोड़ता है। यह साहित्य की दूरदर्शी दृष्टि एवं मार्ग दर्शक भूमिका का प्रतिफल है ।

"रंगभूमि" की भाषा–शैली सरल, सुबोध, स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण है । अपनी सहजता के कारण ही यह ग्रन्थ सर्वबोधगम्य बन सका है । इसमें संस्कृत एवं फारसी के क्लिष्ट शब्दों का अतिरेकी प्रयोग नहीं है, मात्र उन्हीं शब्दों को अपनाया गया है, जो दैनिक व्यवहार में घुले मिले हैं । प्रेमचन्द जी हिन्दी एवं उर्दू के सहज समन्वय से निर्मित्त हिन्दुस्तानी भाषा के समर्थक थे, जिसका व्यावहारिक रूप प्रस्तुत ग्रन्थ में दृष्टव्य है । इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि "वह (हिन्दुस्तानी) ऐसी भाषा हो, जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और आम बोलचाल की हो ।" प्रेमचन्द पात्रों के स्तर, शिक्षा, व्यवसाय एवं वर्ग को ध्यान में रखते हुए भाषा में किंचित परिवर्तन करते हैं, ताकि स्वाभाविकता की सृष्टि कर सकें । इसमें समानान्तर स्थापत्य शैली का प्रयोग करते हुए कई कथाओं का सफल निर्वाह किया गया है। प्रेमचन्द की भाषा–शैली व्यंग्य एवं चोट करने में अत्यन्त सधी हुई है । इसका लक्ष्य पर वार बड़ा गहरा एवं मर्मभेदी होता है। दैनिक व्यवहार में घुले मिले मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग में प्रेमचन्द सिद्धहस्त कलाकार हैं । वे मात्र कुछ शब्दों एवं वाक्यों में बड़ी से बड़ी एवं गहरी से गहरी घटनाओं एवं अनुभूतियों को व्यंजित करने में निपुण हैं । अंग्रेज सैनिकों द्वारा पान्डेपुर निवासियों को निकालने की आतंकपूर्ण घटना की व्यंजना मात्र एक वाक्य द्वारा हो जाती है—"मानो

दिन दहाड़े डाका पड़ रहा हो"। ऐसे ही जसवन्त नगर के क्रूर दमन एवं भयंकर नर संहार का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—"वहाँ कोई जवान आदमी न रहा"। प्रेमचन्द भाषा द्वारा चित्रविधान करने में समर्थ हैं, जैसे—"गोली सूरदास के कन्धे में लगी, सिर लटक गया; रक्त प्रवाह होने लगा। भैरो उसे सँभाल न सका, वह भूमि पर गिर पड़ा।"

कथोपकथन के मध्य प्रेमचन्द की भाषा और भी निखर उठी है। उनके वाक्यों की कसावट, उनका प्रवाह एवं साभिप्राय शब्द चयन ऐसे स्थलों में और भी अधिक प्रभावशाली हो गया है। इनके कथोपकथन कहीं कथा को आगे बढ़ाते हैं, तो कहीं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। पात्रों के स्तर भेद के अनुसार उनके कथोपकथन भी कई प्रकार के हैं। कहीं कहीं ये लम्बे भी हो गये हैं। कथोपकथन की दृष्टि से विनय सोफिया; सूरदास सोफिया तथा मिठुआ सूरदास का सम्वाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मिठुआ और सूरदास का वार्तालाप सूरदास की दृढ़ आस्था, अडिग आत्मविश्वास एवं प्रबल रचना शक्ति का परिचायक है—

'मिठुआ—दादा अब हम रहेगें कहाँ ?
सूरदास - दूसरा घर बनायेंगे।
मिठुआ—और फिर आग लगा दे ?
सूरदास—तो फिर बनाएँगें
× × × +
मिठुआ—और जो कोई सौ लाख बार लगा दे ?
सूरदास—तो हम भी सौ लाख बार बनाएँगे।"

समग्रतः "रंगभूमि" उपन्यास सन् 1925 के आस पास की भारतीय राजनीति एवं सामाजिक घटनाओं के विविध पक्षों को प्रस्तुत करता है। इसका आयाम इतना अधिक विस्तृत एव व्यापक है कि उसमें समग्र भारतीय जनमानस (वृहत्तर मानव समुदाय) बिम्बित हो उठा है। इस उपन्यास में निहित दूर दृष्टि एवं इसका महत्त्वपूर्ण संदेश युग की सीमा को लाँघ कर आगामी युगों के संघर्षों में भी विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। इसके इस वैशिष्ट्य एवं सामर्थ्य के कारण इसे आधुनिक भारतीय जीवन का महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा गया है। कथानक, पात्र एवं चरित्र चित्रण, भाषा–शैली एवं कथोपकथन, वातावरण एवं परिवेश आदि अनेक औपन्यासिक तत्वों एवं रचनाकार प्रेमचन्द की साहित्यिक दृष्टि के अनुसार भी यह उच्चकोटि का उपन्यास सिद्ध होता है। इसका नायक सचमुच में प्रेमचन्द के विचारों का उपयुक्त वाहक पात्र है। यह कृति उस मशाल की तरह है, जिसके आलोक में सामाजिक यथार्थ एवं मानवीय सत्य स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं और भविष्य के लिए नया प्रकाश भी बिखेरते हैं। यह हमारी चेतना को सुप्त नहीं करता, अपितु उसे जागृत व सक्रिय करता है, उसमें अमिट आत्म विश्वास एवं दृढ़ता पैदा करता है। सूरदास एक प्रेरणादायक व्यक्तित्व के रूप में पाठक के ऊपर अपनी अमिट छाप छोड़ता है, जिसका महत्त्व सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अविस्मरणीय है। इसे थैकरे के "वैनिटी फेयर' का अनुवाद मात्र कहना सरासर गलत है। यह उपन्यास सर्वथा मौलिक एवं उत्तम है। यह मूलतः भारतीय जीवन धारा एवं चिन्तन पद्धति की देन है, किसी विदेशी कृति की नकल अथवा अनुवाद मात्र नहीं है।

———

प्रेमचन्द की कहानी–आदर्श से यथार्थ की ओर

डा० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र' *

हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेमचन्द का अवतरण युगान्तकारी है। उनसे पूर्व कहानी को केवल मनोरंजन की वस्तु माना जाता था, किन्तु प्रेमचन्द ने उसे जीवन का चित्र बना दिया। उपन्यास को तो वे मानव-चरित्र का चित्र मानते ही थे, कहानी भी मानव-चरित्र के किसी अंश विशेष का चित्र ही है। साथ ही प्रेमचन्द की धारणा थी कि न केवल कथाकार, अपितु प्रत्येक साहित्यकार के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपनी कृति द्वारा समाज के यथार्थ रूप को प्रतिबिम्बित करता हुआ कुछ दिशा निर्देश करे, कुछ सन्देश दे। अभिव्यक्ति केवल अभिव्यक्ति के लिए न हो, अपितु उसके द्वारा निर्माण की प्रेरणा भी प्राप्त हो। उनके विचार से साहित्यकार उस व्यक्ति के समान है, जो अन्धकार में मशाल जलाकर पथभ्रष्ट लोगों को मार्ग दिखाता है। इसी विचारधारा से प्रेरित होकर वे कहानी-रचना की ओर प्रवृत्त हुए।

प्रेमचन्द का प्रथम कहानी-संग्रह 'सोजेवतन' के नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ, जिस पर लेखक के रूप में उन्होंने अपना नाम नबाबराय दिया। इस संग्रह की कहानियाँ राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थीं। इसलिए तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया और उसकी प्रतियों को अपने अधिकार में करके अग्निदेव को समर्पित कर दिया। फलतः धनपतराय हिन्दी में प्रेमचन्द के नाम से अवतीर्ण हुए। इसके पश्चात् उन्होंने अपने जीवन-काल में लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखीं।

प्रेमचन्द के कहानी-साहित्य का आयाम अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने भारतीय समाज की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उसे अपने कथा-साहित्य का उपजीव्य बनाया। उन्होंने विशेषतः ग्रामीण जीवन और उसमें भी मध्यम तथा निम्न वर्ग की समस्याओं को बड़ी कुशलता एवं सरलता से प्रस्तुत किया। कृषकों की दयनीय दशा, उनके अंधविश्वास, भाग्यवादिता, एवं अशिक्षा का चित्रण किया। इसके अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों, जमीदारों तथा महाजनों द्वारा शोषण के मार्मिक चित्र उनकी कहानियों में अंकित हैं। उन्होंने दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, बाल विवाह, बहु विवाह के कारण शोषित और पीड़ित नारी की मूकता को वाणी प्रदान की। अपनी कहानियों में उन्होंने देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक सद्भाव, नारी आन्दोलन, अछूतोद्धार इत्यादि का चित्रण करते हुए स्वतन्त्रता–आन्दोलन को बल प्रदान किया। पंडितों, मौलवियों एवं तथाकथित धार्मिक नेताओं के पाखण्ड, आडम्बर, स्वार्थ-साधन, संकुचित मनोवृत्ति आदि का उद्घाटन करते हुए सांस्कृतिक जागरण का शंखनाद किया। सारांशतः उन्होंने अपनी कहानियों में तत्कालीन युग को प्रतिबिम्बित करते हुए प्रत्येक क्षेत्र में नवीन प्रेरणा दी।

ए 14, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स, अमरावती रोड, नागपुर–10

प्रारम्भ में प्रेमचन्द जी ने अपनी कहानियों में आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए भी किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा की। 'बड़े घर की बेटी' में आनन्दी अपने देवर की अभद्रता की शिकायत अपने पति से करती है, जिस पर वे आक्रोश के साथ उसका मुख न देखने की घोषणा करते हैं। उनके वात्सल्य से अभिभूत उनका छोटा भाई उन्हें पितृ तुल्य आदर करते हुए गृह-त्याग को तत्पर होता है। तब आनन्दी ही उसे हाथ पकड़ कर स्नेहपूर्ण अधिकार से वापस लाती है। सहनशीलता और क्षमा का यह प्रांजल रूप उसके आभिजात्य को प्रकट करता है। 'शान्ति' की श्यामा पति कि प्रेरणा से पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति में आकण्ठ मग्न होकर पति की रुग्णावस्था में भी क्लब चली जाती है। उनकी मृत्यु कि कल्पना करके शोक सूचक वस्त्रों को धारण करने, सहानुभूति प्रदर्शित करने वालों के प्रति आभार प्रदर्शित करने की कल्पना में खो जातीं है, तब पति पश्चाताप करते हुए पुन: अपनी सभ्यता में लौटकर शान्ति का अनुभव करते हैं। इससे लेखक ने भारतीय संस्कृति में अपनी आस्था व्यक्त की है। 'पंच परमेश्वर' में अलगू और जुम्मन एक-दूसरे का अहित करने और बदला लेने के बड़े-बड़े मनसूबे बांधते हैं किन्तु पंच के आसन पर आसीन होते ही उनकी वे भावनायें तिरोहित हो जाती हैं और वे निष्पक्ष होकर न्याय की प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार पंच के आदर्श को प्रस्तुत किया गया है। 'परीक्षा' कहानी में उसी व्यक्ति का चयन किया जाता है, जो किसान की कीचड़ में फँसी हुई गाड़ी को निकलवाने में सहायक होता हैं। इसके द्वारा अधिकारी में उदारता और करुणा की भावना को अपेक्षित माना गया है। 'नमक का दरोगा' कहानी का नायक भारी रिश्वत को ठुकराकर कर्तव्य-पालन का आदर्श प्रस्तुत करता है। 'आत्माराम' का महादेव सुनार कंजूसी को त्यागकर उदार हृदय से जन-सेवा के लिए धन का उपयोग करते हुए भक्त बन जाता है। 'पिसनहारी का कुआ' की दीन बुढ़िया लोक-सेवा के लिए ही अपने को अर्पित कर देती है। 'ईदगाह' का छोटा बालक भी अपने लिए मेले में से कुछ न खरीद कर अपनी बूढ़ी दादी के लिए चिमटा लाकर सेवा का आदर्श प्रस्तुत करता है। 'शंखनाद' का अकर्मण्य, आलसी गुमान अपने पुत्र को थोड़ी-सी मिठाई के लिए तरसता और रोता हुआ देखकर तथा अपनी पत्नी के व्यंग्य को सुनकर कर्मठ बन जाता है। 'मंत्र' का भगत आत्मा की प्रेरणा से उस डाक्टर चड्ढा के एक मात्र पुत्र को साँप के काटे जाने पर चिकित्सा करता है जिसने उसके मरणासन्न बच्चे को देखा तक नहीं था। कर्तव्यनिष्ठा और सेवा का इससे अधिक उच्चादर्श और क्या हो सकता है? 'सुजान भगत' का बूढ़ा भगत अपने पुत्रों द्वारा दान देने से रोके जाने पर पुन: कर्म में जुट जाता है और स्वावलम्बन की प्रेरणा देता है। 'रानी सारन्धा' की नायिका देश-प्रेम और आत्माभिमान की रक्षा के लिए अपने पति तक की हत्या करके अपना भी प्राणान्त कर लेती है। 'हरदौल' की नायिका अपने सतीत्व को प्रमाणित करने के लिए अपने पुत्रवत् देवर को विष दे देती है। 'बड़े भाई साहब' के भाई साहब स्वयं बार-बार अनुत्तीर्ण होते हुए भी अपने छोटे भाई को कर्तव्यवश ही नियन्त्रित रखने का प्रयत्न करते हैं। पारिवारिक सम्बन्ध की मर्यादा की प्रतिष्ठा करना इस कहानी का लक्ष्य है। 'जुलूस' का पुलिस अधिकारी बीरबल सिंह अपने पुत्र के गोली लगने पर तथा अपनी

पत्नी की देश-भक्ति से प्रेरणा लेकर, नौकरी से त्यागपत्र देकर राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ता है जिससे देश-भक्ति की प्रेरणा मिलती है। 'प्रेरणा' का सूर्य प्रकाश छात्र-जीवन में अत्यन्त उद्दण्ड रहता है। किन्तु अपनी उद्दण्डता के कारण अपने ही हितैषी अध्यापक का अपमान करने पर भी जब उनका स्नेह देखता है, तो एक दम बदल जाता है और आदर्श छात्र बनकर प्रगति करता है। उदारता और क्षमा से किस प्रकार हृदय-परिवर्तन होता है, इस वैशिष्टय की ओर यह कहानी संकेत करती है। 'घासवाली' की मुलिया चमारिन होते हुए भी वासना-लोलुप जमींदार को फटकार कर सतीत्व का आदर्श प्रस्तुत करती है। राजनैतिक कहानियों में प्रेमचन्द ने गाँधी जी के आदर्श को प्रतिष्ठित किया है। 'लाग डाट' कहानी का चौधरी कहता है—अपने घर का बना हुआ गाढ़ा पहनो, अदालतों को त्यागो, नशेबाजी छोड़ो, अपने लड़कों को धर्म-कर्म सिखाओ, मेल से रहो बस यही स्वराज्य है। जो लोग कहते हैं कि स्वराज्य के लिए खून की नदी बहेगी, वे पागल हैं।" लगता है, चौधरी के स्वर में गाँधी जी बोल रहे हैं। इसीप्रकार की अनेक कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखीं, जिनमें व्यक्तिगत, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है।

कालान्तर में प्रेमचन्द जी का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया। उन्होंने यथार्थ जीवन का चित्रण करना ही कहानी के लिए अलम् समझा। आदर्शोन्मुख कहानियों में एक प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है, जिसके कारण कलाकार की कला को अंकुश लग जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अपने मस्तिष्क में एक ढाँचा निर्मित कर लेता है और सीमाओं में कथानक को आबद्ध कर देता है इसीलिए कहानी कला को खुलकर खिलने का अवसर नहीं मिलता और न उसका वांछित प्रभाव पड़ पाता है, साथ ही चरित्रों में एक कृत्रिमता आ जाती है। सम्भवतः प्रेमचन्द जी ने यह अनुभव किया और वे यथार्थ चित्रण की ओर उन्मुख हुए। यथार्थ चित्रण मर्म को स्पर्श करता है, मस्तिष्क को आन्दोलित करता है, चिन्तन की प्रेरणा देता है और विद्रोह—भावना को जाग्रत करता है। कला अपने स्वतन्त्र रूप में मुखर होकर वांछित प्रभाव उत्पन्न करती है। इसीलिए अपनी कहानियों में आगे चलकर प्रेमचन्द जी यथार्थ को वाणी देने लगे और धीरे—धीरे पूर्णतया यथार्थवादी बन गये।

'पूस की रात' कहानी में हल्कू की पत्नी एक—एक पैसे से धीरे—धीरे एक वर्ष में कम्बल के लिए तीन रुपये जुटा पाती है, जिसे सूदखोर सहना साहू ले जाता है। बेचारा हल्कू पूस की रात में खेत पर कुत्ते को हृदय से लगाकर शीत से बचने का निष्फल प्रयत्न करते हुए ठिठुरते हुए जड़ जैसा बन जाता है। उसमें इतना भी साहस नहीं होता कि खेत उजाड़ती हुई नील गायों को भगा सके। खेत उजड़ने पर जैसे सुख की साँस लेता है और मजदूर बनने को विवश हो जाता है। श्रम का प्रतिदान न पाकर इस प्रकार की मजबूरी आना स्वाभाविक है। 'मुक्ति मार्ग' ईर्ष्या—द्वेष के परिणाम की कहानी है। झींगुर अपने लहलहाते हुए खेत को देखकर मदोन्मत्त हो जाता है और बुद्धू की भेड़ों को निर्दय होकर डंडों से मारकर भगा देता है। बुद्धू उसके खेत में आग लगाकर उसे चौपट कर देता है, और बदले में झींगुर उसकी बछिया को विष देकर मार देता है। जिसके दण्ड स्वरूप उसे कई गाँवों में भिक्षा माँगनी पड़ती है। गंगा—स्नान के बाद ब्रह्म—भोज करना पड़ता है।

फलतः सभी भेड़ें बिक जाती हैं। दोनों मजदूर बन जाते हैं। गारा–ईंट देते–देते दिन छिपने पर कच्ची–पक्की रोटी खाने के बाद लेटते समय दोनों एक–दूसरे के प्रति अपने–अपने अपराध को स्वीकार करते हैं। इस कहानी में ग्रामों में व्याप्त ईर्ष्या–द्वेष के साथ पंचों की स्वार्थपूर्ण निर्दयता एवं अन्धविश्वास का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। 'बूढ़ी काकी' में स्वार्थपरता नीचता की उस सीमा तक पहुँच जाती है, जहाँ बूढ़ी काकी के धन को हड़प कर उसका भतीजा और उसकी पत्नी दावत का आयोजन करते हैं और दिन भर उसे पूछते तक नहीं। बेचारी काकी रात को जूठन खाकर अपनी क्षुधा शान्त करती है। 'सद्गति' का दुखी चमार अपनी पत्नी झुरिया के आग्रह से पण्डित घासीराम से मुहूर्त्त पूछने जाता है। वे पूजा–पाठ की व्यस्तता का ढोंग करते हुए उसे लकड़ी का गँठीला कुन्दा चीरने के बाद मुहूर्त्त बताने के लिए कहते हैं। स्वयं घासीराम खा–पीकर मस्त हो जाते हैं। भूखा–प्यासा दुखी लकड़ी चीरते–चीरते बेदम होकर गिर जाता है और उसके प्राण–पखेरू उड़ जाते हैं। निष्ठुर ब्राह्मण शव के पैर में फन्दा डालकर उसे घसीट कर एक ओर फेंक देता है। लेखक ने अशिक्षित चमार की मुहूर्त्त पर अन्ध आस्था के साथ धर्म का पाखण्ड करने वाले ब्राह्मण की क्रूरता, हृदय–हीनता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। जो आदर्श प्रस्तुत करने की अपेक्षा अधिक हृदय स्पर्शी है। एक किसान की साधुओं के प्रति श्रद्धा, भाग्यवादिता तथा पुनर्जन्म के विश्वास का लाभ उठाकर उसका शोषण करने वाले निर्दय ब्राह्मण का यथार्थ चित्रांकन 'सवा सेर गेहूँ' कहानी में किया गया है। कृषक शंकर साधुओं के भोजन के लिए विप्र महाराज से सवा सेर गेहूँ उधार लेता है। जजमानी में दूना-तिगुना देकर समझता है कि वह चुकता हो गया किन्तु विप्र महोदय सात वर्ष बाद व्याज सहित साढ़े सात मन गेहूँ बनाकर उसका मूल्य एक सौ बीस रुपया निर्धारित करते हैं। परलोक का भय दिखाकर न केवल उसे जीवन भर के लिए अपना दास बना लेते हैं, अपितु उसके पुत्र को भी दासता के लिए विवश करते हैं। सवा सेर गेहूँ पीढ़ियों को गुलाम बना देता है। शोषण और बेई-मानी का इससे अधिक क्रूर यथार्थ चित्रण और क्या हो सकता है ? 'मुक्ति धन' कहानी का रहमान अपनी माँ को हज कराने के लिए दो सौ रुपया ऋण लेता है, जो बढ़ते–बढ़ते सात सौ हो जाता है। इस धार्मिक अन्ध विश्वास के कारण वह अपना और अपनी आने वाली पीढ़ी का जीवन विनष्ट कर देता है। 'लोकमत का सम्मान' का बेचू धोबी जमींदार और कारिन्दों के कपड़े मुफ्त धोने के लिए विवश किया जाता है। कलप की कमी होने या विलम्ब हो जाने से उसे कोड़ों की मार खानी पड़ती है। घन्टों धूप में खड़ा रहना पड़ता है। गालियों की बौछारें सहनी पड़ती हैं. वह असह्य अत्याचारों से पीड़ित होकर गाँव से भागना चाहता है। 'ठाकुर का कुंआ; 'घासवाली; 'दूध का दाम; 'सौदागर के कोड़े; 'बाबाजी का भोग' इत्यादि कहानियों में समाज में अछूतों की दीन-हीन दशा के यथार्थ चित्र खींचे गये हैं।, जहाँ वे अशिक्षा, अन्ध विश्वास, भाग्यवादिता, जर्जर परम्पराओं के कारण जमीदारों, महा-जनों, अधिकारियों, तथा कथित धर्म ध्वजियों के शोषण के शिकार बनते हैं। उनके अत्या-चार अनाचार से त्रसित जीवन व्यतीत करते हैं। यथार्थवाद का चरम 'कफन' कहानी में उभर कर आता है। निकम्मे एवं कामचोर पिता–पुत्र घीसू और माधव कहीं से आलू चुराकर लाते हैं। अलाव में उसको भूनने के लिए रखकर उसके पास बैठ जाते हैं।

घर के अन्दर एक की पत्नी- दूसरे की पुत्र-वधू प्रसव-पीड़ा से कराह रही है, किन्तु दोनों में से कोई भी उसे सान्त्वना तक देने नहीं जाता कि कहीं दूसरा सारे आलू निकालकर खा न जाय। वह बेचारी रोती-पीटती, चीखती-चिल्लाती, भूख से व्याकुल, उपेक्षित, चिकित्सा और सुरक्षाव्यवस्था के अभाव में चल बसती है। पिता-पुत्र के पास कफन तक के लिए पैसे नहीं हैं। किसी प्रकार लोग सहानुभूतिवश उन्हें कफन के लिए पैसे देते हैं, जिसे लेकर वे कफन लेने निकलते हैं। बहुत दिनों से कभी आधे पेट, कभी भूखे रहने वाले बाप-बेटों का मन बाजार में जाकर बदल जाता है। वे एक होटल में घुसकर जी भर कर पूड़ियाँ उड़ाते हैं और बचे हुए पैसों की शराब लेकर उसके नशे में गम गलत करते हैं। कफन की बात यथावत रह जाती है। कितना तीखा व्यंग्य है जिसे जीवन में बड़ी कठिनता से चिथड़े भी प्राप्त नहीं हुए, मरने पर उसके लिए नया कफन और उस कफन के लिए लोगों की सहानुभूति।' प्रेमचन्द की यह कहानी एक ऐसे यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करती है, जो एक ओर घोर वितृष्णा जगाता है, दूसरी ओर पीड़ा से हृदय को आहत करता है, एक ओर करुणा और सहानुभूति उत्पन्न करता है, दूसरी ओर ऐसी सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह को उभारता है। एक ओर ऐसे धनाधीश हैं, जिनके लिए अर्थ का उपयोग एक प्रश्न है, दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें लाश ढकने के लिए कफन तक उपलब्ध नहीं है। प्रेमचन्द का यह यथार्थ चित्रण द्रवित रोमांचित; और विद्रोही बनाता है। जितना प्रभाव इस कहानी का पड़ता है, उतना किसी भी आदर्शवादी कहानी का नहीं पड़ता। प्रेमचन्द इसमें केवल एक चित्र प्रस्तुत करते हैं, अपनी ओर से कुछ नहीं कहते किन्तु यह चित्र ही बोलता है और ऐसा बोलता है, जो मन को छू जाता है। यही उनकी कहानी-कला का उत्कर्ष है।

कहानी ही एक ऐसी विधा है, जो जीवन से सर्वाधिक संश्लिष्ट है। इसलिए उसकी भाषा-शैली में सहजता, सरलता, अकृत्रिमता एवं स्वाभाविक प्रवाह अपेक्षित है। कहानी की भाषा का समयानुकूल होना आवश्यक है। प्रेमचन्द की कहानियाँ भाषा-शैली की दृष्टि से इतनी सहज हैं कि लगता है, जैसे स्वतः निस्सृत हो रही हैं। यही उनकी सफलता का रहस्य भी है। जिस प्रकार वे कहानियों के कथ्य तथा पात्र-योजना में आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख हुए, उसी प्रकार उनकी भाषा भी अधिकाधिक सहज, सरल और स्वाभाविक होती गई ? आदर्श से यथार्थ की ओर अग्रसर होने के कारण ही प्रेमचन्द कहानी-साहित्य में मूर्द्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित हैं।

———

निर्मला

डॉ० अनुज प्रताप सिंह *

यह उपन्यास जीवन की एक करुण–कहानी है। कथावाहिका 'निर्मला' बाबू उदय भानुलाल वकील की 15 वर्षीय बालिका के रूप में अपनी भूमिका प्रारम्भ करती है। अपनी शादी के पीछे दुःखी पिता को देखकर वह परेशान हो जाती है। उसके मन में अनेक तर्क-वितर्क उड़ने लगते हैं–इसी समय वह एक स्वप्न देखती है–जिसमें वह नदी में कूद पड़ती है और उसकी सुरक्षा के लिए एकमस्तूल और पतवार से हीन टूटी हुई नाव आती है, वह अन्य सहारे के अभाव में इसी नाव पर बैठ जाती है, पर यह भी उसका साथ नहीं दे पाती और आगे जाकर इसके चकराने पर अचेत हो जाती है, जब चेतना आती है तो वह अपने को माँ की गोद में पाती है। इस स्वप्न के माध्यम से कथाकार ने उसके जीवन की आगामी सारी घटनाओं की ओर संकेत कर दिया है।

शादी के व्यय को लेकर ही पति-पत्नी में झगड़ा हो जाता है–और वकील साहब घर छोड़कर चल देते हैं। उनका जानी दुश्मन तुरन्त पीछा कर लेता है और थोड़ी दूर जाने पर उनकी हत्या भी कर देता है। पति की मृत्य के बाद पत्नी कल्याणी अपने समधी के पास पत्र भेजकर निवेदन करती है–जिसके बदले में वे शादी टाल देते हैं, सबके मूल में है 15, 20 हजार धन। कल्याणी पर विपत्ति के बादल छा गये– दरिद्र विधवा के लिए इससे बढ़ी समस्या और क्या हो सकती है। वह हार मानकर वृद्ध और विधुर तोताराम के साथ निर्मला की शादी कर देती हैं। निर्मला पिता जैसे पति को सम्मान की वस्तु समझती न कि प्रेम की, क्योंकि "कली प्रभात समीर ही के स्पर्श से खिलती है"। पृ० 60। तोताराम निर्मला पर लट्टू हैं–अपनी बहन और पहली पत्नी के पुत्रों पर बात-बात में उबल पडते हैं। निर्मला एक कुशल गृहिणी बन जाती है पर उसमें गन्दे भाव नहीं उठते। तोताराम और उसमें उम्र वैषम्य इतना अधिक था कि दोनों के बीच भेद की एक खाई पड़ने लगी। वे अपने को निर्मला के योग्य प्रमाणित नहीं कर पाते। फलतः शादी को बला समझने लगे। वे तरह-तरह की शंकाएं मन में पालने लगे–यहाँ तक कि पुत्र और पत्नी के बीच गलत सम्बन्ध की भी बात मन में बैठा कर मंसाराम को हास्टल में जाने के लिए बाध्य कर दिये। मंसाराम ने अपने को एकान्त सेवी बना लिया, उसको अपनी माँ याद आने लगी, उसके साथ-साथ पिता के सदेह को भी समझ गया और निर्मला को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए चिंतित रहने लगा। मानसिक ज्वर से ग्रस्त होकर वह अस्पताल में ही मर गया पर न वह घर आया और न उसके पिता ने उसको लाना ही चाहा, क्योंकि वे अब किसी हालत में भी पुत्र और पत्नी को एक साथ नहीं देखना चाहते हैं। जब निर्मला उसके मरते समय वहाँ खून देने के लिए पहुँचती है तो वे उस पर बिगड़ जाते हैं; मंसाराम सब कुछ समझकर कहता है–

1. उपन्यास का 15 वाँ संस्करण, 1959 जनवरी, सरस्वती प्रेस बनारस का उपयोग किया गया है।

* हिन्दी विभाग, रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अमेठी, सुलतानपुर (उ०प्र०)

"अम्मा जी, इस अभागे के लिए आपको व्यर्थ इतना कष्ट हुआ। मैं आपका स्नेह कभी न भूलूंगा। ईश्वर से यही मेरी प्रार्थना है कि मेरा पुनर्जन्म आपके गर्भ से हो, जिसमें मैं आपके ऋण से उऋण हो सकूँ। ईश्वर जानता है, मैंने आपको विमाता नहीं समझा। पृ० 123।" मंसाराम की मृत्यु से तोताराम को गहरी चोट लगती है और वे अस्वस्थ रहने लगते हैं। इसी बीच निर्मला का डॉ० सिन्हा के परिवार से परिचय होता है–उनका दाम्पत्य जीवन इसको बहुत अच्छा लगा। ये सिन्हा वही भुवन बाबू हैं, जो दहेज के चक्कर में निर्मला को ठुकरा चुके हैं। सिन्हा की पत्नी सुधा इस रहस्य को जानकर उनको बहुत लताड़ती है।

मंसाराम की मृत्यु के एक वर्ष बाद तीनों बातें एक साथ हुई....'निर्मला की कन्या ने जन्म लिया, कृष्णा का विवाह तय हुआ और तोता राम का मकान नीलाम हो गया।' लड़की मंसाराम की-सी-थी-इसी से तोताराम का पुत्र शोक कम हुआ। निर्मला की छोटी बहन कृष्णा की शादी डाँ, सिन्हा के छोटे भाई से ही बिना दहेज की हुई। शादी के बाद निर्मला मैके में रूक गई। डाँ. की पत्नी सुधा उससे मिलने के लिए आती हैं और उनका पुत्र वहीं मर जाता है।

तोताराम के दूसरे और तीसरे पुत्र उन्हें परेशान करने लगते हैं। एक निर्मला के गहने चुराकर बेच देता है–जिसको चोरी की सजा से बचाने के लिए रिश्वत तक देनी पड़ती है और दूसरा किसी साधु के साथ निकल जाता है। अब तोताराम का पुत्र–स्नेह पूर्ण रूप से उमड़ता है–वे सब दोष निर्मला पर ही गिराते हैं। आज निर्मला के पास मात्र पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है, आदि से अन्त तक उसको अपयश ही मिलता रहा।

पात्रों की दृष्टि से उपन्यास संतुलित है। प्रथम पात्र निर्मला के पिता जी बाबू उदयभानुलाल जी हैं—जो अपना सब कुछ खर्च करके लड़की की शादी करना चाहते हैं। पत्नी से न पटने के कारण घर से निकल पड़ते हैं और रास्ते में मार दिये जाते हैं। इस तरह इनकी भूमिका कथा में बहुत कम रही, पर मौत ने अनेक उपकथाएँ जोड़ दी। पत्नी कल्याणी तेज मिजाज की है, पर पति की मौत पर विलख–विलख कर रोती है। सन्तान और गृहस्थी के लिए सदैव चिन्तित रहती है। निर्मला, कथा की मूलवाहिका है—इसी की करुणकथा प्रस्तुत उपन्यास है। 15 वर्ष में इसकी शादी तय हो जाती है; बहुत बातों के सम्बन्ध में इसके मन में तमाम शंकाएँ और जिज्ञासाएँ पैदा होती हैं। लड़की होना दुःख की बात महसूस करती हुई कहती है—'हम लड़कियाँ हैं हमारा घर कहीं नहीं होता।' कथा में दर्द बीज का वपन यहीं से होता है। इसकी शादी दहेज की कमी के कारण एक बूढ़े आदमी से हो जाती है—जिसका लड़का इसका हम उम्र है। पति, माँ और पुत्र के बीच गलत सम्बन्ध तक की बातें सोच लेता है, पर यह पुत्र को बराबर स्नेह देती रही और उसके लिए अपना खून तक देने के लिए तैयार हो जाती है, परन्तु उसकी मौत का अपराध इसी पर मढ़ा जाता है। इसके साथ शेष दो पुत्रों के लिए भी यही दोषी ठहरायी जाती है। यद्यपि सर्वत्र वह निष्कपट व्यवहार करती रही, पर बदले में अपयश ही पाती रही। निर्मला की छोटी बहन कृष्णा का अनेक बाल सुलभ प्रश्नों एवं जिज्ञासाओं के साथ कथापट पर आगमन होता है। वह सब तरह से सुखी रहती है। निर्मला की विधवा ननद रुक्मिणी शंकालु हृदय एवं कटु व्यवहारों वाली महिला है। लेखक ने इसके कटुतापूर्ण व्यवहार को

परम्परागत बताया है। पर बाद में इसका हृदय परिवर्तित हो जाता है। भुवन बाबू निर्मला के प्रथम मनोनीत पति हैं–जो शहरी फैशनपरस्त और दहेज के पक्षपाती हैं। फलतः श्वशुर के मरने पर विवाह को टाल देते हैं। यही आगे चलकर डॉ० सिन्हा के नाम से कथापट पर आते हैं–जो बाद में अपने पूर्व निर्णय पर दुःख प्रकट करते हैं, और प्रायश्चित करते हुए अपने छोटे भाई की शादी कृष्णा से बिना दहेज के करते हैं। कथा में निर्मला के पुरोहित मोटेराम और भुवनबाबू के पिता भालचन्द जी एक हँसी के पात्र बनकर सामने आते हैं, दोनों परम लोभी हैं। तोताराम जी निर्मला के वृद्धपति हैं–जो मात्र धन से इसको खुश रखना चाहते हैं। कथा में सबसे गन्दा हृदय इन्हीं का है। इनके जीवन में सच्चाई का कहीं नाम नहीं। अपनी शंकाओं से ही ये अपना सबकुछ खो बैठते हैं। पूरे फरेवी आदमी हैं–दया का जीवन में कहीं भी स्थान नहीं। हर जगह अपने दुर्बल चरित्र का परिचय देते हैं। कथाकार ने अन्त में इनका चरित्र-परिवर्तन कराकर पत्नी भक्त बना दिया है, स्वयं कहते हैं–"मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, क्षमा करो (पृ० 124) नयन सुख, तोताराम के मित्र और भुंगी इनकी नौकरानी है–ये दोनों कोई विशेष भूमिका नहीं निभा सके हैं। मंसाराम बड़ा ही होनहार पात्र है-जिसकी मृत्यु असामयिक हो जाती है। इसका चरित्र जितना है–उतना दुरुस्त है। पुनर्जन्म में विश्वास करता है। सुधा डॉ० सिन्हा की पत्नी हैं। ये समाज सुधारक के रूप में सामने आती हैं। जब पता पाती हैं कि दहेज के चक्कर में मेरे पति निर्मला जैसी पत्नी को खो बैठे हैं तो बार-बार उनको लताड़ती हैं। इनके जीवन में आदर्श अधिक और यथार्थ कम है इसके बाद तोताराम के दो पुत्र जियाराम और सियाराम तथा दो साधु हैं–सामान्य महत्त्व रखते हैं।

इस उपन्यास की भाषा-शैली सर्वत्र सहज और पात्रानुकूल है–भाषा जहाँ दार्शनिक हो गयी है, वहाँ भी पर्याप्त व्यावहारिक है। ऐसे स्थलों की भाषा प्रायः तत्संम प्रधान है (पृ० 35) दुःख की तुरीयावस्था के वर्णन को इन्होंने पाठकों पर छोड़कर उसको और गहरा बना दिया है (पृ० 36) सामान्य वर्णन में भी इनकी भाषा-क्षमता दर्शनीय है– "सन्ध्या का समय था। बाबू भालचन्द दीवानखाने के सामने आरामकुर्सी पर नंग-धड़ंग लेटे हुए हुक्का पी रहे थे। बहुत ही स्थूल, ऊँचे कद के आदमी थे। ऐसा मालूम होता था कि कालादेव है, या कोई हब्शी अफ्रीका से पकड़कर आया है। सिर से पैर तक एक ही रंग था काला। चेहरा इतना स्याह था कि मालूम न होता था कि माथे का अन्त कहाँ है और सिर का आरम्भ कहाँ। बस, कोयले की एक सजीव मूर्ति थी" (पृ० 39)

भाषा में रस का साधारणीकरण सर्वत्र हुआ है। वृद्ध पति को प्राप्तकर "निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें सौन्दर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्णा कामना से तड़प उठता था (पृ० 60) इसी तरह अनेक मनोवैज्ञानिक और यथार्थपूर्ण वर्णन हैं—'निर्मला बाँके सवार की भाँति उड़ना चाहती थी, पर पति से लाचार थी।' उसकी मनः स्थितियों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

इनकी हिन्दी में भी अनेक अरबी और फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं—शरीर—65 नीलाम–131, बिहिश्त–119, रिश्वत–177, दरकार–145, दोजख–119, शुबहा–174 नालिश–132, पैरवी–132 इसी तरह डॉक्टर, सिविलसर्जन (पृ० 119) आदि अंग्रेजी और खुचुर–63, लड़कोरी–136, जैसे बनारस के आंचलिक शब्द प्राप्त होते हैं। तमाम ग्रामीण मुहाविरों का भी प्रयोग है–'नाटो खेती बहुरियों घर-63, कुछ इनकी अनूठी उपमाएँ भी है—निर्मला = रत्न जटित विशाल भवन और तोताराम = टूटा फूटा खँडहर—पृ० 72 इसी तरह 'कँड़ा बदलना (पृ० 100) आदि चित्रात्मक पद भी हैं।

मुंशी प्रेमचन्द का अपना वैयक्तिक अनुशासन कहीं–कहीं कथा-शिल्प पर उभड़ आया है—कहीं डाँ सिन्हा, कहीं हास्टल अध्यक्ष तो कहीं हेड मास्टर के रूप में। इसी तरह कहीं कहीं ये सिद्धान्त वाक्य भी बोल जाते हे—''बड़े महान संकल्प आवेश में ही जन्म लेते हैं।'' पृ० 120। 'जिन प्रेमियों को साथ रोना नहीं नसीब हुआ, वे मुहब्बत का मजा क्या जानें ? पृ० 154।

इस रचना में प्रेमचन्द की सुधारवादी दृष्टि सर्वत्र मिलती है तोताराम कहते हैं—'आज तक वह मेरे भोग की वस्तु थी, आज से वह मेरी भक्ति की वस्तु है। (पृ० 124) दहेज प्रथा का विरोध तथा इसकी बुराइयों एवं प्रतिक्रिया को व्यावहारिक रूप से दिखलाया गया है। सुधा दहेज का खुलकर विरोध करती हैं। इसके साथ मान मनौती, देव-पूजन, पुनर्जन्म, भाग्यवाद, लक्षण, नजर-टोना टोटका, पाप, पुण्य और ईश्वरवाद में विश्वास तथा खादी के प्रति आकर्षण है। (पृ० 141) कृष्णा को जब मालूम होता है कि मेरा पति खादी धारी है तो वह विवाह के एक-दो दिन पहले से ही रात-रात भर चर्खा चलाने का अभ्यास करती है। कथा के प्रायः गलत कार्य करने वाले सभी पात्र अन्त में अपना प्रायश्चित करते हैं। कुल मिलाकर रचना गाँधीवाद और यथार्थवादी शिल्प पर चित्रित है।

इसके संवाद प्रायः छोटे-छोटे सार्थक और वैयक्तिक भावों से पूरित हैं। इनकी सीमा पात्र एवं विषयानुसार है। कुछ संवाद बड़े विनोदी हैं–जैसे मोटेराम और भालचन्द सम्बन्धी।

कथा का वातावरण आजादी के आन्दोलन के समय का है। गांधीवाद और खादी ग्रामोद्योग का समर्थन है। गाँधी जी की सुधारवादी दृष्टि का प्रभाव है। यत्र-तत्र कुछ सजीव चित्रण बहुत अच्छे बन पड़े हैं-पृ० 28,291 नये समाज भविष्य की ओर मुंशी जी का संकेत बड़ा अच्छा है—जिसके चक्कर में पड़कर लाला जी दरिद्र हो गये। कथा में एक ओर स्कूल का अनुशासनात्मक वातावरण है तो दूसरी ओर घर का दोषपूर्ण।

इस तरह हम देखते हैं कि मध्यम वर्गीय समाज की संस्कृति, सभ्यता, परम्परा और असलियत को उसी के सामने रख देना ही कृतिकार का प्रमुख उद्देश्य है। मुंशी जी का हृदय बड़ा ही विशाल था। त्याग, प्रेम, सदाचार, परोपकार, और दया जैसे धर्म के सिद्धान्तों पर ही उनका जीवन-दर्शन आधारित था—जो कृति में भी किसी-न-किसी रूप में उतर आया है। धरती की मूल संस्कृति को समृद्ध करना वे अपना तथा अपनी कृति का परम उद्देश्य समझते थे जो परम सराहनीय है।

———

प्रेमचन्द जी उपन्यास सम्राट कैसे हुए

मुरारी लाल केडिया *

यह तो बहुत से लोग जानते होंगे कि हिन्दी पुस्तक एजेन्सी (कलकत्ता) के संचालक श्री बैजनाथ जी केडिया ने ही सबसे पहले प्रेमचन्द जी की कहानियाँ एवं उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित किए । श्री बैजनाथ जी केडिया प्रमचन्द जी से मिलने के लिए वाराणसी पधारे थे और वाराणसी के नीलकण्ठ मुहल्ले में श्री लाल बिहारी सेठ के यहाँ उस कमरे में ठहरे हुए थे जिसमें कभी भारत जीवन प्रेस चलता था । प्रेमचन्द जी उस समय वाराणसी के पिसनहरिया मुहल्ले में रहा करते थे । उन्हें प्रेमचन्द जी से मिलाने हिन्दी के वयोवृद्ध एवं सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ले गये । बातचीत हो जाने के अनन्तर पंचपरमेश्वर, सप्तसरोज, नव निधि कहानियों के संग्रह, सेवा सदन, प्रेमाश्रम आदि उपन्यास वहाँ से प्रकाशित हुए । हिन्दी पुस्तक एजेन्सी का एक प्रेस भी कलकत्ता में था जिसका नाम वणिक प्रेस था । उसके मुद्रक थे श्री महावीर प्रसाद जी पोद्दार । पोद्दार जी प्रेमचन्द जी की ये रचनाएं बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरद् बाबू को पढ़ने के लिए दिया करते थे । एक दिन शरद् बाबू से मिलने के लिए श्री पोद्दार जी उनके घर गये तो शरद् बाबू अपनी बैठक से घर के भीतर गये हुए थे । इस अन्तराल में श्री पोद्दार जी ने देखा कि बैठक में जो पुस्तक वे पढ़ रहे थे वह प्रेमचन्द जी का कोई उपन्यास (सम्भवत: सेवासदन) था जो बीच में से खुला हुआ था । कुतूहलवश जब उसे उठा कर उन्होंने देखा तो उन्हें दिखाई पड़ा कि खुले हुए पृष्ठ के एक पार्श्व पर शरद् बाबू ने 'उपन्यास सम्राट' लिख रखा है । इसे देख कर वे बड़े आनन्दित हुए और वहाँ से लौटने के अनन्तर अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाली प्रेमचन्द जी की कृतियों में एवं उनके विज्ञापनों में प्रेमचन्द जी को वे 'उपन्यास सम्राट' लिखने लगे ।

इस वार्त्ता से यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगला के महान् उपन्यासकार शरद् बाबू की दृष्टि में प्रेमचन्द जी का स्थान कितना ऊँचा था । यह वार्ता श्री महावीर प्रसाद जी पोद्दार के सुपुत्र एवं प्रसिद्ध समाजसेवी श्री सीताराम जी से सेकसरिया के जामाता श्री परमानन्द जी पोद्दार ने बताई है । प्रेमचन्द शताब्दी के अवसर पर इस महत्त्वपूर्ण वार्ता को मैं जिज्ञासुओं के लाभार्थ प्रकाशित कर रहा हूँ ।

---

* नन्दन साहूलेन. वाराणसी

———

बंगला के प्रख्यात कथाकार विमल मित्र की दृष्टि में प्रेमचन्द :

प्रियवर केडियाजी,

आपके द्वारा प्रेषित 'प्रेमचन्द की जीवन झाँकी' पढ़कर मुझे बहुत लाभ हुआ। प्रेमचन्द जी के प्रति मेरे मन में हमेशा ही भक्ति रही है। उनकी जीवन झाँकी पढ़कर यह भक्ति और भी बढ़ गई। लेखकों की जीवनी पढ़ने का मुझे नशा है। पृथ्वी के जितने भी बड़े-बड़े लेखक हैं, उन सबों की जीवनी मैंने पढ़ी है। कारण यह कि वे जीवनियाँ अंग्रेजी भाषा में लिखी हुई थीं। प्रेमचन्द का दुर्भाग्य था कि वे हिन्दी या उर्दू लेखक थे। अगर वे किसी पाश्चात्य भाषा के लेखक हुये होते तो उनका सही मूल्यांकन होता। मैं ओ हेनरी, चेखव, मोपासाँ और समरसेट माँम आदि दुनिया के जो भी बड़े-बड़े छोटी कहानियों के लेखक हैं, उनकी तमाम छोटी कहानियाँ पढ़ चुका हूँ। लेकिन प्रेमचन्द को मैं उनकी कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' के लिये सबसे बड़ा कहानीकार मानता हूँ। वैसी सामाजिक चेतनात्मक कहानी मैंने जीवन में कभी पढ़ी नहीं। वह कहानी मैंने आज से लगभग चालीस साल पहले (बंगला अनुवाद) पढ़ी थी। लेकिन उनकी जीवनी मैं अभी तक पढ़ नहीं पाया था। आपने मुझे प्रेमचन्द के सम्बध में जो किताब दी थी, उसमें भी वे सारी बातें नहीं थीं। आप प्रेमचन्द के बारे में इतना जानते हैं यह भी मुझे मालूम न था।

साहित्य के लिये आपका यह अवदान किसी बहुप्रचारित पत्र में भी छपना चाहिये। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रेमचन्द के सम्बध में जो लेख छपे थे, उन्हें मैं पढ़ चुका हूँ। लेकिन आपके द्वारा प्रस्तुत जीवन झाँकी में जो सामग्री है, उसे पढ़कर मेरे मन में प्रेमचन्द की इमेज और भी बड़ी हो गई। कारण, उनका त्याग उनका दुःख वरण और उनका संग्राम मेरे लिये आदर्श बन गये हैं।

आपका
विमल मित्र
कलकत्ता

श्री मुरारीलाल केडिया के सौजन्य से

———

प्रेमचन्द साहित्य में भारतीय जीवन

कु० पुष्पा अवस्थी *

प्रेमचन्द का साहित्य अपने युग का प्रतिविम्ब तो है ही और आने वाले युग की प्रसव वेदना भी। मनुष्य देशकाल के आँगन में जन्म लेता है और उसी में उसका जीवन विकसित होता है। प्रेमचन्द की लेखनी से पर पीड़ा आत्मपीड़ा में समाहित होकर प्रसूत और प्रवाहित हुई है।

प्रेमचन्द जी ने भारतीय जीवन का समग्र चित्र अंकित किया है। भारतीय समाज के प्राय: सभी वर्गों ग्रामीण तथा नागरिक जीवन के यथार्थ पहलुओं, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याओं का कलात्मक निरुपण किया है। तत्कालीन सामाजिक जीवन, विभिन्न प्रकार की कुरीतियों, असंगतियों तथा विकृतियों से दूषित था। उसमें अनेकों समस्याएँ विद्यमान थीं। वह उनसे छुटकारा पाने के लिए विकल था। उसके लिए अनेक समाजसुधारक प्रयत्नशील थे और दूसरे इस युग के साहित्यकार। प्रेमचन्द इन सबके पथ प्रदर्शक बने। आलोच्य युग के सुधारवादी जीवन में संयुक्त परिवार को झटका लगा। वर्ण व्यवस्था में दरार आयी। नारी के अधिकारों का आँचल भरा। इन सबका स्पष्ट उल्लेख प्रेमचन्द के साहित्य में है।

साहित्य में युगप्रबर्त्तक प्रेमचन्द की दृष्टि, गगनचुम्बी महलों की ओर न जाकर, सबसे पहले झोपड़ियों की ओर गयी। उन्होंने टपकती झोपड़ियों में पुआलों पर पड़ी तड़पती हुई आत्माएँ देखीं। फटे चीथड़ों में सरल और स्वाभाविक यौवन के, सौष्ठव का अनुभव किया। निर्धनता की चक्की में पिसने वाले दीन जनों में भी महलों की पीर पायी। विषय वस्तु के आधार पर प्रेमचन्द के उपन्यासों की कुछ आलोचकों ने दो भागों में विभक्त किया है—सामाजिक उपन्यास और राजनीतिक उपन्यास। सामाजिक उपन्यास हैं—वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, निर्मला, कायाकल्प, गबन। राजनीतिक उपन्यासों के नाम हैं—प्रेमाश्रम कर्मभूमि, रंगभूमि, गोदान और मंगल सूत्र (अधूरा)। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अगर देखा जाय तो सबमें भारतीय समाज की सरिता प्रवाहित है।

प्रेमचन्द जी व्यक्ति के माध्यम से समाज का चित्रण करते हैं। जैसा हर साहित्यकार करता है। 'वरदान' उपन्यास प्रेमसूत्रों को लेकर विकसित हुआ है। 'प्रेमा' उपन्यास में विधवा समस्या पर संतुलित दृष्टि डाली गयी है। 'सेवासदन' में दहेज प्रथा के दुष्परिणामों का उद्घाटन हैं। 'निर्मला' उपन्यास में दहेजप्रथा के साथ-साथ अनमेल विवाह के दुष्परिणामों पर विस्तार पूर्वक विचार हुआ है। 'कायाकल्प' उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने प्रेम और विवाह के अनेक रूपों और उनके उद्देश्यों के चिरन्तन समस्या को उठाया है। वे नर नारी के प्रेम को आदर्श के रूप में देखने को इच्छुक हैं। 'गबन' उपन्यास में संयुक्त परिवार

* हिन्दी प्रथम वर्ष (एम. ए) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

की समस्या ब्रिटिश साम्राज्य में पुलिस की धाँधली का पर्दाफाश है। 'गोदान' तो भारतीय समाज का सूक्ष्म और विस्तृत आख्यान ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द जी के कथासाहित्य में तत्कालीन समाज पूर्णरूपेण आच्छादित है। अन्तर सिर्फ इतना है कि कहीं सिर्फ बादल का कतरा है तो कहीं भारतीय समाज की समस्याओं के घनघोर मेघ।

प्रेमचन्द जी की कल्पना शक्ति ने अपने आँगन में समाज के पात्रों को जीवन्त अभिनय करने की छूट दी है। उनका कथासाहित्य जीवन के अहसासों की रेखाओं से कल्पना करने पर मूर्तिमान हुआ है। उनके साहित्य के कथानक को स्थूल रंगरूप देने में जितनी कल्पना चाहिए बस प्रेमचन्द के साहित्य में उतनी है। उनकी कल्पना छायावादी रचनाकारों की तरह पंख लगाकर नहीं उड़ती है अपितु धरती से उपजी कल्पना धरती में ही पल्लवित होती है। 'गोदान' का होरी अन्ततोगत्वा अन्याय से समझौता कर लेता है और घुटने टेक देता है पर 'गोदान' के होरी का घुटने टेकना समाज सुधारकों के सामने एक सवाल खड़ा कर देता है।

धर्म और साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित प्रेमचन्द जी के साहित्य में जिस समाज का चित्रांकन हुआ है वह यथार्थ है सूरज की तरह सच है। भारतीय समाज में जिस तरह दो सिद्धान्तों के लोग अपने-अपने सिद्धान्तों के पोषण निमित स्वयं को वर्गों में बाँट लेते हैं। चकबन्दी कर लेते हैं। इस समस्त प्रक्रिया को प्रेमचन्द ने इतने करीब से अपने साहित्य में सजाया है कि सत्यं शिवम् सुन्दरम् की वह प्रतिमूर्ति बन गया है। प्रेमचन्द के भारतीय जीवन का सत्य, नब्बे प्रतिशत जन जीवन के अहसासों का सत्य है। उनका सत्य यथार्थ के कठोर धरातल पर खड़ा है। कल्पना के हवा महल पर नहीं। इन सबको प्रेमचन्द जी ने इतने अधिकार के साथ प्रस्तुत किया है कि वह सत्यमेव जयते का सा आभास तो देता ही है, स्पष्ट घोषणा करता है एक निष्पक्ष वकील की तरह।

प्रेमचन्द जी के साहित्य का प्रबुद्ध वर्ग उनकी इस आस्था को व्याख्यायित करता है कि—भगवान और धर्म मन का भूत है। जो इन्सान को कमजोर कर देता है, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गोदान के मेहता प्रबुद्ध समाज के प्रतिनिधि हैं और प्रेमचन्द के प्रतिविम्ब कर्मभूमि के जमींदार महन्त आशाराम धर्म की आड़ में जो गुल खिलाते हैं वह प्रेमचन्द के पूर्व से इस समाज में खिलते आये हैं और खिलते रहेगें। समाज के ऐसे धर्मोपजीवी कीटाणु प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि और स्पष्ट वादिनी लेखनी से बच न सके। इसके अतिरिक्त धर्म और साम्प्रदायिकता का पोषण करने वाला मध्यम और निम्न वर्ग है जो अपना पोषण तो कर नही पाता पर शोषकों के निर्देशन से धर्म वल्लरी विकसित करता है। धर्म के अटूट विश्वास पर ही अपनी घृणित जीवन स्थिति को भी नियति और भाग्य मानकर ईश्वर की अर्चना करते हुए सन्तोषपूर्वक जीवन बिताता है।

प्रेमचन्द का युग भारतीय नारी के उत्थान का युग था। प्रेमचन्द जी ने अपने कथा-साहित्य में नारी जीवन के हर पहलू को चित्रित किया है। नारी जीवन के सन्दर्भ में सामाजिकता का आधार परिवार से होता था। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में प्रमुख पात्रों

के पारिवारिक जीवन के चित्र दिये हैं एक सीमा तक प्रेमचन्द पारिवारिक जीवन के प्रति मोहग्रस्त भी रहे। जिसका प्रमाण इनके उपन्यासों की लम्बी शृंखला है। उनका हर पात्र पारिवारिक दीवारों से घिरा है। संस्कारों से बँधा है। परिणामतः धार्मिक, सामाजिक और नैतिक बन्धन की जकड़न में कसमसा उठता है, तब प्रेमचन्द निर्देशन देते हैं। प्रेमचन्द के निर्देशन देने के पूर्व तक उनके सम्पूर्ण साहित्य में भारतीय जन जीवन का संघर्ष वर्णित है।

प्रेमचन्द के युग में स्त्रियाँ उन समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित थीं, जिनके बिना स्त्री जीवन पशुवत था। नारी की समाज में जितनी भूमिकाएँ होती हैं वह सब प्रेमचन्द के साहित्य में अभिनीत है। 'सेवासदन' और 'निर्मला' में घोषणा है कि पति की आज्ञा बिना पत्नी के घर से बाहर रहने पर निर्वासित की जा सकती थी। 'निर्मला' अनमेल विवाह की नृशंसता का मौन वर्णन करती है। स्त्री जीवन की इन त्रासदियों के बीच शिक्षित स्त्रियाँ, सहज ही पाश्चात्य जीवन पद्धति की ओर आकृष्ट हो जाती थीं। पश्चिम की नारी स्वाधीनता उन्हें प्रभावित करती थी। परिणामतः विवाह प्रथा एवं सामाजिक रूढ़ियों पर से उनका विश्वास डगमगाने लगा था। मिस पद्मा उसकी दो सखियाँ और मालती आदि ऐसी ही नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस तरह की स्त्रियों के संकट दूसरे तरह के होते थे। उनकी उदारता का लाभ उठाकर पुरुष उन्हें शोषण चक्र में फाँसते थे नारी के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण एवं व्यवहार के द्वैत को प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी है। प्रेमचन्द के नारी सम्बन्धी विचार उनके जीवन अनुभव से निःसृत हुए हैं। एक ओर वे नारी की तात्कालिक स्थिति से विकल थे और उसे बदलने के लिए कटि-बद्ध थे। वही दूसरी ओर वे नारी मुक्ति के पश्चिमी आदर्श के प्रति शंकालु भी थे। प्रेमचन्द आदर्श और त्याग की स्थापना करते हैं आदर्शवाद उनकी अवैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम है।

वेस्क्रोवनी के शब्दों में—"भारतीय साहित्य में भारतीय जीवन की सही जिन्दगी की जीती जागती और बोलती हुई तस्वीरें देने वाले वे पहले लेखक हैं" शब्द स्पष्ट घोषणा करते हैं, कि उनके साहित्य में भारतीय जीवन अपनी समग्रता में जन जीवन की मन: स्थिति और समस्याओं के साथ उतरा है। उस समय में समस्याएँ ही मकड़ी के जालों की तरह दीवार में लगी हुई थीं इसलिए इनके साहित्य में भी समस्याओं से ग्रसित कथानक और पात्र हैं क्योंकि—साहित्य कालजयी होता है और समयानुकूल परिस्थितियों के गर्भ से पैदा होता है।

डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं कि—"प्रेमाश्रम और कर्मभूमि के साथ, गोदान हिन्दुस्तान के किसानों की बृहत्‌त्रयी समाप्त करता है।" इससे स्पष्ट है कि भारतीय ग्रामीण जीवन उसकी आह, कराह, सब इनके साहित्य में संवेदित है। मुक्तिबोध कहते हैं–"प्रेमचन्द उत्थानशील भारतीय सामाजिक क्रान्ति के प्रथम और अन्तिम महान कलाकार हैं" इस विषय पर विचार करने से स्पष्ट है कि उनके साहित्य में भारतीय समाज अपनी भावनाओं, सिद्धान्तों, आदर्शों को लेकर उतरा है। रमेश कुंतल मेघ लिखते हैं—"सामाजिक समझ तथा सामाजिक विश्लेषण के औजारों के रूप में उन्होंने उपन्यासों की संरचनाएँ गढ़ी। प्लॉट उन संरचनाओं के औपन्यासिक कूट हैं"।

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि उनका उद्देश्य सामयिकता और देशकाल की सीमा से परे नहीं था। उनका साहित्य पाठक को भारतीय जीवन की गहरायी में ले जाने में समर्थ है। उनका साहित्य सामयिकता की सतह को छूता है। प्रेमचन्द जी के सभी उपन्यास एन केन प्रकारेण सामाजिक उपन्यास की ही कोटि में आते हैं 'गोदान' की साहित्य साधना इस बात का साक्ष्य है कि उन्होंने जिन्दगी की चुनौतियों को साहस के साथ स्वीकारा और समय के एक-एक तेवर को पहचानते हुए उन्हें अपनी रचनाओं में इस तरह प्रस्तुत किया कि वे उस समय और उस जिन्दगी के प्रामाणिक दस्तावेजों के रूप में अपनी पहचान बना सकीं। आपका साहित्य आज के हिन्दुस्तान की जीती जागती हकीकत है। प्रेमचन्द ने हमारे समाज के शोसक और शोषितों के बीच चल रहे नेपथ्यीय कारनामों को बड़ी ही निपुणता के साथ, साहित्य के रंगमंच पर एक अनुभवी सूत्रधार की तरह पाठकों को मन्त्रमुग्ध करते हुए अनावृत किया है और अपने पात्रों के माध्यम से कथानक गढ़ कर नवजागरण की चेतना जगायी है।

प्रेमचन्द के साहित्य पर हर छोटे बड़े आलोचक ने अपनी दृष्टि डाली है उनके साहित्य के बर्तन में, अपनी आलोचक लेखनी का चमचा घुसाया है और उसके स्वाद और रंग को अलग निकालकर, ठंडाकर अपनी-अपनी दृष्टि से आँका है। फिर भी आलोचकों की दृष्टि कहीं-कहीं ठेकेदार सी प्रतीत होती है। ऐसे में कथा सम्राट के साथ अन्याय सा हो जाता है। कुछ आलोचक इनके उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहते हैं तो कुछ आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी। पर सही अर्थों में इनका उपन्यास साहित्य न तो यथार्थवादी है और न आदर्शवादी यह वह है जो भारत है। भारतीय जीवन है। भारतीय समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक आदर्श को लेकर जीता है। इसलिए प्रेमचन्द के पात्र आदर्श को लेकर जिए हैं। उनका कथा-साहित्य जनता के सीने में चिपके आदर्शवादी यथार्थवादी दृष्टिकोण से निर्मित हुआ है। जनता की तात्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, मानसिक परिस्थितियों के अंकन से बना है। फिर तो साहित्य समाज का दर्पण है इसे विस्मृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रेमचन्द का साहित्य इसका जीवित प्रत्यक्ष प्रमाण है।

———

Premchand and Charles Dickens : A Comparative Study

Dr. R. K. Asthana *

Novel has been regarded as the most democratic form of literature. Traditionally, epic, drama, and poetry deal with the illustrious and the noble. The common man has no place in them. The novel, which came to its own in the eighteenth century, had to celebrate the common man as its subject most enthusiastically, and this was the cause of its wide popularity. Its theme became human predicament on this earth with all its hopes and aspirations, successes and failures, strength and weakness, to be conveyed through a language which the common man could understand.

Charles Dickens (1812) and Munshi Premchand (1880), the two great novelists of the world, although divided by more than half a century strike common grounds as creative writers. Certain contrasts are also there resulting inevitably from different artistic temperaments.

Both the novelists who commanded amazing popularity in their times were concerned with the people and the problems of their age. Born in poverty, both of them were familiar with the poor, oppressed, and downtrodden community, its agonies and pains. Naturally it is this class which invites their creative energy most sympathetically. Dickens through his novels like *Pickwick Papers*, *Oliver Twist*, *Martin Chuzzlewit*; *David Copperfield*, *Hard Times*, and *Great Expectations*, delineated vividly a society of his time which was under the sharp impact of industrial revolution. The helplessness of an orphan, the exploitation of the poor by the industrialists, the law's delay and sometimes its cruelity, the social discrepencies and the heartlessness of people engaged the creative power of Dickens, and he became the champion and spokesman of of the proletariat. He felt the pulse of the people and this was the secret of his great pohularity.

Premchand was horn at a time when the Indian society seething with discontent against a foreign rule, was faced with problems to which the political set up of the time had no reply. His novels like *Sevasadan*, *Nirmala*, *Rangbhoomi*, *Karmbhoomi*, *Godaan*, and *Premashram* offer a close study of the issues like the alienated individual, the upliftment of women, the oppression of the peasants and harijans by landlords, and the interaction of the rural and urban culture.

---

* Deptt. of Basic sciences I. T. B. H. U.

It is significant to note that Dickeos as well as Premchand possessed historical imagination of a high order. Dickens in his novel *The Tale of Two Cities*, and Premchand in his short story *Rani Sarandha* transport us to a bygone age and its values, Although *Rani Sarandha* lacks the panoramic sweep of *The Tale of Two Cities*, it is more concentrated in effect. Through fast action and quick changing magnificent scenes of feudal times it brings before us vividly the heroism and sacrifice of the people of Bundelkhand for the sake of their honour. Premchand had in him the potentiality of a a great historical novelist, and had he decided *Rani Sarandha* would have been one of the masterpieces of historical fiction.

Mostly these novelists are concerned with the social reality of their times which they feel committed to portray with fidelity. It is the erring mankind, struggling for a better tomorrow which forms their vision of life, but their creative imaginations follow different modes of apprehending reality.

Dickens's creative imagination has been compared to a distorting glass. He sometimes magnifies, exaggerates, and at other diminishes in the interest of caricature for which he has a special knack. Humour is the most important trait of his creative genius. Premchand on the other hand renders reality with utmost fidelity to nature. There is no overdoing or underdoing of the phenomena he observes. He always aims at lifelikeness. He is not devoid of humour, but whereas Dickens moves one to uproarious laughter, he makes one smile and feel gently amused. Dickens's imagination is apt to run riot while dealing with pertsons, events, and objects. Premchand holds his creative imagination in proper restraint moving with slow pace to a desired effect.

The fundamental difference in their creative imaginations accounts for their different ways of getting at character, which unanimously is the most important aspect of a novel. Although both these novelists have created a galaxy of living characters, the alchemy they have used for it is markedly different. Dickens, who was interested in cartoons, in caricatures, emphasises the externals of his characters. How a character looks was to him as important as what he does. His characters remain in our memory by their looks as well as behaviour. Premchand is not much interested in the appearance of his characters. It is what they do and think which is more important for him. Bringing them before our visual imagination with few descriptiye strokes, he makes us see them, think and act in circumstances which destiny has made them face. It is the interior landscape of his characters which lures him. The

reader is fascinated by the close study of the psyche which the novelist offers. Whereas most of Dickens's characters are flat, sie., lacking growth and hrogression, Premchands are round, i.e., having development and change in their personality. He was interested in following human personality in the maze of complex situations. His major characters are involved in taking decisions which require musteringup of their entire emotional, moral, and human resources. The novelist presents their mental conflicts, uncertainties, and emotional stresses with a power which has been seldom equalled. Although he is not interested in modern 'psychoanalysis', he makes the spring of the action of his characters sufficiently clear to his readers. The characters of Dickens stick to our memory by certain fixed attributes affixed to them. They are types lacking universality. The characters of Premchand are universals and impress us by the totality of their being. Hori, Gobar, Dhania, Nirmala, and Prem Shanker are characters whom one simply cannot forget.

The tendency to exaggerate leads Dickens to an overdoing of feelings and sentiments. He has been accused of wallowing naked in pathos. He makes deliberate effort to extract tears from his readers. There are scenes in his novels where the artifice becomes too obvious add one refuses to be moved. Premchand shows more maturity in the treatment of shades of feelings and sentiments. He has an intuitive perception of the extent to which a harticular situation can be worked upon for natural effect. As a result emotional situations or scenes of pathos in his novels are highly moving.

Dickens and Premchand both had tried their hands in drama, and they have used the skill of dramatic art successfully to the advantage of novel. If Dickens excels in providing the action in his novels rich scenic background, Premchand scores equally well in using appropriate dialogues. One wishes only that the acquaintance of these great novelists with drama had made them better craftsmen with the plots of their novels which suffer sometimes from looseness and prolixity.

Premchand may have limitations as a novelist so far as its art aspect is concerned, but as a short-story writer he is immaculate. His stories (about three hundred in number) are like fine paintings on small pieces of ivory where every touch is calculated. They are organic in nature where hlot is conceived in character. His stories like "Dooji", "Poosh Ki Raat", "Thakur Ka Kuwan", "Budhi Kaki", and "Bare Bhai Sahab" are literary pieces of rare artistic finish.

There is a common charge of critics against both these novelists. They are accused of sometimes sacrificing truth to popular taste or poetic justice. Dickens in *Great Expectations* got Pip married to Estella at the end of the novel in deference to the demand of the people for conventional happy ending. Artistically Pip should have been left a solitary figure. Premchand in his story "Namak Ka Daroga" gets Banshidhar rewarded at the end for his honesty in the interest of poetic justice which we seldom get in real life. This can be explained with reference to these novelists' positive faith in the goodness of life. For no reason would they like us to be cynical towards life even if they have to make compromise with the claims of art.

Both these great novelists, who drank deep at the fountain of life, before transferring it into their pages, have the distinction of being most democratic in their vision. It is the fate of the common man which concerns them most. They have unbounded sympathy for the oppressed and the weak, and it is this class which speaks to them most. Although fully cognizant of the failings of their times, they never question the sanctity of life and its values. They believe that man by definition being imperfect deserves our sympathy than scorn. George Eliot observed that art extends the range of our sympathy to our fellowmen beyond the bounds of our personal lot. No other novelists exemplify this definition of art better than Dickens and Premchand. Like great classics their novels have stood the test of time, and they will continue delighting generations yet unborn.

———

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।

3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India.

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country: and

4. To promote building up of chracter in youth by religion and ethics as an integral part of education.

जयन्ती प्रेस एण्ड प्रकाशन, बी 2/262 एच, भदैनी, वाराणसी।